ाद-पुस्तकमाला की सत्ताइसवीं पुस्तक

हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ

सम्पादक -

श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

(सम्पादक--'देशदूत')

प्रकाशक—

प्रमोद पुस्तकमाला

यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

म वार]   सन् १९४५ ई०   मूल्य ५)

प्रकाशक—

पं करुणाशंकर शुक्ल

प्रमोद-पुस्तकमाला, यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद।

—[०]—

मुद्रक—

पं करुणाशंकर शुक्ल

प्रमोद प्रेस, यूनीवर्सिटी रोड, इला।

सस्नेह

हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ

शुभ-सन्देश

यदि आपको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की किसी परीक्षा अर्थात् उत्तमा, मध्यमा, प्रथमा (साहित्य-रत्न, विशारद, एडवांस) की परीक्षाओं के लिये अथवा प्रवेशिका, विद्याविनोदिनी, विदुषी, सरस्वती आदि हिन्दी की किसी भी परीक्षा की पाठ्य-पुस्तकें अथवा साहित्यिक, राजनैतिक, धार्मिक, उपन्यास, कहानी-संग्रह आदि की आवश्यकता हो तो हमको अवश्य लिखें। हमारे यहाँ सभी जगह की पुस्तकें रहती हैं और उचित मूल्य पर वी० पी० से भी भेजी जाती हैं। साथ ही जो लोग किसी भी परीक्षा की सभी पुस्तकें हमसे खरीदते अथवा वी० पी० से मँगाते हैं यदि वे चाहें तो उनका नाम हम स्थायी ग्राहकों की सूची में लिख सकते हैं और उनको हमारे यहाँ की प्रकाशित सभी पुस्तकों पर २५ प्रतिशत कमीशन मिल सकता है।

कृपया आर्डर देते समय इसका ध्यान अवश्य दिलावें जिससे कमीशन काटने में गलती की सम्भावना न हो।

नोट—लाइब्रेरियों तथा बुकसेलरों को विशेष सुविधायें दी जाती हैं।

सूचीपत्र मुफ्त भेजा जाता है।

प्रमोद पुस्तकमाला, द्वारा प्रकाशित पुस्तकें—

१ हिन्दी की कहानी लेखिकाएँ और उनकी कहानियाँ—ले 'गिरीश' ३)
२ हिन्दी काव्य की कलामयी तारिकाएँ—सम्पादक-'व्यथित हृदय' ३॥)
३ महादेवी वर्मा—लेखक श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय, एम० ए० १॥)
४ प्रयोग कालीन 'बच्चन' लेखक श्री सत्यप्रकाश 'मिलिन्द' १)
५ आधुनिक कथा साहित्य लेखक पं० गङ्गाप्रसाद पाण्डेय एम० ए० २)
६ कर्णफूल (कविता) लेखक नरेन्द्र शर्मा, एम० ए० १)
७ समाधि-दीप ,, लेखक चन्द्रप्रकाश वर्मा 'चन्द्र' एम० ए० १।)
८ पर्णिका ,, लेखक श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय, एम० ए० ॥=)

९ लालिमा (उपन्यास) लेखक भगवती प्रसाद वाजपेयी २)

१० प्रतिज्ञा-पूर्ति ,, लेखक रामकृष्ण वर्मा, एल० एल० बी १)

११ पितृभूमि ,, लेखक श्री राजबहादुर सिंह ।।।)

१२ व्यवधान ,, लेखक रायदुर्गाप्रसाद रस्तोगी "आदर्श" १।।)

१३ बहिन जी ! ,, लेखक महावीर प्रसाद "प्रवासी" बी० ए० १।।)

१४ स्त्री का हृदय ,, लेखक ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' १।।)

१५ मज़दूर नेता (उपन्यास) लेखक श्री इन्द्रजीत नारायण राय, एम० ए०)

१६ जीवित-समाधि ,, लेखक अनन्तप्रसाद विद्यार्थी बी० ए० सम्पादक 'देशदूत' १।।)

१७ जीवन के सपने (कहानी संग्रह) ,, २)

१८ ग्रामीण जीवन के चित्र ,, ,, ,, १।।)

१९ कन्या प्रबोधिनी भाग १ श्री शान्ता देवी ।=)

२० कन्या ,, ,, २ ,, ।।।)

२१ नवयुवतियों को क्या जानना चाहिये ? लेखिका श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर २।।)

२२ आकाश पाताल की बातें—लेखक पंडित भगवतीप्रसाद वाजपेयी ।=)

२३ बाल-बाँसुरी लेखक श्री रामलखन त्रिपाठी ।=)

२४ बालकों का शिष्टाचार लेखक पंडित भगवतीप्रसाद वाजपेयी ।=)

२५ भूगोल प्रवेशिका भाग १ लेखक श्री राजाराम ।।=)

२६ उपहार कहानी संग्रह—लेखक महमूद अहमद 'हुनर' २)

२७ हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ----सम्पादक श्री ज्योति प्रसाद मिश्र, निर्मल ५)

२८ अभिलाषा (उपन्यास) लेखक दीनबन्धु पाठक १)

२९ अभिमान ,, लेखक श्री ज्योति प्रसाद मिश्र, निर्मल २)

श्री गोपालराम गहमरी

जन्म — रचनाकाल

संवत् १९१३ — संवत् १९३३

[जन्म संवत् १९१३ विक्रमी। आप गहमर, जिला गाजीपुर के रहने वाले हैं। आज कल काशी में निवास करते हैं। हिन्दी के प्राचीन कहानी तथा उपन्यास लेखकों में आपकी गणना होती है। 'जासूस' नामक मासिक पत्र का संपादन करते हैं। आपने जासूसी कहानियों तथा उपन्यासों की रचना करके हिन्दी-साहित्य के भाण्डार की अपूर्व वृद्धि की है। इस समय तक आपकी रचनाओं की संख्या लगभग ३०० के है। आपको भाषा, सरल सुबोध, आकर्षक और मनोरंजक होती है। गहमरी जी की रचनाओं से हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने की ओर लोगों की रुचि विशेष रूप से बढ़ी है और उसके प्रचार और प्रसार में बड़ी सहायता प्राप्त हुई है। आप में साहित्य सेवा की अद्भुत लगन है। पिछले ५० वर्ष से अधिक समय से आप अनवरत गति से साहित्य-सेवा कर रहे हैं। आपके द्वारा साहित्य के एक विशेष अङ्ग की पूर्ति हुई है। आप बड़े सरल, सज्जन और मिलनसार हैं।

आपकी रचनाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उसमें से यह चुनाव करना कठिन है कि कौन सी सर्वश्रेष्ठ है किन्तु 'माल-गोदाम में चोरी' कहानी आपकी रचना-कौशल, तथा कहानी-प्रगति का एक सुन्दर उदाहरण है]

—:*:*:*:—

मालगोदाम में चोरी

(१)

आज डुमराँव स्टेशन से राजप्रासाद तक बड़ी धूम है। ट्राफ़िक सुपरिन्टेन्डेन्ट के दफ्तर से तार-पर-तार चल रहा है। दीनापुर से डुमराँव तक सिग्नेलरों का नाकोंदम है। एक ख़बर (मेसेज) फ़ारवर्ड होते देर नहीं कि दूसरी के लिये तारबाबू टेलीग्राफ़-इन्स्ट्रूमेण्ट पर रोल करते हैं। डी० टी० एस० के आफ़िस से एक को मंसूख करने वाला, दूसरा फिर उसको कैंसल करने वाला, तीसरा, इसी तरह लगातार आर्डरों का तार लग रहा है। होते-होते कोई बीस घण्टे के बाद ट्राफ़िक सुपरिन्टेन्डेन्ट के यहाँ से स्टेशन-मास्टर को तार आया कि मालगोदाम जैसे का तैसा बन्द रखो, जासूस जाता है बस अब सब लोग अपने मन की घबराहट मन ही दबाये जासूस की राह देखने लगे।

इधर नगर में कोलाहल मचा। बिसेसर हलवाई अपनी दूकान पर बैठा पंखे से मगदल की मक्खी हाँकता हुआ कहने लगा—"दादा, इसी टेसन में मिठाई बेचते बाल पके, लेकिन ऐसी चोरी किसी बाबू के बखत में नहीं हुई। ताला-चाभी सब बन्द-का-बन्द और भीतर से गाँठ गायब !"

मगदल ख़रीदने वाला कहता है—"कहो बिसेसर ! जब चाभी बाबू के पास रही, तब दूसरा कौन चुरा सकता है ?"

हलवाई—"चाभी रहती है तो क्या बाबू पहरा देते हैं ! अरे, जब गाड़ी आई, पसिंजर से पार्सल उतरा, तभी खलासी चाभी उनसे माँग लाता है और आप खोल कर पार्सल रखता और बन्द करके चाभी बाबू के हवाले करता है। खलासी अगर निकाल ले, तो बाबू लोग क्या करेंगे ?"

ग्राहक—"लेकिन भई, लोग कहते हैं मन भर से भी कम की गठरी थी, तब उसमें पाँच हज़ार के कपड़े कैसे बन्द थे !"

दूकान के सामने ही कड़ाही मलता हुआ मुसवा कहार आँख बदल कर और हाथ मटका कर कहता है—"अरे तुम भी बच्चू हो कि आदमी! गाँठ में हमारे तुम्हारे वास्ते खारुआ मारकीन थोड़े रहा। महाराज के घर सादी है, कलकत्ता से रेसमी कपड़ा, साल दुसाला, लोई अलुवान उसमें चलान हुआ रहा कि खेल है। कितने ही हज़ार का तो उसमें रेसम भरा रहा।"

हलवाई—"अरे हज़ार-लाख पर कुछ अचरज नहीं, न चोरी जाना अचरज है। बात यह कि बाहर से ताला बन्द-का-बन्द और भीतर गाँठ नदारद है! उस रोज़ बाबू कहते हैं रात की पसिजर से एक सन्दूक और गाँठ दो ही तो उतरा था। उस घर में और कोई माल नही था। लेकिन सबेरे देखा गया तो उसमें से कपड़े की गाँठ नदारद है और सन्दूक जैसी की तैसी जहाँ की तहाँ पड़ी है। जहाँ गाँठ थी वहाँ कुछ खर, कुछ ईंट और एक लम्बा पत्थर पड़ा मिला!

इतने में एक दाई माथे पर जल भरा घड़ा लिये हलवाई की दूकान में आई और सिर से उतारते-उतारते बोली—"ए दादा, कवन सा पुलुस वाला बड़ा साहब आया है। सब सिपाही दरोगा उसके आगे हाथ जोड़ कर सलाम करने गये हैं। कुलदिसवा कहत रहा कि कलकत्ता से पुलुस का बड़ा साहब आया है। यही सब का मालिक है। उधिर महल में मारे अमला फैला के खमखम हो रहा है।"

बिसेसर—"अरे नहीं रेपगली! जासूस आने को रहा वही आया होगा। अभी मालगाड़ी गई है न, उसी में आया होगा। कल सबेरे ही उसके आने की खबर आई रही।"

ग्राहक—"जासूस कैसा?"

बिसेसर—"जासूस लोग यही पुलिसवाले होते हैं। यहाँ की यह पुलिस जैसे वरदी पहनती है वह लोग वैसा नहीं पहनते। वह बिलकुल सीधे-सादे रहते हैं। उनका चपरास भी कमर में होता है! कोई देख कर

नहीं पहचान सकता कि वह लोग पुलीस वाले हैं। देख रे सुखना, ज़रा दूकान देख, तो मैं भी देख आऊँ।"

इतना कहता हुआ हलवाई अपने लड़के सुक्खन को दूकान सौंपकर स्टेशन को चला। वहाँ मालगोदाम के दरवाजे पर लोगों की बड़ी भीड़ देखी। दो कानिस्टबिल बाहर लोगों को अलग करने में लगे हैं। मालगोदाम का दरवाजा खुला है। स्टेशन-मास्टर चौकीदार और चार खलासियों के साथ भीतर एक बाबू को सब दिखा रहे हैं।

वह बाबू मालगाड़ी से अभी उतरा है। गाड़ी से उतरते ही मालगोदाम में जाकर देखा तो वहाँ एक ओर कुछ पयार पड़ा है, कुछ ईंट और एक पत्थर की पटिया पड़ी है।

मालगोदाम भीतर बहुत साफ़ है। अभी दो ही रोज हुये, ऊपर सफ़ेदी की गई है। कमर से ऊपर उँचाई तक चारों ओर की दीवारों में काला अलकतरा पोता गया है। अब वह सूख चला है। धरती पर खूब साफ़ है, लेकिन जहाँ पत्थर, ईंट और खर पड़ा है वहीं सफ़ाई नहीं है। बाबू ने कमरे को अच्छी तरह देख कर स्टेशन-मास्टर से कहा—"अच्छा आप अपने आदमियों के साथ बाहर जाइये। मैं थोड़ी देर तक इस गोदाम का दरवाजा बन्द करके भीतर बैठूँगा।"

यही बाबू ट्राफ़िक सुपरिन्टेन्डेन्ट के भेजे हुये जासूस हैं। जैसा उन्होंने कहा, स्टेशनमास्टर ने वैसा ही किया। सब खलासी और चौकीदारों के साथ वह बाहर हो गये। बाबू ने दरवाजा लगाकर भीतर देखना शुरू किया। मकान की एक-एक ईंट पर सनीचर की दीठ से देखने लगे।

देखते-देखते दीवार पर एक जगह नजर पड़ी। जान पड़ा कि वहाँ का रङ्ग किसी ने पोंछ लिया है। बाबू ने पास जाकर देखा तो मालूम हुआ कि थोड़ी जगह का रंग किसी ने कपड़े से पोंछा है। उसके दहने-बायें भी पाँचों उँगलियों के दो जगह निशान मिले। बाबू ने अकचकाकर देखा। चेहरे का रंग बदल रहा था थोड़ी देर बाद आप ही

आप बोल उठे—"चोर शाला जल्दी में दीवार पर गिरा है। पीठ उसका रंग में चफ़न गया है। उसको सँभालने के वास्ते उसने दोनों हाथ से दीवार का सहारा लिया है, इसी से उँगलियों के साथ हथेली दीवार पर जोर से पड़ी है और दोनों हाथों का निशान बीच में कमर के दहने-बायें उखड़ आया है" वहीं बड़ी देर तक खड़े-खड़े बाबू साहब देखते रहे। खूब अच्छी तरह देखने पर मालूम हुआ कि उसके बायें हाथ की सब से छोटी उँगली टूटी है या कट गई है। उसका निशान बहुत छोटा है। बाक़ी सब उँगलियों का निशान ठीक है।

बाबू ने जेब से एक पाकिटबुक निकाल कर यह बात नोट कर ली। फिर उनकी नजर आगे पीछे दहने बायें चलने लगी। दरवाजे के सामने ही की दीवार में दूसरा दरवाजा है। स्टेशनमास्टर से मालूम हुआ कि वह सदा बन्द रहता है। इस वक्त रोशनी आने के लिये बाबू ने उसी को खोल रखा है। उसी की रोशनी में बाबू यह सब देख रहे हैं। नोट करने वाली पेंसिल एक हाथ में और नोटबुक दूसरे हाथ में अभी मौजूद है। बाबू की नजर बन्द दरवाजे पर पड़ी, तो एकदम चेहरा खुश हो गया। किवाड़ के पास जाकर देखा तो एक पर दो जगह पाँच उँगलियों का अलकतरा पोंछा गया है। दूसरे पर धोती का रंग घिसा गया है। कितना ही घिसा जाय लेकिन छूटा नहीं है; तो भी बायें हाथ की उंगलियों का निशान देखने से बाबू का चेहरा खिल उठा। उसने देखा तो उसमें भी छोटी (कनिष्ठका) उँगली का छोटा सा निशान है।

डिटेक्टिव ने मन में कहा—"चोर चाहे जो हो, लेकिन जो वहाँ दीवार पर गिर कर दोनों हाथों से संभला है उसी ने अपनी धोती और दोनों हाथ का अलकतरा किवाड़ पर पोंछा है। और उसके बायें हाथ की उँगली कटी या टूटी है।"

बस, इसके सिवा उस गोदाम में और कुछ भी काम की चीज जासूस ने नहीं पाई। ईंट पर कोई खास निशान नहीं, न पत्थर से

चोर का कुछ पता चलनेवाला था। खर जो बहुत सा पड़ा था उसको इधर-उधर उलटा तो उसमें दो कागज पाया। एक पोस्टकार्ड और एक हिन्दी अखबार।

अखबार का नाम 'भारतमित्र' देखकर डिटेक्टिव ने आप ही आप कहा—"यह खबर का कागज कलकत्ते का है।" और पोस्टकार्ड पढ़ा तो हिन्दी में लिखा था। लिखने वाले ने बनारस के शिवाला डाकघर से छोड़ा था। उस पर डाकखाने की मुहर थी। कलकत्ता पहुँचने की तारीख जब मुहर में डिटेक्टिव ने देखी तब उसने कहा—"चिट्ठी देखने में जैसी पुरानी मालूम होती है, तारीख से वैसी नहीं है।" पते की तरफ़ पढ़ा तो लच्छुन कहार, केअर आफ सुगनचन्द सोहागचन्द नं० ३७ काटनस्ट्रीट, कलकत्ता' लिखा था। लेकिन चिट्ठी मुड़िया (मारवाड़ी) में लिखी थी, बङ्गाली बाबू से पढ़ी नहीं गई। अब उसे जेब में रख कर उस बड़े कागज को देखने लगे। ऊपर ही बड़े-बड़े अक्षरों में 'भारतमित्र' छपा देखा। उसी के नीचे थ से किसी ने लाल रोशनाई से 'भारतमित्र' छोटे-छोटे हरफों में लिखा था। डिटेक्टिव ने उलट-पुलट कर अच्छी तरह देखा, लेकिन और कुछ भी काम की बात उसमें नहीं पाई। निराश होकर चाहता था कि मोड़कर उसे भी जेब के हवाले करे लेकिन मोड़ने से पहले ही कागज पर एक ऐसी जगह जासूस की नजर गई जहाँ हाथ से अँगरेजी में कुछ लिखा हुआ दीख पड़ा। मालूम हुआ कि किसी ने उस पर भी 'सुगनचन्द सोहागचन्द, नम्बर ३७ काटन स्ट्रीट कलकत्ता' लिखा है। "जिसकी चिट्ठी है, उसी का अखबार भी है। लेकिन अँगरेजी जिसकी लिखी है वह अभी हरफ बनाना सीखता है।" कहते हुये जासूस ने कागज भी जेब के हवाले किया। अब गोदाम में और कुछ काम की चीज़ न पाकर वह बाहर आय।

२

बाहर स्टेशन मास्टर बेंच पर बैठे डिटेक्टिव की राह ताकते थे।

जासूस ने उनको पाकर पूछा—"आप कहते हैं कि रात को गोदाम में दो पारसल थे, सो सन्दूक कहाँ है?"

स्टेशन मास्टर----"सन्दूक तो जिसकी थी वह ले गया।"

जासूस----"उसकी डेलीवरी आप ही ने की है?"

स्टेशन मास्टर----"नहीं, असिस्टेण्ट स्टेशनमास्टर ने की है। लेकिन उसमें कुछ सन्देह की बात नहीं है। जैसा ताला बन्द था, वैसा ही पाया गया है। चाभी स्टेशन मास्टर आन-ड्यूटी के पास ही थी। उसी सन्दूक की डेलीवरी देने के लिये गोदाम खोला, तो सन्दूक मिली लेकिन कपड़े की गाँठ नहीं थी। उसकी जगह पर ईंट-पत्थर मिला। न जाने गाँठ को कोई भूत उठा ले गया या जिन उड़ा ले गया!"

जासूस—"हाँ, उस जिन को तो मैं समझ चुका हूँ। आप अपने स्टेशन के सब नौकरों को बुलाइये मैं सब की सूरत देखूँगा।"

तुरन्त ही स्टेशनमास्टर ने हुक्म दिया; खलासी सिगनलमैन चौकीदार, असिस्टेन्ट, सब जासूस के सामने हाज़िर हुये। सब के कपड़े और उँगली देखने पर उस टूटी उँगली वाले का पता नहीं चला। तब सब को छोड़कर जासूस स्टेशनमास्टर को अलग ले गये और पूछा—"आपके स्टेशन में ऐसा कोई आदमी आता है जिसके बायें हाथ की उँगली टूटी हो?"

स्टेशन मास्टर ने कहा नहीं साहब ऐसा तो कोई आदमी यहाँ नहीं आता।"

जासूस ने उनसे अपने मतलब की कोई बात पाने का भरोसा न देखकर असिस्टेन्टों का पीछा किया। जिसकी ड्यूटी में पार्सल आये थे और जिसने डेलीवरी दी, उनसे अलग-अलग दो बार मिलकर सब बातें पूछने से मालूम हुआ कि कपड़े की गाँठ पार्सल में और सन्दूक लगेज में आई थी। सन्दूक बड़ी लम्बी चौड़ी और खूब ऊँची थी। लगेज-रसीद लेकर दूसरे दिन जो आदमी माल छुड़ाने आया था वह एक

भले आदमी की सूरत का था। उसको बाबू ने पहले कभी डुमराँव में देखा था सो याद नहीं है! कभी की मुलाकात न होने पर भा बडी भलमनसाहत और नरमी से बोलता था। एक गौ गाडी पर कई कुलियों से अपना माल चढ़ाकर ले गया। 'सन्दूक बहुत लम्बी-चौडी है कहने पर कुलियों से उसने बयान किया—"मुसाफिर आदमी हैं। सब कपड़ा लत्ता, अरतन-बरतन इसी में रखता है। इसी से इतनी बडी सन्दूक है।"

जिन कुलियों ने सन्दूक गोदाम से ले जाकर बैलगाडी पर चढ़ाई थी, उनसे घुमा फिराकर पूछने पर मालूम हुआ कि---

वह सन्दूकवाला डुमराँव में पहले पहल आया था। राजा साहब के यहाँ नौकरी करने के इरादे से दूसरे रोज दरबार में जायगा। अभी कोई किराये का मकान लेकर ठहरेगा। सन्दूक बहुत बडी है। सब सामान साथ में रखता है। अगर जल्दी कोई किराये का मकान भी नहीं मिले तो बस्ती में किसी पेड के नीचे ठहरकर दो एक दिन काट सकता है। कुलियों ने यह भी कहा कि नहीं, ऐसी तकलीफ नहीं होगी। यहाँ लोगों को ठहरने के वास्ते सराय बनी है। वह वहाँ चाहे तो ठहर सकता है।

इतना हाल मालूम करने पर जासूस मन-ही-मन सब बातों पर विचार करने लगा। उसके मन में इतनी बातें उठीं

१—बडा पेचदार मामला है। गोदाम के दोनों दरवाजे बन्द हैं, कहीं कोई खिडकी जङ्गला भी नहीं है, फिर चोर कहाँ से आया?

२—चोर नहीं आया तो क्या छोटे ही बाबू ने चुराया? लेकिन उस गोदाम की चाभी उसी के पास थी। जो उसका मालिक है, जिस पर उसकी जवाबदेही है, जिसके पास उसकी चाभी है, वह तो कभी चुरा नहीं सकता।

३—चोर तो भीतर जरूर घुसा है। उसके बायें हाथ की छोटी

उँगली टूटी थी, यह भी मालूम हुआ। लेकिन किधर से घुसा और किधर से गया? फिर गांठ की गाँठ उड़ा ले गया!

४—और अकचकाहट की बात यह है कि गाँठ के बदले ईंट-पत्थर और खर रख गया। यह अजब गोरखधन्धा की बात है। चोर अपने साथ ईंट पत्थर और पयार कहाँ से और क्यों लाया था? और माल चुराकर यहाँ रख जाने का क्या सबब है!

५—पयार में दो कागज मिले। दोनों सुगनचन्द सोहागचन्द से मतलब रखते हैं। लेकिन कार्ड पर 'लच्छनलाल, केअर आफ सुगन-चन्द सोहागचन्द' लिखा है। क्या जाने, यह महाजन कुछ इसका भेद जानता हो। लेकिन इस गाँठ का भेजनेवाला यही सुगनचन्द सोहाग-चन्द है, तब वह चोर हो नहीं सकता।

६—अगर सुगनचन्द सोहागचन्द ही चोर हो, तो गाँठ क्या जादू की थी जो यहाँ तक आई और मालगोदाम से गायब हो गई! इसका कुछ भेद नहीं मिलता।

७—सन्दूक का मालिक तो इसमें कुछ चालाक नहीं मालूम देता! कुली से लेकर बाबू तक उसकी बड़ाई करते हैं। वह पहले पहल डुम-राँव में आया है, इतनी बात कुछ सन्देह की है। लेकिन इसके वास्ते इस सुगनचन्द महाजन का हाथ से छोड़ना ठीक नहीं है।

८—पहले उस महाजन को देखना और फिर लच्छनलाल की चिट्ठी पढ़ाना चाहिये। क्या जाने उससे कुछ काम बने।

९—यह काम महाजन का तो नहीं है, क्योंकि भेजनेवाला वही है। अगर गाँठ में ईंट पत्थर भेजकर महाजन को ठगना चाहता, तो माल गोदाम से गाँठ ग़ायब होने का क्या मतलब है? किसी तरह महाजन पर सन्देह नहीं जाता। लेकिन लच्छन अलबत्ते लच्छनदार मालूम होता है।

१०—चोर चाहे कोई हो, वह भेदू है। गाँठ का हाल जानता था। बाहर का चोर हरगिज़ नहीं आया।

११—लेकिन जानिबकार चोर बाबू के सिवाय और किसी को नहीं कह सकते और ऐसी हालत में बाबू को चोर समझते भी कलेजा काँपता है।

१२—जो हो, बात बड़ी पेचदार है, चोर बड़ा ही चालाक है। उसने अपनी चतुराई से मामले के चारों ओर ऐसी मोरचेबंदी की है कि बुद्धि को घुमाने की साँस नहीं दीखती।

इसी तरह आगे-पीछे दहने-बायें सब सोच-विचार करके पीछे जासूस स्टेशनमास्टर से मिला और उसने मन की मन ही में दबाकर कहा—"अब हम जावेंगे।"

स्टे० मा० ने कहा—"जाने के वास्ते तो डाकगाड़ी बक्सर छोड़ा है आप उसी में जा सकते हैं। लेकिन इस चोरी का कुछ कूलकिनारा आपने पाया या अँधेरे का अँधेरे ही में रहेगा?"

जा०—"अभी आप इसकी कुछ बात मत पूछिए। एक ज़रूरी काम के वास्ते मैं कलकत्ते जाता हूँ। वहाँ से लौटकर आपसे मिलूँगा।"

स्टे० मा०—"अच्छा आप जाइए। लेकिन बाबूसाहब ! इतना हम कहेंगे कि स्टेशनमास्टरी में मैं बूढ़ा हो गया। अब मरने का दिन पास आया है, लेकिन ऐसी चोरी कभी देखी न सुनी"

जा०—"हमको यह चोरी कुछ चक्करदार मालूम होती है, लेकिन इतना हम कहते हैं कि चोरी करनेवाला कोई पक्का खिलाड़ी है। वह भेदी है। भीतर का हाल जानता था। बाहर से चोर नहीं आया।"

स्टे० मा०—"लेकिन गाँठ की जगह ईंट-पत्थर कहाँ से रख गया-वह भी ऐसा कि इस तरफ़ की ईंटों से नहीं मिलतीं। पत्थर पर भी पेटेण्ट स्टोन खुदा हुआ है। ऐसा पत्थर भी हमने कभी नहीं देखा था।"

जा०—"आप कभी कलकत्ते नहीं गए?"

स्टे० मा०—"नहीं, कलकत्ते तो नहीं गया। कई पुश्त से मैं मेमारी ही में रहता हूँ।"

जा०—"इसी से पत्थर आपके लिये नया मालूम हुआ। ऐसी ईंटें भा कलकत्ते में बहुत काम आता हैं।"

स्टे० मा०—"ता कलकत्ते से क्या गाँठ में बन्द करके हो सब आया था ?"

जा०—"यह सब अभी आप मत पूछिए। लौटकर मैं सब बतलाऊँगा।"

स्टे० मा०—"अच्छा, आप और सब लौट कर बतलाइएगा, लेकिन यह जो कहा कि चार बाहर से नहीं आया, इसका मतलब मैंने नहीं समझा। बाहर से आपका क्या मतलब ? चार स्टेशन के आदमियों से बाहर का नहीं है या गोदाम के बाहर से नहीं आया ?"

जा०—"यह भा गूढ़ बात है। अब गाड़ी आती है। बाकी बात लौटने पर।"

इतने में घण्टी बजी। गाड़ी इन-साइट हुई। उसी पर सवार हो कर जासूस कलकत्ते को रवाना हुआ।

(३)

कलकत्ता पहुँच कर जासूस सुगनचन्द सोहागचन्द से मिला। महाजन से मालूम हुआ कि अखबार 'भारतमित्र' मँगाया करता है, लेकिन उसको पढ़ लेने के बाद कौन कहाँ ले गया, इसकी खबर नहीं रखता। पोस्टकार्ड भी कब आया, किसके पास आया इसका कुछ हाल मालूम नहीं है। लच्छन नाम का एक कहार उस कोठी में नौकर है। वह कई रोज से बीमार होकर अपने चचा के यहाँ गया है। उसका चाचा कहाँ रहता है, इसका पता महाजन से नहीं मालूम हुआ।

जासूस ने मन में कहा कि लचछुन को डुमराँव ही में मैंने लच्छुन-दार समझा था सो सचमुच यही चोर है क्या ! फिर थोड़ी देर तक कुछ

सोच कर महाजन से पूछा - "तो उस कहार का काम कौन करता है ?"

महा०—"काम के वास्ते तो उसी ने अपने जान-पहचान के एक आदमी को यहाँ कर दिया है। यह भी उसका कोई नातेदार ही है। लेकिन आप यह सब क्यों पूछते हैं, सो तो कहिये !"

जा०—"मेरे पूछने का मतलब आप नहीं जानते। आपके यहाँ से कुछ माल डुमराँव को चालान हुआ है ?"

महा०—"हाँ, चालान तो हुआ है। लेकिन सुनते हैं वह तो गाँठ की गाँठ ही किसी ने चुरा ली है।"

जा०—"हां, चुरा तो ली है। और उसकी जगह पर ईंट-पत्थर रख गया है।"

महा०—"यह तो बड़े अचरज की बात है। डुमरांव में भी कलकत्ते के बदमाश पहुँच गये हैं क्या ?"

जा०---"देखिये, कहाँ का बदमाश गया है, सो तो मालूम ही हो जायगा। लेकिन चोर बड़ा चालाक है।"

महा०----"हम भी इस चोरी का हाल सुन कर अकचका गये। ताला बन्द का बन्द और गाँठ ग़ायब। डुमरांव का स्टेशन भी तो कलकत्ता हो रहा है।"

अब पोस्टकार्ड पढ़ाने से मालूम हुआ कि लच्छन के बाप का लिखा है। पन्द्रह दिन में रुपया भेजने को कहता है।

"अच्छा, अब जाता हूँ। फिर ज़रूरत होने पर मिलूँगा।" कह कर जासूस कोठी से उतर कर चलता हुआ।

डेरे पर पहुँच कर जासूस ने चिट्ठी बाँटने वाले पोस्ट-पियून का रूप बनाया। कमर में चपरास और सिर पर दुरङ्गी पगड़ी रखी। कन्धे में तोबड़ा लटका कर खासा डाकपियून बन गया। हाथ में छाता लिये

रह बजते-बजते सुगनचन्द सोहागचन्द की कोठी पर जा पहुँचा। इस बार ऊपर न जाकर नीचे ही रहा। पानी के कल पर वह कहार बरतन मलता मिला। सामने दो कनस्तरों में पानी भरा था।

चिट्ठी बाँटने वाले का रूप बनाये हुये जासूस ने उस कहार से पूछा----"क्यों जी, लच्छन कहार तुम्हारा ही नाम है?"

कहार----"काहे को, कोई चिट्ठी है?"

डाक पि०----चिट्ठी तो नहीं है, रुपया उसके नाम बनारस से आया है।"

क०---- 'तो दीजिये न?"

डाक पि०----तेरा ही नाम लचछन है?"

क०----"नहीं, वह हमारा ही छोटा भाई है। बनारस में उसका बाप रहता है। वह हमारा चाचा होता है, उसी ने भेजा होगा।"

डाक पि०—"उसका नाम क्या है?"

क०—"नाम बुधई है। हमारे बाप और वह सगे भाई हैं।"

डा०—'तुम्हारे बाप का नाम क्या है?"

क०—"हमारे बाप का तो खेमई नाम है।"

डा०—"अच्छा, तो वह लचछन कहाँ है?"

क०—"वह तो बीमार होकर डेरे पर पड़ा है।"

डा०—"कहाँ डेरा है?"

क०—"डेरा तो मछुआबाज़ार में है।"

डा०—"अच्छा, अगर तुम चल सको, तो साथ चलो। नहीं तो हम रुपया लौटा देंगे तो फिर नहीं मिलेगा।"

"अच्छा जी रुपया मत लौटाओ, हम चलते हैं।" कहकर कहार ने झटपट बरतन धो डाला और चट अपने एक साथी को सौंपकर डाक-पियून के साथ चलता हुआ। जब दोनों मछुआबाज़ार में पहुँचे,

तो एक मकान में जाकर कहार ने एक आदमी को दिखा दिया। उसको देखते ही डाक-पियून ने कहा—"क्यों लच्छन, डुमराँव से कब आया।"

लच्छन, ने कहा--"मैं तो डुमराँव गया ही नहीं। चाचा से कई बार कहा, वह नहीं जाने देते। जब से जनम हुआ तब से एक बार भी बाप-दादे का डीह नहीं देखा।"

डा० पि०---"अरे यार, हमसे क्यों छिपाते हो? अभी परसों ही डुमराँव में देखा था और कहते हो गये नहीं!"

ल०---"तुम भी अच्छे गप्पी मिले। हम सात आठ दिन से तो इसी चारपाई पर पड़े हैं, परसों तुमने हमको डुमराँव में कैसे देखा था?"

अड़ोस-पड़ोसवालों से भी जासूस को पता मिला कि लच्छन एक अठवाड़े से बीमार पड़ा है। बीमार भी ऐसा कि चारपाई से किसी तरह उठे तो उठे, लेकिन बाहर नहीं जा सकता। कमज़ोरी के मारे दस क़दम चलने के लायक़ भी नहीं है।"

अब जासूस के अकचकाने की बारी आई। बात क्या है, कुछ जान नहीं पड़ता। यह लच्छन तो इस लायक़ नहीं है कि डुमराँव जा सके। तब कुछ देर तक यही मन में विचारकर जासूस ने लचछन का कार्ड निकालकर कहा-"अच्छा लो, यह तुम्हारी चिट्ठी आई है।"

लच्छन ने हाथ में लेकर देखा और पढ़कर कहा-"अरे, यह तो पुरानी चिट्ठी है इसी महीने में आई थी।"

डा० पि०--"क्या पहले भी तुमको यह मिल चुकी थी।"

"हाँ, यह तो बहुत दिन की आई है।" अब लचछन को अकचकाते देखकर डाक-पियून ने कहा-"तुमको मिली थी, तो तुमने किसको दे दिया था? यह तो हमको डाक में मिली है।"

ल०-"डाक में मिली है, तो क्या रुपचन मामा ने कहीं डाक के बम्बे में तो नहीं छोड़ दिया।"

डा०पि०-"रुपचन मामा कौन?"

ल०-"एकठो आए थे। हम लोग तो नहीं जानते, हमारे काका भी नहीं पहचानते, लेकिन कहते थे कि मामा हैं। हमारी माँ तो मर गई, इसी-लिये पहचान नहीं सका।"

"यह क़ाग़ज़ भी तुमने उसी को दिया था?" जासूस ने 'भारत-मित्र' दिखाकर पूछा।

लच्छन ने कहा-"हमने तो नहीं दिया था। हमारी कोठी में आता है। खबर का क़ाग़ज़ है। यहीं हमारे डेरे में रखा था, लेकिन मालूम नहीं इसको आपने कहाँ से पा लिया?"

डा० पि०-"वह मामा क्या इसी जगह ठहरे थे?"

ल०-"हाँ, ठहरे तो यहीं थे, लेकिन कोठी में बराबर जाते थे। रात को यहीं रहते थे। दिन को न जाने वहाँ-कहाँ जाते थे। मालूम नहीं है।"

डा० पि०-"वह कब से तुम्हारे यहाँ ठहरे रहे?"

ल०-"हमारे बीमार पड़ने से सात दिन पहले ही आए थे।"

डा० पि०-"तुम्हारे बीमार पड़ने पर भी वह कोठी में बराबर जाते रहे?"

ल०-"हाँ, कोठी में तो बराबर ही जाते रहे।"

डा० पि०—"यहाँ से कब गये?"

ल०—"यहाँ से तो हमारे बीमार पड़ने के दो ही दिन बाद चले गये।"

डा० पि०—"तुमने उनको और भी पहले कभी देखा था?"

ल०—"नहीं, और तो पहले कभी नहीं देखा था।"

डा० पि०—"तुम घर चलोगे? अगर चलो तो मैं तुमको बेखर्चा के ले चलूँगा।"

ल०—"हम से चला कहाँ जायगा। चारपाई से उतरते में तो दम फूलने लगता है।"

डा० पि०—"हम तुमको यहाँ से बग्घी पर ले चलेंगे। वहाँ से बराबर गाड़ी पर डुमराँव चलना होगा। तुमको पैदल तो चलना नहीं होगा।"

ल०—"सो तो है, लेकिन चाचा नहीं जाने देंगे।"

इतने में एक आदमी उसी कमरे में आया। उसको देखते ही लच्छन ने कहा। "चाचा तो आ गये।" फिर चाचा से कहा "काहे चाचा! घर जाँय ?"

चाचा—"अरे, अभी खरचा कहाँ है।"

ल०—"खरचा यह देते हैं।"

चा०—"इनको क्या काम है ?"

अब डाक-पियून ने लच्छन के चाचा को अलग ले जाकर बहुत कुछ समझाया और दस रुपये का एक नोट देकर कहा—"तुम इसको जाने दो. घर जायगा तो वहाँ बीमारी भी दूर हो जायगी। देश का हवा-पानी लगेगा तो सब रोग भाग जायगा।"

जब खेमई ने लचछन से सब हाल सुना तब उसे डाक-पियून को सौंप दिया।

अब डाक-पियून उसे अपने साथ बग्घी में बिठाकर वहाँ से चलता हुआ।

(४)

दूसरे दिन डुमराँव से कोस-डेढ़-कोस की दूरी पर दह में धोबी आछोः आछोः करके कपड़े धो रहे थे। किनारे पर दूर तक सुन्दर सुथरे कपड़े फैले पड़े थे। एक बूढ़ा धोबी हाथ में कपड़ा सरियाकर गा रहा था----

जेहि दिन राम के जनमवाँ ए भाइजी,

बाजेला अवधवा में ढो...ओ...ल।

थर थर काँपेला गरबी खूनवाँ पा----

मुन्दई जनमलन मो...ओ...

बिरहा खतम होते-होते दो आदमी एक्के पर सवार दह के पास पहुँच गये। किनारे से थोड़ी दूर पर इक्का खड़ा हुआ। दोनों सवार उतरकर किनारे पर टहलने और कपड़ा देखने लगे।

एक सवार क़द का बड़ा न बहुत छोटा है। बदन का हट्टा-कट्टा जवान है। सिर पर टोपी नदारद है, बदन में कमीज़ के ऊपर काले सर्ज की कोट है। बड़ी-बड़ी मुरेरदार मूँछों से चेहरा वीर का जान पड़ता है। चौड़े ललाट और शान्त गम्भीरता व्यञ्जक नेत्रों से बुद्धिमानी की आभा फूटा पड़ती है। काली किनारी की साफ़-सुथरी धोती बदामी बूट पर शोभा दूनी कर रही है। हाथ में चाँदी मढ़ा मलाका बेत की छड़ी है। उमर इस बाबू की ४० बरस की होगी। दूसरा कद में उससे लम्बा, बदन का दुबला है. उमर कोई ५० बरस की होगी। दाढ़ी और मूँछ के एक बाल भी काले नहीं हैं। सिर ऊँचे और घेरदार मुरेठे से ढका है। भाव से बाबू का पुराना नौकर मालूम देता है। बात-बात में 'हुजूर !' कहकर उस बाबू की ताज़ीम करता है।

धोबी-धोबन अकचकाने लगे कि यह दो आदमी कौन एक्के पर आए हैं, न दह के पार जाते हैं, न पीछे लौटते हैं। इसी की भावना में सब सिर झुकाये अपना कपड़ा पाट पर पीटने लगे। बिरहा गाने वाले ने अपने बग़लवाले से कहा—"मालूम होता है डुमरी के साहु के कोई हैं, वहीं जाते हैं।"

उसने कहा----"डुमरी जाते हैं तो अबेर काहे करते हैं ?"

तीसरे ने कहा----"नहीं, कहीं जाना नहा है। कोई बड़े आदमी हैं, टहलने आये होंगे। मालूम होता है, भोजपुर में किसी के घर पाहुने आये हैं।"

इतने में एक्केवान उनके पास आ गया। उससे धोबियों ने पूछा---- "डुनरी जावोगे का भैया?" एक्केवान ने कहा----"नहीं हो, हियँ तक घूमे आये हैं। हवा खा के टेसन को लौट जाहें।"

बस सब के मन की उकताहट मिट गई। उधर दोनों आदमी चेहलक़दमी करते और किनारे के एक-एक कपड़े देखते थे। एक जगह एक धोती फैली पड़ी थी, उसे दिखा कर टहलने वाले ने कहा----"क्यों लच्छन! वह काले दाग वाली धोती तुम पहचान सकते हो, किसकी है?"

लच्छन ने कहा----"हाँ, यह तो हमारे मामा की ही है। यह पहन कर वह कलकत्ते गये थे, लेकिन इसमें जो काला दाग है सो नहीं था।"

चतुर पाठक पहचानते होंगे, यह वही जासूस है जो डाक-पियून बन कर मछुआ बाजार में लच्छन के घर गये थे और उसे साथ लेकर डेरे पर आये वहाँ से एक भले आदमी का रूप बनाया और साथ में लच्छन को बूढ़े के रूप में लेकर उसी दिन हवड़ा आये। गाड़ी में सवार होकर दूसरे दिन सबेरे डुमराँव पहुँचे और एक्के पर सवार होकर वहाँ से दह देखने को आये हैं उसके पीछे जो हो रहा है सो पाठक जानते हैं।

लच्छन की बात सुन कर जासूस ने कहा----"तुमने अपने मामा का बायाँ हाथ अच्छी तरह देखा था?"

ल०----"अच्छी तरह देखा तो था। कानी (कनिष्ठिका) उँगली सदा बाँधे रहते थे। जब तक रहे, तब तक उनकी उँगली में दरद रहा।"

जासूस ने मन में कहा---ठीक है। वही बदमाश यहाँ तक आया है। फिर पूछा----"यह तुम कैसे जानते हो कि यह धोती वही है?"

ल०----"यही है साहब। इसकी किनारी में बंगला लिखा है। एक ओर का आँचर फटा हुआ है। देखिये, इसमें भी आँचर एक ही ओर

है; लेकिन यह काला दाग़ नहीं था। हम बराबर उनकी धोती फींचते रहे, लेकिन काला दाग़ कभी नहीं देखा।"

"अच्छा, ठीक है",----कह कर जासूस वहाँ से धोबी के पास आया। उसी बिरहा गाने वाले बूढ़े से पूछा----"क्यों जी वह कपड़े किसके हैं?"

धोबी----'आप भी अच्छा पूछते हैं! वह कपड़े क्या एक आदमी के हैं?"

जा०----"अरे वह उधर वाली किनारीदार धोती, जिस पर काला दाग़ लगा है और एक ओर का आँचर नहीं है।"

धोबी----"वह एक मुसाफ़िर की है। पहचानते हैं, लेकिन नाम नहीं जानते।"

जा०----"अच्छा नाम नहीं जानते तो घर पहचानते हो?"

धोबी---घर भी नहीं पहचानते। आज ही कपड़ा देने का वादा है। यहीं वह कपड़ा दे गया था और यहीं से ले भी जायगा।"

जा०-----"कब ले जायगा?"

धोबी----"अब आता ही होगा। दोपहर के बाद आने को बोला था।"

जा०----"अच्छा भाई, जाने दो। उससे कुछ मत कहना। यह धोती बहुत बढ़िया है। इसी से हम मालिक का नाम जानना चाहते थे। उससे पूछते कि ऐसी बढ़िया धोती कितने दाम पर कहाँ से खरीदी गई है। मालूम होता तो हम भी लेते। इसकी किनारी पर बड़े रसीले दोहे लिखे हुये हैं।"

धोबी----"क्या लिखा है।बाबू, हमको भी बतला दीजिये तो वह रसोला दोहरा याद कर लें। हमको भी इन बातों से शौक है। कवित्त, चौपइया हम बहुत याद करते हैं।"

जा०----"अच्छा तुमको चाह है तो लो, बतलाये देते हैं उस पर दोहे लिखे हैं।"

और जासूस ने मैथिल कवि विद्यापति के पद सुना दिये।

धोबी---"वाह बाबू जी, वाह ! यह तो खूब रसीला दोहा है।"

इतने में सामने से एक अकड़बेग आता हुआ दिखाई दिया। धोबी ने कहा----"देखो बाबू, वही आदमी धोतीवाला आता है।"

बस, इतना सुनते ही दोनों टहलनेवाले वहाँ से दूर हट गये---मानों मुसाफिर हैं, धोबी से कुछ बातचीत नहीं है। उधर वह आदमी भी पास आ गया। उसका पहनाव-पोशाक भले आदमी का है। मलमल का खूब बढ़िया कमीज है। बूताम चाँदी के लगे हैं। कड़कड़ाते हुये चिकने कफ़ और प्लेट देखने में विलायती माल मालूम देता है। कमर से नीचे आसमानी रंग की लहर मारती हुई फरसडाँगा की काली किनारीवाली धोती है। पाँव में काला वार्निश का चमचमाता लैसदार जूता है। हाथ में सींग की काली छड़ी है। सिर पर रेशमी मुरेठा है। आबताब से एक बड़े घर का जवान मालूम देता है। पास आ जाने पर जासूस ने देखा तो उसकी दसो उँगली सही सलामत हैं। लच्छन ने भी जासूस के कान में कहा----"यह तो हमारे मामा नहीं हैं।"

जासूस ने "चुप रहो" कहकर उसका मुँह बन्द किया और टहलते-टहलते धोबी के पास आये। अकड़बेग ने भी धोबी से आते ही कहा---"क्यों बे धोबी ! धोती तैयार है ?"

धोबी---- 'हाँ, सरकार सूखती है।"

अक०---"अरे सूरज डूबता है तौ भी सूखती ही है !"

धोबी---"का करें बाबू तैयार तो बड़ी देर से है। आज का घाम ही तेज़ नहीं, नहीं तो अब तक कभी को सूख गई होती।"

अक०----"हम तो स्टेशन पर से आते हैं। गाड़ी आने का वक्त हो गया। फिर कैसे बनेगा ?"

धोबी---"तो बाबू जी ! आप ले न जाइये, सूख भी तो गया। गाड़ी के वास्ते तो आप ही देर करके आये हैं। आते ही हम अगर आपको हाथ में दे देते तौ भी आप गाड़ी नहीं पा सकते थे !"

धोबी इतना कहता हुआ पानी में से निकला और उसकी धोती सरिया कर दे दी। उसने देखकर कहा—"अजी तुमने यह दाग़ छुड़ाया ही नहीं।"

धोबी—"वह तो बाबू जी अलकतरा का दाग़ है। हम धोते-धोते थक गये, लेकिन नहीं छूटा।"

अक०—"तो फिर तुम्हें इनाम कैसे दें ?"

धोबी—"कोई धोबी इस दाग़ को छुड़ा दे बाबू जी, तो हम टाँग की राह से निकल जाँय। हम लोग राजदरबार का कपड़ा धोनेवाले हैं, दूसरे का तो काम ही नहीं करते।"

अक०—"तो लो, दो पैसे अपनी धुलाई ले लो। अगर दाग़ छुड़ा देते तो हम इनाम भी देते। तुमने दाग़ नहीं छुड़ाया, इसी से हमारी तबीअत खुश नहीं हुई।"

इतने में जासूस ने घड़ी निकालकर देखी और कहा—"देखो जी लच्छन ! चलो जल्दी, अब गाड़ी आया चाहती है।"

लच्छन एक्केवाले को पुकारने गया। इधर जासूस से अकड़बेग ने कहा—"क्यों जनाब, आप लोग भी गाड़ी ही पर जावेंगे क्या ?"

बा०—"हाँ साहब, गाड़ी ही पर जाना है।"

अक०—"मैं भी तो साहब, गाड़ी ही पर जानेवाला था। हमारा एक साथी स्टेशन पर बैठा है। हम दोनों आदमी तैयार होकर स्टेशन पर आए, तब धोती की याद आई। वहाँ से एक्के पर आता था। भोजपुर के नाले में आकर घोड़े ने ठोकर ली। एक्का भी गिरा, पहिया टूट गया। एक्के वाले को भी बड़ी चोट आई। भगवान की दया से मुझे चोट नहीं आई। जब देखा कि एक्का अब काम का नहीं रहा, तब उस नाले पर से पैदल आया हूँ। आप अपने एक्के पर

मुझे बिठा लें तो बड़ी दया करें। मैं पैदल चल कर गाड़ी नहीं पा सकूँगा।"

जासूस तो चाहता ही था पहली बार मंजूर करके कहा—"कुछ परवाह नहीं। आप आइये। शरीफ़ की इज्ज़त शरीफ़ ही समझता है। फिर हमको भी तो उसी गाड़ी पर जाना है।"

इतना कहकर उसको भी उसी एक्के पर चढ़ा लिया। अब तीनों आदमी को बिठाकर एक्केवान ने घोड़ा हाँका। सड़क कच्ची लेकिन ठीक थी। बीच में दो-तीन नाले पड़े; उनको पार करके कोई आधे घन्टे में एक्का सब सवारों को लादे डुमराँव के स्टेशन आ दाखिल हुआ।

एक्का ज्योंही स्टेशन के सामने खड़ा हुआ, अकड़बेग उतर पड़ा। जासूस भी लच्छन के साथ उतरा। तीनों मुसाफ़िरख़ाने में गये। अकड़बेग ने अपने साथी से कहा—"यार, बड़ी आफ़त में पड़ गये। एक्का बीच रास्ते ही में जाकर टूट गया। मैं तो वहाँ पैदल गया था। लेकिन लौटती बेर यह बाबू मिल गए; इन्हीं ने हमको अपने एक्के पर यहाँ पहुँचाया है। नहीं तो गाड़ी नहीं मिलती।"

लच्छन ने खूब घोपदार दाढ़ी-मूँछ पहना था। इसी से अकड़बेग के साथी ने उसको नहीं पहचाना। लेकिन लच्छन ने झट पहचानकर सिर हिलाया और जासूस से आँखों का टेलीग्राम करके कह दिया कि यही हमारे मामा साहब हैं।

अँधेरा हो चला था। सूर्य-देव पच्छिम में छिप चुके थे, सन्ध्या की तिमिर-वरणी छाया गहरी होती जाती थी। इतने में दूसरी घंटी बजी। गाड़ी दीख पड़ी। हरहराती हुई पसिञ्जर डुमराँव के स्टेशन में आ खड़ी हुई। लच्छन के मामा पहले से टिकट ले चुके थे, या क्या, झट इन्टरक्लास में दोनों जा बैठे। जासूस ने भी भीतर जाकर इन्टरक्लास के दो टिकट लिए और उसी गाड़ी में उन दोनों के पास वाले कमरे में

आ बैठे। टन टन टन, टन टन टन, टन टन टन, घंटा बजा गाड़ी सीटी देकर चलती हुई।

(५)

गाड़ी दिलदारनगर में पहुँचकर कोई बीस मिनट खड़ी रही। इतने में एक लीला हुई। देखा तो मुसाफिरों की भीड़। में बाबू सब से टिकेट ले रहे हैं। रेलवे पुलीस का एक कानिस्टबल "अरे कोई बैरन है, भाई बैरन ?" कहकर पुकारता है। बाबू—"यह बैरिंग है यह," कहकर गाँठ लादे और गोद में लड़का लिये हुए मुसाफिरों को उनके हवाले करते जाते हैं। जब सब मुसाफिर चले गए, चार रह गए; तीन हवड़े से आते हैं, एक के साथ एक छोटा सा लड़का था। एक के पास बत्तीस सेर, दूसरे के पास अड़तीस सेर, तीसरे के पास साढ़े तैंतीस सेर माल है सब से तीन-तीन रुपये लेकर स्टेशनवालों ने छोड़ दिया। यह लड़केवाला हुगली से आता है। सो हुगली का पूरा महसूल उससे लिया गया। वह बारहा चिल्लाया किया —"बाबू जी दस बरस का लड़का है," लेकिन बाबू ने कहा—"चुप रहो सुअर, वहाँ बाबू को रुपया देकर बिना टिकट आया है।" मुसाफिर ने कहा—"तब तो बाबू जी, आप बड़ा धरम करते हैं, एक रुपया वहाँ भी दिया, पूरा महसूल आप लेते हैं तो कितना पड़ गया।" बाबू ने कहा—"यह इस वास्ते हैं कि तुम फिर ऐसा नहीं करोगे।"

इतने में बाबू ने "आलराइट सर" कहा। गार्ड ने झण्डी दी। गाड़ी सीटी बजाकर चलती हुई। पूछने पर मालूम हुआ कि सकलडीहा से कोई मालगाड़ी आती थी, इसी वास्ते पैसिञ्जर उसके आने तक ठहरी रही।

गाड़ी जब सकलडीहा स्टेशन में पहुँची, मोगलसराय जब एक ही स्टेशन रह गया, लच्छुन के मामा अपने साथी को जगाकर आप बेंच पर

सो गए थे—जासूस ने घात पाकर उसके जेब में हाथ डाला। उसमें दो रुपये छींट को एक रूमाल में बँधे रक्खे थे। जासूस ने उसको अपने जेब के हवाले किया। फिर हाथ दूसरी ओर के जेब में डाला। वह कुछ नीचे दबा था। हाथ डालते ही लच्छन के मामा अकचका कर उठे और झट जासूस का हाथ पकड़ लिया। कहा—"क्यों रे पाजी! चोर कहीं का, जेब में हाथ डालता है?"

जासूस ने काँपती जीभ से कहा—"नहीं सरकार, हम चोर नहीं हैं।" लच्छन के मामा—"ठीक है, ठीक। मैं समझ गया, तू चोर है। तभी डुमराँव के राह से पीछा किया है। मैंने ठीक पहचाना नहीं। एक्के पर चढ़ के वहाँ तक आया, तूने घात नहीं पाया यहाँ सो जाने पर जेब टटोलता है। तू कलकत्ते का गिरहकट है।"

जा०—"नहीं सरकार..........."

इतने में मामा ने अपने दूसरे जेब में हाथ डाला तो रुपया बँधी रूमाल नदारद! अब तो जकड़कर जासूस को पकड़ा। इतने में गाड़ी मोगलसराय के स्टेशन में जा खड़ी हुई। मामा ज़ोर से 'चोर-चोर' चिल्लाने लगे। रेलवे पुलिस के कानिस्टबल आये, सब-इन्स्पेक्टर पहुँचे। देखा, तो गाड़ी में एक जवान भले आदमी की पोशाकवाले को दो आदमी पकड़े 'चोर-चोर' चिल्ला रहे हैं। एक चौथा बूढ़ा बगल में चुपचाप बैठा है सबको पुलीस ने उतारा। पूछने पर बूढ़े ने कहा—"हाँ साहब, इन्होंने उसके जेब में हाथ डाला था।"

जामातलाशी लेने पर उसके जेब से रुपचन मामा का माल मिला। अब पुलीसवालों ने उस गिरहकट को उसी दम पकड़ लिया और मुद्दई को भी दोनों गवाहों के साथ रोक रखा। जब कानिस्टबल चोर को गारद में बन्द करने के लिये ले गया तब भीतर जाकर चोर ने उससे कहा—"देखो जी, हम चोर नहीं, पुलीस के आदमी हैं। चोर वही दोनों हैं। वह बूढ़ा मेरा साथी है। तुम जाकर दरोग़ा साहब को यहाँ भेज दो।"

कानिस्टबल ने कहा—"क्या खूब आप ! चोर औरों को बनावें। दारोग़ा और हम तुम्हारे नौकर हैं रे बदमाश ?"

इतना कहकर कानिस्टबल ने आँख बदली। कुछ और मुँह से बकना चाहता था कि चोर ने अपनी कमर में एक चीज़ दिखाई। कानिस्टबल ने उसे देखते ही पीछे हटकर सलाम किया। कमर में जासूस का निशान देख-कर कानिस्टबल ने पहचान लिया और अदब से सलाम करके दरोग़ा साहब को बुलाया। दरोग़ा ने गारद में आकर कहा—"क्यों जनाब, क्या मामिला है ?"

उसने कहा—"मामिला ऐसा है कि दोनों डुमराँव के स्टेशन से पाँच हज़ार का माल चुरा कर भागे जाते हैं। मैं अकेला इन दो दो पहलवानों से पार नहीं पाता और इन्होंने रास्ते में सकलडीहा स्टेशन से ही उतरने का इरादा किया था। तब मैंने यही सोचा कि इसका कुछ चुराना चाहिये। बस, रूमाल चुरा ली। उसमें रुपये बंधे थे। जब नहीं जागा तब दूसरे पाकेट में हाथ डालकर जगाया। जो बूढ़ा बैठा था वह मेरा कहार है।"

"ओफ़, तब तो आपने कमाल किया। माफ़ कीजिये, कहिये अब क्या करना चाहिये ?"

"अब उन दोनों को हथकड़ी भर दो। माल जो दो गठरी में लिये हुये हैं, वही माल मसरूका है। उसमें शाल, दुशाले, लोई, अलवान और रेशमी कपड़े हैं। सब पाँच हज़ार की गठरी महाराज के वास्ते कलकत्ते से आई थी। उसी को गोदाम से उन्होंने उड़ा लिया है।"

दारोग़ा ने कहा—"हाँ हाँ, कई रोज़ हुये तार आया था। वही माल तो नहीं कि ताला बन्द का बन्द ही था और गठरी ग़ायब हो गई है ?"

"हाँ, हाँ ! वही है।" कह कर चोररूपधारी जासूस ने कहा—उनको,, जल्दी गिरफ्तार करो।" चोर बड़े मज़बूत थे। दस कानिस्टबल

दो हथकड़ी लिये उनके पास गये और सब-इन्स्पेक्टर के आँख देते ही दोनों को हथकड़ी भर दी। गारद से चोर साहूकार बनकर बाहर आया, जो साहूकार बने थे वह चोर हुये। अपराध की ऐसी तुम्बाफेरी यहीं देखने में आई।

अब दोनों गिरफ्तार होकर गारद में बन्द हुये। दोनों की गठरी खोली गई तो दोनों में शाल, दुशाले और रेशमी कपड़े भरे थे। तार देकर सुगनचन्द सोहागचन्द को बुलाया गया। महाजन ने अपने गुमाश्ते के साथ आकर माल पहचाना। एक कपड़ा भी नहीं गया था। सब फ़िहरिस्त के मुताबिक मिल गया।

अब जासूस ने गारद में अकेले जाकर पूछा—"देखो, अब तो सब माल मिल गया। तुम लोग माल के साथ ही पकड़े गये अब सच्चा हाल कह दो कैसे चुराया था?"

कुछ भरोसा देने पर लच्छन के मामा ने कहा—"देखो बाबू, हमने जिस तरकीब से चोरी की उससे तो तुम्हारा पकड़ना और बढ़कर है। हम लोगों को सपने में भी पकड़े जाने का डर नहीं था। अगर ऐसा समझते तो और तरकीब कर डालते। लेकिन खैर, अब तो पकड़े ही गये। नहीं कहने से भी नहीं छूट सकते। सुनो हम सब हाल बयान करते हैं।"

(६)

अब लच्छन के मामा ने बयान किया—

हम लोग बनारस के रहने वाले हैं। चोरी ही का रोज़गार करने कलकत्ते पहुँचे थे। सुना था कि वहाँ पुलीसवाले बड़े चतुर होते हैं। सो यही देखने गये थे। कलकत्ते जाकर लच्छन के यहाँ पहुँचे। लच्छन का बाप बनारस में रहता है बनारस से चलते ही उससे लच्छन का हाल, उसका मशहूर महाजन सुगनचन्द-सोहागचन्द के यहाँ नौकरी

करना, मालूम हो गया था। बस वहाँ जाकर लच्छन के मामा बन गये। सुगनचन्द-सोहागचन्द की कोठी में बराबर आना जाना रहा। सब खबर नौकरों से मिलती रही। एक रोज़ मालूम हुआ कि डुमराँव के राजा ने पाँच हजार का शाल, दुशाला लोई अलवान और रेशमी कपड़े माँगे हैं। मैं बराबर भेद लगाता रहा। दो दिन पहले से मालूम हो गया कि माल परसों जायगा और माल वहाँ से आदमी बाली ले जायगा, वहाँ से पार्सल में रवाना होगा। हम दो साथी थे। एक धर्म-शाला में ठहरा था। उसी ने खूब लम्बी-चौड़ी सन्दूक तैयार कराई, उसमें ऊपर से बन्द करने का निशान था, लेकिन भीतर से बन्द होता था। मैं उसी में बैठ गया और दो-चार ईंट, एक पत्थर का टुकड़ा उसमें रखकर नीचे पयार बिछाकर लेटा। ऊपर से भी साथी ने पयार भर दिया कि मुझे चोट न लगे। मेरे साथी ने बाबू को एक रुपया देकर उसी कपड़े के पार्सल के साथ अपना लगेज चढ़वा दिया। आप लगेज रसीद लेकर उसी गाड़ी में सवार हुआ। रात को गाड़ी डुमराँव पहुँची। लगेज रात को नहीं लिया। गोदाम में सन्दूक और पार्सल (कपड़े की गाँठ) दोनों रखे गये, वहाँ अँधेरा था बाहर से ताला बन्द था। भीतर से मैं सन्दूक खोलकर बाहर निकला और कपड़े की गाँठ उसमें रखकर ईंट पत्थर, पयार सब निकाल दिया। फिर आप भीतर बैठकर अन्दर से चाभी बन्द कर ली। हमारा साथी सधा था ही। आकर उसने रसीद दी और पार्सल छुड़ा ले गया। बाबू लोगों ने कुछ नाह-नूह की, लेकिन उन्हें भी एक रुपया दिया। बोझा भारी कहकर बाबू ने वजन करने का बखेड़ा लगाना चाहा था, लेकिन मेरे साथी ने दो रुपया उसके वास्ते अलग नजर किया। अब कुछ भी रोकटोक नहीं हुआ। कुलियों को मुँह माँगा देकर सन्दूक छुड़ा ले गया। बाहर भोज-पुर के पास नाले में जाकर गाड़ीवाले को हम लोगों ने बिदा कर दिया। जब वह अपनी आशा से दूना इनाम पाकर चला गया तब मैं बाहर हुआ और सन्दूक को वहीं तोड़ फोड़कर डाल दिया।

"गठरी के दो हिस्से करके दोनों आदमी ने कन्धे पर लिया और डुमराँव की सराय में जा टहरे। गोदाम में मेरी धोती अलकतरे से चफन गई थी उसको धोबी को दे दिया। वही धोती हमारी समहुत की थी, इसीसे उसके लिये डुमराँव में ठहरे रहे। किसी ने कुछ भेद तो नहीं पाया, लेकिन मैं मन में डरता था कि यहाँ की देरी अच्छी नहीं है, सो ही हुआ। न जाने आपने कैसे पता पा लिया।"

जा०—"गोदाम में तुमने धोती का रङ्ग और हाथ का किवाड़ में पोंछा था?"

चो०—"हाँ, जब मैं गिरा तब दोनों हाथ और पीठ में अलकतरा चफन गया था। हाथ भी किवाड़ में पोछा था। जब छूटने का भरोसा नहीं दीखा, तब सन्दूक में जा बैठा था।"

बनारस के कोतवाल ने आकर देखा तो पहचाना और कई बार का सज़ा पाया हुआ पुराना चोर कहा।

जासूस माल के साथ दोनों को गिरफ्तार करके डुमराँव ले गया। डेलीवरी करनेवाले बाबू ने चोर के साथी को पहचाना, फिर उसका बयान लेकर जासूस माल के साथ दोनों को कलकत्ते ले गया। वहाँ क़ानून के अनुसार इन दोनों पर मुक़द्दमा हुआ। अदालत से अपराध उनका साबित होने पर पुराना चोर होने के कारण दोनों दस-दस बरस को क़ैद हुये। जासूस को महाजन की ओर से ५००) इनाम और सरकार से प्रशंसापत्र मिला। अब जासूस खुश होकर दूसरे मुक़द्दमे में तैनात हुआ।

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　रचनाकाल

१६४६　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　१६६८

[श्री जयशंकर प्रसाद काशी के एक प्रतिष्ठित और धनी परिवार में उत्पन्न हुये। आपने क्वींस कालेज में शिक्षा प्राप्त की। छोटी अवस्था में पिता की मृत्यु हो जाने से आपको पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी और घर पर ही पढ़ाई-लिखाई होने लगी। आप अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत और उर्दू के अध्ययन में कुछ ही समय में पारंगत हो गये। उसी समय से आपकी रुचि हिन्दी-काव्य-रचना की ओर आकर्षित हुई। और समस्या-पूर्तियाँ भी करने लगे। बाद को आपकी रुचि नवीन दृष्टिकोण से काव्य-रचना की ओर हुई और छायावादी या रहस्यवादी रचना पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगे। नाटक-रचना भी उसी समय से करने लगे। सब से पहले आपकी रचनायें 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका में छपती रहीं। यद्यपि उस समय प्रसाद जी की रचनाओं को हिन्दी-क्षेत्र में विशेष प्रश्रय नहीं मिला किन्तु समय आने पर इनकी रचनाओं की महत्ता को हिन्दी जगत ने स्वीकृत किया। आपने काव्य, महाकाव्य, उपन्यास, कहानी सभी विषयों पर बड़े उच्च कोटि के ग्रंथ लिखे और आज आपके ग्रंथ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि समझे जाते हैं। श्री जयशंकर जी वर्तमान हिन्दी के निर्माता और उन्नायक माने जाते हैं। वर्तमान हिन्दी-साहित्य के महान साहित्यकारों में आपकी गणना होती है। आपका निधन सम्वत् १६६४ में हुआ।]

—:*:*:*:—

आकाश दीप

(१)

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं—निद्रा खुलने पर; चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डाल कर शीत से मुक्त करता।"

"आँधी आने की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ; धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत मे सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हलोरें उठने लगीं। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे मुक्ति की आशा—स्नेह का असम्भावित आलिंगन। दोनों ही अन्धकार में मुक्त हो गये। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से, उसको गले से

लगा लिया। सहसा उस बन्दी ने कहा—यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है ?"—अपने को अलग करते हुये स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है ? तुम्हारा नाम ?"

"चम्पा।"

तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अन्धकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकाल कर, फिर लुढ़कते हुये, बन्दी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत के प्रदर्शक ने चिल्ला कर कहा—"आँधी।"

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बन्दी ढुलक कर उस रज्जु के पास पहुँचा, जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गये। तरंगे उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कन्दुक क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों बन्दी खिलखिलाकर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

(२)

अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शान्त था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बन्दी मुक्त है। नायक ने कहा—"बुद्धगुप्त ! तुमको मुक्त किसने किया ?"

कृपाण दिखाकर बुद्धगुप्त ने कहा—"इसने।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊँगा।"

"किसके लिये? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा। नायक! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम! जलदस्यु बुद्धगुप्त! कदापि नहीं।"—चौंककर नायक ने कहा, और अपना कृपाण टटोलने लगा। चम्पा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्व-युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाओ। जो विजयी होगा, वही स्वामी होगा।"—इतना कह, बुद्धगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चम्पा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़ कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिये। चम्पा, भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गये। परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा! नायक की कायर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं। बुद्धगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ, मैं विश्वासघात न करूँगा।"

बुद्धगुप्त ने उसे छोड़ दिया। चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिन्दु विजय तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त ने पूछा—"हम लोग कहाँ होंगे?"

"बाली द्वीप से बहुत दूर; सम्भवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम जाना-आना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिये खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड़ लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा—"यहाँ एक जलमग्न शैलखण्ड है। सावधान न रहने से नाव के टकराने का भय है।"

(३)

"तुम्हें इन लोगों ने बन्दी क्यों बनाया?"

"वणिक मणिभद्र की पापवासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"जाह्नवी के तट पर, चम्पा नगरी की एक क्षत्रिय-बालिका हूँ। पिता जी इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मार कर जल-समाधि ली। एक मास हुआ मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ, अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझ से एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बन्दी बना दी गई।"—चम्पा रोष से जल रही थी।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चम्पा! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बन कर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी?"

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।"—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। उनमें किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपाङ्ग में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देख कर काँप गया। उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्रवक्ष पर विलम्बमयी राग-रञ्जित सन्ध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखर रहे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला।

वह थी कोमलता।

उसी समय नायक ने कहा—"हम लोग द्वीप के पास पहुँच गये।"

वेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुद्धगुप्त ने कहा—"जब इसका कोई नाम नहीं है, तो हम लोग इसे चम्पा द्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

(४)

पाँच वर्ष बाद:—

शरद् के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र के उज्ज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरद् लक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्च सौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मञ्जूषा में दीप धर कर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा।

भोली-भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिल-मिल जाय; किन्तु वैसा होना असम्भव था। उसने आशा-भरी आँखें फिरा लीं।

सामने जलराशि का रजत शृङ्गार था। वरुण बालिकाओं के लिये लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा-शैलमालायें बन रही थीं। और वे मायाविनी छलनायें अपनी हँसी का कलनाद छोड़ कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों की बंशी की झनकार उनके सङ्गीत सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरंग-संकुल जलराशि में उसके कण्डील का प्रतिबिम्ब अस्तव्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिये सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देख कर पुकारा—"जया !"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभोमण्डल से मुख में शुभ्र नक्षत्रों की पक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती। बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।"—चम्पा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चम्पा के अञ्चल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसने फिरकर कहा—"बुद्धगुप्त !"

"बावली हो क्या ? यहाँ बैठी अभी तक दीप जला रही हो। तुम्हें यह काम करना है ?"

"क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिये क्या दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ ?"

"हँसी आती है। तुम किस को दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो ? उसको, जिसको तुमने भगवान् मान लिया है ?"

हाँ; वह भी कभी भटकते हैं, न भूलते हैं, नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य्य क्यों देते !"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पा रानी !"

"मुझे इस बन्दीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक ! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में—तारिकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी। बुद्धगुप्त ! उस विजन अनन्त में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थककर पालों में शरीर लपेटकर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे। वह नक्षत्रों की मधुर छाया—"

"तो चम्पा ! अब उससे भी अच्छे ढङ्ग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं, नहीं, तुमने दस्यु-वृत्ति तो छोड़ दी परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाश दीप पर व्यङ्ग कर रहे हो। नाविक ! उस प्रचण्ड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरणों के लिये हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में जलाकर भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती—"भगवान् ! मेरे पथभ्रष्ट नाविक को अन्धकार में ठीक पथ पर ले चलना।" और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते—"साध्वी ! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक सङ्कटों में मेरी रक्षा की है।" वह गद्‌गद् हो जाती। मेरी माँ ! आह नाविक !! यह उसकी पुण्य-स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण

जलदस्यु ! हट जाओ ।"—सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा । महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था । वह ठठा कर हँस पड़ा ।

"यह क्या ! चम्पा तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो ।"—कहता हुआ चला गया । चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी सी घूमती रही ।

(५)

निर्जन समुद्र के उपकूल में बेला से टकराकर लहरें बिखर जाती हैं । पश्चिम का पथिक थक गया था । उसका मुख पीला पड़ गया । अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जल निधि विचार में निमग्न था । वह जैसे प्रकाश की उन मलिन किरणों से विरक्त था ।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं । तरङ्ग से उठते हुये पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया । जया के संकेत से एक छोटी सी नौका आई । दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया । जया नाव खेने लगी । चम्पा मुग्ध सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी ।

"इतना जल ! इतनी शीतलता !! हृदय की प्यास न बुझी । पी सकूँगी ? नहीं । तो जैसे बेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी समान रोदन करूँ या जलते हुये उस स्वर्ण-गोलक के सदृश अनन्त जल में डूबकर बुझ जाऊँ ?"—चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में चौथाई—आधा फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया । एक दीर्घ निःश्वाँस लेकर चम्पा ने मुँह फिरा लिया । देखा तो महानाविक का बजरा उसके पास है । बुद्धगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया । चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई । दोनों पास-पास बैठ गये ।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जल-मग्न शैलखण्ड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा, तो?"

"अच्छा होता बुद्धगुप्त! जल में बन्दी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है?"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो। बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिये नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नयी प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो......कहो चम्पा! वह कृपाण से अपना हृदयपिण्ड निकाल, अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे!"—महानाविक—जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था—घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल-प्रदेश में नील पिङ्गल सन्ध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्न-लोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्य-पूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये। वहाँ एक आलिङ्गन हुआ जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का। किन्तु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कञ्चुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"—चमक कर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ, मैं क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य-कम्पित कण्ठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास! कदापि नहीं, बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हे घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।"—चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन सन्ध्या तम से अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निःश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्य-तम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा चम्पा! यहीं उस पहाड़ी पर सम्भव है कि मेरे जीवन की धुँधली सन्ध्या उससे आलोक-पूर्ण हो जाय।"

(६)

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी—बहुत दूर तक सिन्धु जल में निमग्न थी। सागर का चञ्चल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था। आज भी शैलमाला पर चम्पा के आदि निवासियों का समारोह था। उन सभों ने चम्पा को वनदेवी सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत से सैनिक और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिये सुदृढ़ दीप स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसका महोत्सव है। बुद्धगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-मालायें फूल उछालती हुईं नाचने लगीं।

दीप स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा—"यह क्या है जया ? इतनी बालिकायें कहाँ से बटोर लाई ?"

"आज रानी का ब्याह है न ?"—कहकर जया ने हँस दिया।

बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोर कर चम्पा ने पूछा—"क्या यह सच है ?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है चम्पा ! कितने बरसों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाये हूँ।"

"चुप रहो महानाविक ! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा ?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा ! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती ! बुद्धगुप्त ! वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय ! आह ! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते !"

जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्धगुप्त और चम्पा एकान्त में एक दूसरे के सामने बैठे थे।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिये। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—"चम्पा ! हम लोग जन्मभूमि भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किये है ! स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश ! वह महिमा की प्रतिमा, मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता ! जानती हो, इतना महत्व प्राप्त करने पर भी मैं कङ्गाल हूँ। मेरा पत्थर सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्त-मणि की तरह द्रवित हुआ।"

"चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता मैं पाप को नहीं मानता—मैं दया को नहीं समझ सकता—मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़ तम में मुस्कराने लगी; पर पशु बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी, पर मैं न हँस सका।"

"चलोगी चम्पा ! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राज-रानी सी जन्मभूमि के अंक में ? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिये प्रस्थान करें। महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोतपुञ्ज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा ! चलो।"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये। किसी आकस्मिक झटके ने एक पल-भर के लिये दोनो के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा—"बुद्धगुप्त ! मेरे लिये सब भूमि मिट्टी है; सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिये एक शून्य है। प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिये—और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहा-नुभूति और सेवा के लिये।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा चम्पा ! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय र अधिकार रख सकूँगा, इसमें सन्देह है। आह ! किन लहरों में मेरा नाश हो जाय ?"—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी ?"

"पहले विचार था कि कभी-कभी इसी दीप स्तम्भ पर से जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण

करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा—जैसे आकाश-दीप!"

(७)

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम उत्तर की ओर महाजल-व्याल के समान सन्तरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती ही रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन द्वीप-निवासी, उस माया ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश उसकी पूजा करते थे।

काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चञ्चलता से गिरा दिया।

———

श्री जी० पी० श्रीवास्तव

जन्म काल — रचना काल

१९४८ वि० — १९६८

[श्री जी० पी० श्रीवास्तव का जन्म गोंडा जिले में हुआ। बाल्य-काल ही से आप बड़े हँसोड़ और विनोदप्रिय रहे। प्रारंभिक और स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके आप प्रयाग विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये आये और एल-एल बी० की डिगरी प्राप्त की। यद्यपि आप की रुचि साहित्य रचना की ओर स्कूल में पढ़ते समय से ही जाग्रत हो चुकी थी किन्तु कालेज शिक्षा के समय उसका पूर्ण विकास हुआ। कालेज में जो ड्रामें होते थे उसमें आप पूर्ण रूप से भाग लेते थे। आपके लिखे हुये प्रहसन और हास्यपूर्ण नाटक सफलता पूर्वक अभिनीत किये गये। उसी समय आपने 'लम्बी दाढ़ी' आदि कई हास्यपूर्ण नाटक लिखे जो अत्यधिक लोकप्रिय हुये। श्री जी० पी० श्रीवास्तव आधुनिक हिन्दी साहित्य के हास्यरस के प्रधान लेखक हैं। आप की रचनाओं में हास्य की कला इतनी विकसित मात्रा में पाई जाती है कि पढ़ने वाले लोट-पोट हो जाते हैं। आम बोल चाल, मुहावरेदार और आकर्षक भाषा लिखने में आप बड़े पटु हैं। आप की कहानियों और नाटकों में समाज का चित्रण वास्तविकता पूर्ण और मनोरंजक होता है। आप ने कई दर्जन मौलिक हास्यरस की पुस्तकें लिखी हैं। कुछ अंग्रेजी से अनुदित भी हैं। इस समय आप गोंडा में वकालत करते हैं। आपका स्वभाव सरल और मिलनसार है। आपका व्यक्तित्त्व हास्यरस की सुन्दर प्रतिमा है।]

जवानी के दिन

दिन-भर टापते ही बीता। पानी पीने, पान खाने और कमरे से कुछ-न-कुछ लाने के बहाने घर के भीतर सैकड़ों ही बार गया। मगर उनकी एक भी झलक दिखाई न दी। कभी-कभी उनके ढाँचे पर नज़र पड़ भी गयी, तो उनके घूँघट के मारे कुछ दाल न गली। कई दफ़ा जी में आया, कि उनकी ओढ़नी नोंचकर फेंक दूँ, और उनके चाँद से मुख पर चुम्बन की मशीनगन से चटाख-चटाख एकदम फ़ायर करना शुरू कर दूँ, मगर घरवालों के मारे कुछ वश न चला। एक दफ़ा इसी नीयत से बड़ी हिम्मत करके उनके पास तक आँख बचा कर पहुँच भी गया, मगर वह मेरी आहट पाते ही बँदरिया की तरह उचक कर छम से अपनी सास की बगल में हो रहीं। सर से पाँव तक आग लग गयी! जब अपना ही माल खोटा, तो परखैया का क्या दोष! कहो भाई! पिनपिनाता हुआ बाहर चला। क़सम खाई, कि ज़िन्दगी में उनसे फिर कभी न बोलूँगा। चाहे कुछ हो। रास्ते में आम के छिलके पर पैर पड़ गया। टाँग फिसल गयीं और मैं आँगन में धड़ाम से·········कुछ भी नहीं। बुरी बात थी। धोखे में ज़बान से निकल गया। मैंने अपना गुस्सा नौकरों पर खूब निकाला। फिर भी गुस्सा उतरा नहीं, बल्कि और सौ-गुना चढ़ बैठा; क्योंकि इस अड़ाम-धड़ाम और मार-पीट से भी वह कुछ न चौंकीं, और न कमरे के दरवाजे पर झाँकने के ही लिये आयीं। उफ़! कलेजे में गोली लग गयी!

बाहर तबीयत न लगी। भीतर फिर जाना पड़ा; कुछ अपनी खुशी से नहीं, बल्कि टोपी लाने के लिये; क्योंकि एक खास काम याद आ गया, इसलिये बाज़ार जाना ज़रूरी पड़ गया। मगर टोपी उन्हीं के कमरे में थी। खैर! उनसे बोलने की क़सम खाई थी, कमरे में जाने

की नहीं। इसलिये वहाँ जाने में कोई हर्ज न था। धड़धड़ाता हुआ चला गया। वह चारपाई पर लेटी हुई थीं। हड़बड़ा कर उठ बैठीं, और कोने की तरफ़ मुँह करके खड़ी हो गयीं। मैंने टोपी ली। घण्टा-भर तक आइने के पास खड़े होकर टोपी सम्भालता रहा। मगर हाय ! ज़ालिम ने मुझसे इतना भी न पूछा, कि कहाँ जा रहे हो ? मैं मारे ग़ुस्से के चुक़न्दर हो गया। एक दफ़ा और कसके क़सम खाई, कि अब उनके पास जाऊँगा भी नहीं। बाहर निकल आया। घबराहट में छतरी लेना भूल गया। धूप कड़ी थी। सड़क पर जाने की हिम्मत न पड़ी। छतरी भी उन्हीं के कमरे में होगी; क्योंकि मेरी चीज़ें ज्यादातर वहीं मिलती हैं। मगर अब छतरी लाने किस तरह जाऊँ ? बीच में तो क़सम का रोड़ा अटक गया। मगर मजबूरी भी तो कोई चीज़ है। इसके आगे भला क़समों की रुकावट कहाँ ठहर सकती है ? क्योंकि क़सम मैंने खाई थी; कुछ मेरी मजबूरी ने नहीं। इसलिये मजबूरन मैं 'छतरी-छतरी' चिल्लाता हुआ मकान के अन्दर चला। मगर उनके कमरे तक अभी पहुँच भी न सका था, कि 'टेसुआ' कम्बख़्त ने न जाने कहाँ से लाकर मेरी छतरी मेरे हाथ में दे दी। मूर्ख को इतनी मुस्तैदी से इसी वक्त काम करना था !

छतरी का कपड़ा एक तीली से निकल गया था। बिना सिलाये ऐसी छतरी लगा कर चलना अच्छा नहीं मालूम होता। मगर फिर वही मुसीबत गले पड़ी, कि मैं उनसे छतरी सीने के लिये किस तरह से कहूँ, जब बोलने की क़सम खाली है ? इसलिये अम्माँ से कहा, कि कपड़ा तली से निकल गया है; ताकि वह उनसे सी देने को कह दें। मगर अम्माँ भी बड़ी बेवक़ूफ़ निकलीं। उन्होंने चट सुई-डोरा लेकर खुद ही उसे ठीक कर दिया अब तो मुझसे बरदास्त न हो सका, इसलिये भुनभुनाता हुआ कोठे पर चढ़ गया।

अपने कमरे में बड़ी देर तक अकेला टहलता रहा, जिससे दिमाग़ की गर्मी उतर जाये, तो बाज़ार जाऊँ। ग़ुस्सा कुछ मद्धिम पड़ा।

मगर धूप में अभी गर्मी थी। इसलिये कुछ देर और इन्तज़ार करना मुनासिब मालूम हुआ। मगर बेकार बैठना भी ठीक नहीं। क्या करूँ ? सोचा, तब तक दाढ़ी ही बनालूँ। गोकि सुबह को नाई ने बाल काटते वक्त हजामत भी बना दी थी, पर सबेरे की भी बनाई हुई, दाढ़ी रात तक अपनी चिकनाहट नहीं रखती। मगर मेरे कमरे का आइना उतना साफ़ न था, जितना उनके कमरे का शृङ्गारदान। क्या करता ? तबीयत तो मेरी उनके कमरे में अब भूल कर भी कभी जाने की न थी, तो भी काम ही ऐसा पड़ गया, कि उस्तरा, कूची और साबुन लिये, सर लटकाये, कोठे से उतर कर मुझे उनके कमरे में जाना पड़ा।

मगर धत्तेरेकी ! उनका कमरा इस बार बिल्कुल खाली था खैर ! मुझे इससे क्या मतलब ? मुझे तो अपना काम करना था। इसलिये शृङ्गारदान के सामने बैठ गया, और डेढ़ घण्टे तक कूची गालों पर रगड़ता रहा; क्योंकि जितनी ही देर तक दाढ़ी भिगोयी जाती है, उतनी ही आसानी से बनती भी है। उसके बाद पौने दो घण्टे तक उस्तरे से काम लिया। सुबह की बनाई हुई दाढ़ी जब शाम को बनाई जाती है, तब उसमें दीदारेज़ी करनी ही पड़ती है ढूँढ़-ढूँढ़ कर उगे हुये बाल निकाले जाते हैं। वरना वैसे तो उनका पता ही लगना मुश्किल है।

मगर इतनी देर हो गयी, और अब तक कमरे में कोई झाँकने भी न आया यह बहुत बुरा मालूम हुआ; क्योंकि किसी को अपना कमरा इस तरह लापरवाही के साथ छोड़ रखना ठीक नहीं। तभी तो नौकर-चाकर चोरी करने का मौक़ा पाते हैं। मगर नहीं। शायद वह कमरे में ही हों ! इसलिये मैंने बिछावन उलटा। मेज़ के नीचे, चारपाई के नीचे, ग़रज़ कि कोना-कोना सब जगह ढूँढ़ा—मगर कहीं कोई आदमी दिखाई न दिया।

शाम की अँधियारी छा गयी और वह अब तक चिराग़ लेकर भी नहीं आयीं। सारा देश स्त्री-शिक्षा, स्त्री-शिक्षा चिल्लाता है मगर

कोई कम्बख्त स्त्रियों को जोरू-गिरी की शिक्षा नहीं देता। भला ऐसी औरतों से क्या खाक देश सुधर सकता है, जिन्हें इतनी भी तमीज़ नहीं आयी, कि शाम को अपने कमरों में चिराग़ जला देना चाहिये ! इन्हीं बातों पर अगर मर्द लोग शादी करना बन्द कर दें, तो औरतों का मिज़ाज़ अभी ठीक हो जाय। मगर कम्बख्तों में एका तो है नहीं, यही तो रोना है। ब्याह बन्द न करें, तो कम से कम इतना ही करें, कि सिर्फ़ वही औरतें जोरू बनायी जाये, जिनके पास जोरू-गिरी के कई एक सार्टिफ़िकेट हों। देखिये, बस, सब गड़बड़ी ठीक हो जाती है, या नहीं।

कहाँ तक उनके कमरे में बैठता ! आखिर निकलना ही पड़ा। आँगन में अम्माँ ने पूछा —"कहाँ थे ! बड़ी देर से तुम्हारा आसरा देख रही थी।"

मैंने पूछा,- "क्यों ?"

उसने कहा—"आज बाबू श्यामबिहारी के यहाँ तुम्हारी दावत है। नाई निमन्त्रण दे गया है।"

मैं जल-भुनकर खाक हो गया। मेरे घर क्या खाने को नहीं था, जो बाबू साहब ने मुझे बुलावा भेजा ! आधी रात दावत खाने में निकल जायगी, तो मैं सोऊँगा कब ! तन्दुरुस्ती का भी कुछ खयाल रखना चाहिये। इसलिये मैंने झल्लाकर कहा—"मैं दावत में नहीं जाऊँगा। मेरे सर में दर्द है।" और मैं कोठे पर जाकर सरे-शाम से ही लम्बा लेट गया।

मगर अम्माँ की ना-समझी कहाँ तक कहूँ ? वह चटसे लौंग पीसकर ले आयीं, और लाख मना करने पर भी मत्थे पर लेप करदी। पहले तो दर्द न था। मगर अब तो सारी खोपड़ी भिन्ना गई। उस पर तुर्रा यह, कि तमाम घरवाले, नौकर-चाकर सभी आकर मेरे कमरे में डट गये, और ऐसे, कि कम्बखत दस बजे रात तक निकाले से भी नही निकले।

वहाँ न आनेवालों में सिर्फ मेरी वही थीं; क्योंकि सब के कोठे पर चले आने से चौके की रखवाली उन्हीं को करनी थी। गोया चौकीदारी का हुनर बस उन्हीं को तो मालूम है, और किसी को नहीं।

जब किसी तरह से तीमारदारों से पिण्ड न छूटा तो मुझे मजबूरन कहना पड़ा, कि मैं बिल्कुल अच्छा हो गया। फिर भी कम्बख्तों ने मुझे साबूदाना खिलाकर ही छोड़ा और चौके में खाना खाने न जाने दिया। मैं यहाँ इस इन्तज़ार में ही था, कि कोई-न-कोई मुझे चुपके-से रसोई जीमने को बुलाने आयेगा, और वहाँ सब लोगों ने खा-पीकर चौका उठा दिया, तब तो मुझे बड़ा गुस्सा मालूम हुआ। जी में ठान लिया, कि मैं इसकी कसर उनसे ज़रूर निकलूँगा। भलमनसाहत से बोलने या उनके पास जाने की क़सम खाई थी, मगर गुस्से में डाँटने-फटकारने या मारने-पीटने की नीयत से उनके पास जाने में कोई बुराई न थी; क्योंकि असली चीज़ तो नीयत होती है। जहाँ यह बदली, वहाँ बात भी बदल गई—चाहे यों देखने में वह बदली हुई न मालूम हो। इसलिये अब उनके पास जाने में मेरी क़सम टूट नहीं सकती।

मगर जाऊँ तो किस तरह जाऊँ ! घरवाले, मालूम होता है, कि आज 'रतजगा' की रस्म करनेवाले हैं। तभी तो आधी रात हो गई, और अब तक नीचे बक-बक, झक-झक लगाये हुये हैं। उन लोगों के सामने भला मारना-पीटना किस तरह हो सकता ! इसलिये खून का घूँट पीकर अपने कमरे में चुपचाप अकेला ही पड़ा रहा।

इतने में सीढ़ियों पर कुछ झुनझुनाहट की आवाज़ सुनाई दी। मैं समझ गया, कि वह आ रही हैं। मगर मैं तो गुस्से में भरा बैठा था। मुझे इतनी ताब कहाँ थी, कि मैं उनको यहाँ तक आने की मुहलत देता ! इसलिये तड़पकर पलँग से उठा और झपटकर सीढ़ियों पर दौड़ा, ताकि रास्ते में ही उनका गला घोंट दूँ। मगर अँधेरे में चौखट से खोपड़ी फूट गई; फिर भी गिरता-पड़ता सीढ़ियों पर दौड़ ही गया और

उनको एक दम गोद में उठा लिया। गबराहट में उनके हाथ से भरा लोटा छूट गया, और मेरी धोती एकदम भीग गई। मैं समझ गया, कि यह पाजीपन जान बूझकर किया, जिससे मैं उन्हें छोड़ दूँ; मगर मैं कहाँ मानने-वाला था? मारे गुस्से के उनको दाँतों से काटने लगा। इसके सिवाय और कर क्या सकता था? क्योंकि उनको उठाये रहने के कारण मेरे दोनों हाथ बँधे हुये थे। थप्पड़ मारने का मौक़ा न था। इसलिये बजाय हाथ के दाँत इस्तेमाल करने पड़े, मगर अफ़सोस है, कि उनके सिर्फ़ गाल और ओंठ ही काट सका; और कोई अङ्ग मेरे मुँह के सामने पड़ा ही नहीं। फिर भी मेरा गुस्सा उतरा नहीं। इसीलिये मैंने उनको लिये दिये अपने कमरे में लाकर पलँग पर दे मारा, ताकि इतमीनान के साथ हाथों से भी कुटुम्बस कर सकूँ। मगर ज्यों ही लैम्प की रोशनी उनके चेहरे पर पड़ी, त्यों ही मैं चीख़ उठा! क्योंकि अब मालूम हुआ कि मैं उसके बदले में टेसुआ को पकड़ लाया हूँ। यह साला चाभियों का गुच्छा बजाता हुआ, पानी रखने ऊपर आ रहा था। इसलिये मैं धोखा खा गया। धत्तेरे की! जी में आया—इस पाजी को कच्चा चबा जाऊँ। मगर उसे चार आने पैसे देकर विदा करना ही मुनासिब।मालूम हुआ।

भीगी धोती कब तक पहने रहता! मगर मेरे कमरे में उस।वक्त और कोई धोती भी न थी। हाँ, पतलून अलबत्ता खूँटी पर टँगा हुआ था। इसलिये सर्दी लग जाने के डर से पहनना पड़ा। इतने में किसी ने पीछे से कहा—"इस वक्त कहाँ चले?"

घूमकर देखा, तो आप खड़ी थीं। बस, बदन में आग ही तो लग गयी। दाँत पीसकर कहा—"अब आप तशरीफ़ लायी हैं! क्या ज़रूरत थी, आने की?"

वह—"अच्छा, तो जाती हूँ।"

यह कहकर वह सचमुच चली गयीं। अब तो मुझसे न रहा गया।

मैं उनके पीछे दौड़ा, और लपककर उनका हाथ पकड़ना चाहा। मगर वह तो साफ़ निकल गयीं। हाँ, उनकी कोई चीज़ मेरे हाथ में अलबत्ता आ गई और वह भी बदहवासी में मेरे हाथ से छूट गयी। लालटेन लाकर देखा, तो मालूम हुआ, कि 'हस्नेहिना' की शीशी टूटी पड़ी हुई है, और उसका तमाम 'सेण्ट' ज़मीन पर बह रहा है।

अगर कोई चीज़ उनकी मुझसे टूट गई, तो मैं कोई जोरू का टट्टू नहीं हूँ, कि उनका अहसान लादूँ, और उन से दबकर रहूँ। इसलिये दिल में ठान लिया, कि इसके बदले में 'स्नोहिमा' की नई शीशी अभी लाकर दूँगा, चाहे कुछ हो। बस मैं नीचे उतरा। चुपके से दरवाज़ा खोला, और बाइसिकिल निकाल कर उसी वक्त बाज़ार चल दिया।

यहाँ के दूकानदार भी अजब बेवक़ूफ़ होते हैं। सरे-शाम से ही जब दूकानें बन्द कर देते हैं, तब उन्हें क्या ख़ाक फ़ायदा हो सकता है! सारे बाज़ार में घूमा, मगर कोई भी दूकान खुली हुई न मिली। इतने में घण्टा-घर में टन से एक बजा। इस वक्त भला कहीं एक बज सकता है? यह किसी घण्टे का आधा होगा। इसलिये मैंने इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया।

मैं किसी न किसी दूकानदार को घर से जगाकर दूकान खुलवाने की फ़िक्र में था कि इतने में ही कोई आदमी मेरी बाइसिकिल के सामने आ गया। वह गिर पड़ा, तो मैं क्या करूँ? मैं भी तो उसकी वजह से गिरा और बाइसिकिल टूटी, सो अलग। मगर वह कम्बख्त पहरेवाला कॉन्स्टेबिल निकला। फिर वह कहाँ अपनी ग़लती मान सकता था। क्योंकि पुलिसवाले भला खुद मुजरिम किस तरह हो सकते हैं? इसलिये वह मुझसे लड़ने लगा। डेढ़ घण्टे तक हम में बहस होती रही। मैं उसे कायल नहीं कर सका। आखिर वह बिना लैम्प रात के वक्त बाइसिकिल पर चढ़ने की इल्लत में मेरा चालान करने के लिये मेरी बाइसिकिल

लेकर कोतवाली की तरफ़ चला, और मैं मौका पाकर साइकिल छोड़, अपने घर की तरफ़ भागा।

घर का दरवाजा बन्द मिला। गुस्से से मैं रुआँसा हो गया, क्योंकि मेरा बाहर जाना अगर और किसी को मालूम न था, तो कम से कम वह तो जानती थीं, क्योंकि वह खुद ही पूछ चुकी थीं, कि इस वक्त कहाँ जा रहे हो। तब उन्होंने दरवाजा क्यों बन्द कर दिया! मैं रात भर के लिये तो बाहर गया ही न था। घण्टे-आध घण्टे में लौटता ही और गया भी था, तो उन्हीं की चीज़ लाने के लिये। उस पर यह अन्धेर, कि उन्होंने दरवाज़ा ही बन्द कर दिया! अगर पुकारता हूँ, तो सब जग जायेंगे और उनसे मुलाक़ात होना ग़ैर-मुमकिन हो जायेगा। मैं उनसे मिलना तो चहता न था, मगर गुस्सा उतारने के लिये उनके पास तक पहुँचना भी तो ज़रूरी था। इसलिये कलेजा मसोसकर अपने ही दरवाजे पर चोर की तरह घण्टों दबका खड़ा रह गया।

न-जाने कितनी देर के बाद "टेसुआ" किसी ज़रूरत से दरवाज़ा खोलकर बाहर निकला, और मैं चुपके-से अन्दर हो गया। मगर वह न अपने कमरे में मिलीं और न मेरे में। इसलिये मैं ,लालटेन लेकर हर सोनेवालों को चुपके-चुपके मुँह देखने लगा, ताकि फिर कहीं उनके धोखे में किसी दूसरे को जगा न बैठूँ। कम्बख्ती के मारे भाई साहब मुँह ढके सो रहे थे। इसलिये मुझे उनकी चद्दर हटाकर लालटेन से मुँह देखना पड़ा, मगर उन्होंने आव देखा न ताव, उठकर धाँय-धाँय मेरी पीठपर दो घूँसे लगाये और गालियाँ दीं, सो अलग कि "हरामज़ादा बदमाश! जानता है, कि मेरी आँखें उठी हैं। उस पर तू मेरी आँखों को लालटेन दिखाता है? साले! सुबह ही तुझे निकालता हूँ।" चलो, बड़ी खैर हुई, कि उन्होंने मुझे टेसुआ समझा इसलिये चुपके-से कोठे पर चला जाना ही अब बेहतर समझा।

मगर सोना बेकार था; क्योंकि घड़ी में पौने पाँचबजे थे। मैं धोती पहनकर फिर नीचे आ गया। इस बार वह लोटा लिये कहीं जा रही थीं।

और सब लोग बिस्तर पर ही थे। उनसे मिलने का यह बड़ा अच्छा मौका था। इसलिये मैं उनके सामने गया। वह कतराकर जाने लगीं। मगर मैं ऐसा बेवकूफ़ न था, उनको इस तरह निकल जाने देता। इसलिये लपककर मैंने उनका हाथ पकड़ ही तो लिया, मगर जब तक मैं अपना गुस्सा दिखाने के लिये उनसे कुछ कहता, तब तक उन्होंने झुँझला कर अपना हाथ छुड़ा लिया और डपटकर बोली—"खबरदार! मेरा हाथ न छुओ। जाओ, वहीं रहो; जहाँ रात-भर रहे। बस, अब तुम से मुझसे कोई मतलब नहीं।"

वह तिनकती हुई चली गयीं, और मैं हक्का-बक्का मुँह बाये वहीं खड़ा रह गया!!

———

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

जन्म काल रचनाकाल

१९४८ वि० १९७० वि०

[आपका जन्म अम्बाला छावनी (पंजाब) में हुआ। आज कल आप बङ्गाली मुहाल, कानपुर में रहते हैं। कौशिक जी हिन्दी के उन कहानी लेखकों में हैं जो बड़े ही लोकप्रिय हैं। दैनिक जीवन में घटने वाली साधारण घटनाओं का चित्रण आपकी कहानियों में इतना वास्त-विकता पूर्ण होता है कि जिसका हृदय पर यथेष्ठ प्रभाव पड़ता है। कई उपन्यास और कहानी-संग्रह आपके अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। द्विवेदी काल के कहानी लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है।

'कौशिक' जी की हास्यपूर्ण कहानियाँ लिखने में अपनी एक विशेषता है। 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' हिन्दी में आपकी हास्यपूर्ण कहानियों का संग्रह अत्यन्त लोकप्रिय है। आपका हास्य अत्यन्त प्रभावशाली और सुरुचिपूर्ण होता है और प्रायः दैनिक जीवन की आकर्षक घटनाओं तथा समस्याओं को लेकर लिखा जाता है।

हिन्दी के पुराने कथाकार होते हुये भी आज भी आप द्रुत गति से अपनी सुन्दर रचनाओं के द्वारा हिन्दी का भण्डार भरते जा रहे हैं। आपकी भाषा शैली स्वाभाविक, प्रभावोत्पादक और मुहावरेदार होता है। आप बड़े हँसमुख, सरल और मिलनसार हैं,]

---.*:*:*:---

वह प्रतिमा

स्मृति—वह मर्म-स्पर्शी स्मृति, जो हृदय-पृष्ठ पर करुणोत्पादक भावों की उस पक्की और गहरी-स्याही से अंकित की गई है, जिसका मिटना इस जन्म में कठिन ही नहीं,प्रत्युत असम्भव है। आह! वह स्मृति कष्ट-दायिनी होने पर भी कितनी मधुर और प्रिय है! उस स्मृति से हृदय जला जाता है, तन-मन राख हुआ जाता है, फिर भी उसे मिटाने की चेष्टा करने को जी नहीं चाहता। वह स्मृति वह मीठी छुरी है जिसकी तेज़ धार से हृदय लहू-लुहान हो रहा है; परन्तु उसमें वह मधुरता है, वह मिठास है कि, उसे कलेजे से दूर करने को जी नहीं चाहता। क्यों?- इसलिये कि वह उस प्रेम-प्रतिमा की स्मृति है, जिसके प्रेम के मूल्य को, जिसकी कर्त्तव्यशीलता की गहराई को मैं उस समय समझा, जब वह मुझसे सदैव के लिये बिछुड़कर मृत्यु के परदे में अदृश्य हो रही थी। उस प्रेम की पुतली का असली रूप मैंने उस समय देखा जब मृत्यु के यवनिका के बन्धन खुल चुके थे, और वह धीरे-धीरे हम दोनों के बीच गिर रही थी। उसका असली जाज्वल्यमान स्वरूप देखकर मेरी आँखें झपक गईं, और फिर उस समय खुलीं, जब निष्ठुर यवनिका उसे अपनी ओट में छिपा चुकी थी।

* * *

मेरा विवाह उस समय हुआ था, जब मेरी आयु १६ वर्ष की थी। विवाह के दो ही वर्ष बाद गौना भी हो गया था। मेरी स्त्री चमेली साधारण सुन्दरी और कुछ पढ़ी-लिखी भी थी। अधिक सुन्दरी न होने पर भी उसमें दो-एक ऐसी बातें थीं, जो हृदय को अपनी ओर उसी प्रकार खींचती थीं, जिस प्रकार सौन्दर्य खीच सकता है। वे बातें क्या थीं? आह! उनकी याद आने पर आज भी कलेजे में हूक उठती है। सच

तो यह है कि केवल उन हाव-भावों पर ही कोई भी हृदय अनुपम सौन्दर्य को न्यौछावर कर सकता है। वे बातें थीं--उसकी लजीली आँखें, उसकी मन्द मुसकान। उसका लजाकर मन्द मुस्कान के साथ आँखें नीची कर लेना बड़े-से-बड़े सौन्दर्य का रङ्ग फीका कर देता था। गौना होने के पश्चात् तीन-चार वर्ष तक हम दोनों के दिन बड़े सुख से कटे। इस बीच में दो सन्तानें भी हुईं। उनमें एक पुत्र अभी तक जीवित है। एक कन्या हुई थी। वह कुछ ही महीनों बाद मर गई। कन्या उत्पन्न होने के पश्चात् हमारे सुखमय जीवन पर पाला पड़ गया। विधाता से हम दोनों का वह जीवन, जिसमें किसी प्रकार के भी दुःख का लेश-मात्र न था सीधी आँखों न देखा गया। परिणाम यह हुआ कि चमेली रोग ग्रस्त हो गई। न जाने किस अशुभ-घड़ी में रोग का आगमन हुआ कि उसने प्राण लेकर ही छोड़ा। रोग था राजयक्ष्मा। यह वह रोग है, जो मनुष्य को घुला-घुलाकर मारता है। इस रोग में मनुष्य बरसों तक जीवित रहता है, पर स्वस्थ एक क्षण के लिये भी नहीं होता। यही हाल चमेली का भी हुआ। यद्यपि रोग ग्रस्त होने के पश्चात् वह छः सात वर्ष तक जीवित रही, परन्तु स्वस्थ पूरे एक महीने भी न रही। कभी-कभी ऐसी दशा हो जाती थी कि सरसरी दृष्टि से देखने पर कोई रोग न मालूम होता था; पर तब भी उसका जी उदास रहता था। किसी काम में उसका जी न लगता था। केवल इन्हीं बातों से पता चलता था कि रोग ने उस पर से अपना अधिकार नहीं उठाया है।

एक वर्ष तक तो मैं उसकी दशा पर बड़ा चिन्तित रहा। दवा, दारू भी खूब की। परन्तु इसके पश्चात् मेरा जी कुछ ऐसा ऊब उठा कि मैंने उसे ईश्वर के भरोसे पर छोड़ दिया। साधारणरूप से चिकित्सा होने के अतिरिक्त और कोई विशेष चेष्टा न की।

चिकित्सकों से मुझे यह मालूम हुआ था कि राजयक्ष्मा बड़ा संक्रामक रोग है। अतएव आप भी उसी रोग से ग्रस्त हो जाने के भय से मैंने उसके पास बैठना-उठना भी कम कर दिया था। इसके अतिरिक्त एक

यह भी कारण था कि उसका कान्ति-हीन मुख और दुबला-पतला शरीर देखकर मेरा हृदय दुःखित होता था, और सच तो यह है कि कुछ ग्लानि भी होती थी। मेरे परिवार में मेरी माता और दो छोटी भावजें थीं इस कारण गृहस्थ-सम्बन्धी सब काम वे ही करती थीं। यह भी एक कारण था कि, जिससे मुझे उससे अधिक सम्पर्क रखने की आवश्यकता न पड़ती थी। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक उससे मेरी बात-चीत तक न होती थी। मेरी इस उदासीनता को चमेली भी जानती थी; पर उसके सम्बन्ध में उसने मुझसे कभी शिकायत नहीं की।

(२)

इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया। इन दिनों मेरी चित्त-वृत्ति बिलकुल बदल गई थी। अब मुझे घर में एक क्षण रहना भी कष्टदायक मालूम होता था। जबतक बाहर रहता, चित्त प्रसन्न रहता था, परन्तु घर में आते ही चित्त उदास और खिन्न हो जाता था इसलिये दिन में केवल दो-तीन घण्टे घर में रहता था, और उधर रात को दस-ग्यारह बजे के पहले घर न लौटता था। मुझे नशेबाजी इत्यादि दुर्गुणों और दुर्व्यसनों की भी लत पड़ गई थी, क्योंकि मेरा हृदय सदैव आनन्द और प्रसन्नता के लिये लालायित रहता था। इन दुर्व्यसनों में मुझे आनन्द मिलता था।

एक दिन मैं दोपहर में बैठा हुआ उपन्यास पढ़ रहा था। सहसा किसी के आने की आहट पाकर मैंने सिर उठाया। सामने चमेली को देखकर कुछ सिटपिटा गया, क्योंकि मैं उससे सदैव अलग-अलग रहने की चेष्टा किया करता था। मैंने शिष्टाचार के नाते चमेली से कहा—"आओ बैठो, कहो अब जी कैसा रहता है?"

चमेली मेरे सामने बैठ गई, और उदास स्वर में बोली—"जैसा है, वैसा ही रहता है।"

मैं—"आखिर कुछ मालूम तो हो, पहले से कुछ अच्छा है, या कुछ......?"

चमेली—"अच्छा तो क्या, किसी-न-किसी प्रकार जी रही हूँ। जीवन के जितने दिन हैं, वे तो किसी-न-किसी प्रकार पूरे ही करने पड़ेंगे।"

मैं कुछ कहने के अभिप्राय से बोला—"हाँ यह तो ठीक ही है। क्या करें, इतनी दवा-दारू हुई और हो रही है, पर अभी तक कुछ भी फ़ायदा न हुआ।"

चमेली इस बात पर ध्यान न देकर बोली—"आज बीस दिन बाद तुमसे बात-चीत करने का अवसर मिला है।"

मैं—"बीस दिन! अभी आठ-दस दिन हुये, जब मैं तुमसे मिला था।"

चमेली—"तुम्हें बीस दिन आठ-दस दिन ही समझ पड़ते हैं, पर मेरे लिये तो बीस दिन बीस ही दिन हैं।"

मैंने कुछ लज्जित होकर कहा—"सम्भव है, बीस दिन हो गये हों। जब से तुम बीमार रहने लगीं, तब से मिलने-जुलने का सुयोग ही नहीं लगता।"

चमेली—"सुयोग तो तब लगे, जब सुयोग के लिये कुछ चेष्टा की जाय।"

मेरा हृदय धड़कने लगा! अन्तःकरण पर कुछ चोट-सी लगी; क्योंकि चमेली की इस बात में सत्यता का बहुत कुछ अंश था।

मैंने उपन्यास के पृष्ट उलटते हुये कहा—"माता इत्यादि के रहते हुये इस प्रकार की चेष्टा करना कुछ भद्दा-सा मालूम होता है।"

कहने को तो यह बात कह गया, परन्तु मुझे खुद यह बात बेतुकी सी मालूम हुई; क्योंकि एक वह समय भी था, जब माता इत्यादि के

रहते हुये भी मैं जितनी बार चाहता था, चमेली से मिलने का सुअवसर उत्पन्न कर ही लेता था।

चमेली ने भी यही बात कही। वह बोली—"मेरे बीमार होने के पहले भी तो माता और भौजाइयाँ थीं।"

इसका उत्तर मैं कुछ न दे सका। मुझे चमेली का बैठना बुरा मालूम हुआ। मैं मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि कोई कारण ऐसा उत्पन्न हो जाय, जिससे चमेली मेरे पास से उठ जाय। आह! कैसा विकट परिवर्तन था। जिस चमेली के दर्शनों के लिये मैं मकान के कोने और कोठरियों में छिपा खड़ा रहता था, उसी चमेली का पास बैठना आज मुझे बुरा मालूम हो रहा था!

चमेली कुछ देर तक चुप रहकर बोली—"लज्जित क्यों होते हो? लज्जित होने का कोई कारण नहीं। मैं इस बात से जरा भी रुष्ट नहीं हूँ। मैं जानती हूँ कि मुझ में अब ऐसा कोई आकर्षण नहीं रहा जो तुम्हें मेरे पास आने के लिये विवश करे।"

मैंने विकल होकर कहा—"आज तुम्हें यह क्या सूझा है, जो वाहियात बातें मुँह से निकाल रही हो?"

चमेली एक लम्बी साँस लेकर बोली—"वाहियात बातें नहीं, सच्ची बातें हैं। मुझे कोई शिकायत नहीं, पर कुछ दुःख अवश्य है। तुम्हें यह ध्यान रखना चाहिये कि सब का जी तुम्हारा सा नहीं है।"

मैंने कुछ रुष्ट होकर कहा—"देखो चमेली, यदि तुम ऐसी निरर्थक बातें करोगी, तो मैं उठकर चला जाऊँगा।"

चमेली के नेत्रों में आसू छलछला आये—उन्हीं नेत्रों में, जिन्हें देखकर मैं कभी मतवाला होजाता था। परन्तु आज, उन नेत्रों को अश्रुपूर्ण देखकर मेरा हृदय पसीजा तक नहीं।

चमेली ने कहा—"यदि तुम्हें ये बातें बुरी मालूम होती हैं, तो न कहूँगी। हाँ यदि तुम एक बात मानने का वचन दो, तो कहूँ।"

मैं—"कौन सी बात ?"

चमेली—"मानोगे ?"

मैं—"यदि मानने योग्य होगी।"

चमेली—"तुम दूसरा विवाह कर लो।"

मैं चौंक पड़ा। ऐं—दूसरा विवाह ! और चमेली खुद उसका प्रस्ताव करे ! मैंने कुछ देर तक चुप रहकर कहा—"तुम ऐसा क्यों कहती हो ?"

चमेली—"इसलिये कि तुम्हें उसकी आवश्यकता है। मैं तो इस योग्य ही नहीं रही कि आपकी कुछ सेवा कर सकूं। इसीलिये दूसरा विवाह कर लेना ठीक है। मेरे लिये तुम अपने जीवन को दुःखमय क्यों बना रहे हो ? इससे मुझे भी बड़ा दुःख है। मैं तुम्हें उदास और चिन्तित देखती हूँ। मुझे यह भी मालूम है कि तुम किसी दिन भी रात को बारह बजे के पहले घर नहीं लौटते। मैं यह जानती हूँ कि घर में तुम्हारा जी नहीं लगता। इन सब बातों का कारण भी मैं जानती हूँ। मैं रात-दिन ईश्वर से प्रार्थना किया करती हूँ कि वह मुझे शीघ्र उठा लें, और तुम विवाह करने के लिये स्वतन्त्र हो जाओ। परन्तु मेरी प्रार्थना जल्दी स्वीकार होती दिखाई नहीं पड़ती इसलिये मैं यह चाहती हूँ कि तुम विवाह कर डालो।"

चमेली की इस बात ने मुझे चिन्ता-सागर में डाल दिया। कई बार मेरे हृदय में भी यही विचार उत्पन्न हुआ था कि यदि चमेली आरोग्य नहीं होती, तो मर ही जाय, और मुझे दूसरा विवाह करने की स्वतन्त्रता मिल जाय। ओफ् ! मैं नहीं समझता कि मेरे हृदय में यह विचार कैसे आता था। जिस चमेली का सिर कुछ दुखने से ही मुझे अत्यन्त कष्ट पहुँचता था, उसी चमेली का मरना मैं मनाता था ! सच तो यह है कि इन्हीं बातों के प्रायश्चित्त स्वरूप आज घोर मानसिक क्लेश भोग रहा हूँ।

मैंने कहा—"नहीं, मैं विवाह न करूँगा। तुम्हारे रहते मैं विवाह करूँ, ऐसा कभी संभव हो सकता है?"

चमेली—"हानि ही क्या है! जब मैं इस में राजी हूँ, तब तुम क्यों हिचकते हो?"

इच्छा न रहने पर भी मेरे मुँह से सच्ची बात निकल गई। मैंने कहा—"मैं यदि विवाह करने के लिये तैयार भी हो जाऊँ, तो माता और भाई साहब इसे कब स्वीकार करेंगे!"

चमेली—"मैं जब कहूँगी, तो स्वीकार कर लेंगे।"

मैं—"ईश्वर के लिये कहीं ऐसा कर भी न बैठना, नहीं माताजी तो मुझे खा जायँगी। तुम इस फेर में मत पड़ो, मैं विवाह-इवाह कुछ न करूँगा।"

चमेली—"मेरे पीछे तुम दुःख क्यों उठाते हो!"

मैं—"मुझे कोई दुःख नहीं। केवल तुम्हारी बीमारी और कष्ट से अवश्य दुःख होता है; पर उसके लिये क्या किया जाय! ईश्वर ही को मजूर है कि हमें यह दुःख हो।"

चमेली ने पर कुछ नहीं कहा, और थोड़ी देर के बाद वह मेरे पास से उठकर चली गई।

(३)

एक वर्ष और व्यतीत हुआ। चमेली की वही दशा थी। न तो रोगमुक्त होती दिखाई पड़ती थी, और न जीवन-मुक्त। कभी-कभी मुझे उस पर बड़ा तरस आता था। कारण, मृत्यु की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त उसके लिये संसार में कोई और काम ही न था। संसार में कोई वस्तु ऐसी न थी, जो उसका मनोरंजन कर सकती। परन्तु इतना होते हुये भी उसका लक्ष्य मेरे सुख-दुःख की ओर विशेष रहता था। वह

सदैव मेरे ही सुख-दुःख का ध्यान रखती थी वह मेरे अलग-अलग रहने पर भी मुझे प्रसन्न और सुखी रखने की चिन्ता में रहती थी। यद्यपि उसका शारीरिक सौंदर्य नष्ट हो गया था, परन्तु हार्दिक सौंदर्य वैसा ही बना हुआ था; बल्कि पहले की अपेक्षा भी कुछ बढ़ हीं गया था। यद्यपि वह पुष्प मुरझा गया था, सूख गया था, परन्तु वह गुलाब का पुष्प था, कि जो सूख जाने पर भी अपनी सुगन्ध नहीं छोड़ता। इसके प्रतिकूल मेरे हृदय में कितना गहरा परिवर्तन हो गया था! मेरा हृदय-भ्रमर उस पुष्प की सुगन्ध की जरा भी पर्वाह नहीं करता था। भ्रमर को सुगन्ध से क्या सरोकार! वह तो केवल रस चाहता है। सुगन्ध होते हुये भी वह नीरस पुष्प के पास नहीं फटकता।

एक दिन मैंने अपने पुत्र ज्ञानू को, जिसकी उम्र उस समय सात वर्ष की थी, किसी साधारण अपराध पर पीट दिया। वह रोता हुआ अपनी माँ के पास गया। केवल इसी बात पर चमेली ने दूसरे दिन मुझ से कहा—"कल तुमने ज्ञानू को बड़ी बुरी तरह मारा।"

मैंने कहा—"उसने काम ही मार खाने का किया था।"

चमेली आँखों में आंसू भरके बोली—"उसे मारा न करो।"

मैंने कहा—"क्यों?"

चमेली—"मुझे बड़ा दुख होता है।"

मुझे उसकी इस बात पर कुछ हँसी आई। सभी बच्चे कुछ-न-कुछ मारे-पीटे जाते हैं। इसमें इतना दुख अनुभव करने की क्या आवश्यकता! मैंने चमेली से कहा—"अपराध करने पर तो ताड़ना की ही जाती है। इसमें तुम्हारा इतना दुःख मानना बिलकुल निरर्थक है।"

चमेली—"मेरे इतना दुःख मानने का कारण है।"

मैं—"क्या कारण?"

चमेली—"वह बिना माँ का है?"

मैं हतबुद्धि होकर बोला—"बिना माँ का है?"

चमेली—"हां, मैं ऐसा ही समझती हूँ। मेरे जीवन का क्या भरोसा! मैं अपने को मरा हुआ ही मानती हूँ और इसी कारण उसे मातृ-हीन समझती हूँ यही कारण है, कि जब उसे कोई कुछ कहता सुनता है, जब कभी तुम मारते-पीटते हो, तब आकर वह मेरी छाती से लग जाता है। मैं उसे हृदय से लगाकर, चुमकार-पुचकारकर शान्त कर देती हूँ। पर मेरे पीछे वह किसके पास जायगा, किसके आँचल में मुँह छिपाकर बैठेगा? कौन उसे प्यार करके प्रसन्न करेगा! इसीलिये कहती हूँ, कि तुम उसे कुछ न कहा करो।"

चमेली की इस करुण प्रार्थना से कुछ क्षण के लिये मेरा हृदय थर्रा गया। उसके इन शब्दों में न-जाने कितनी प्रबल शक्ति थी, कि उसने मेरे पाषाण-हृदय को भी ठेस पहुँचाई। मैंने कहा—"अच्छा, अब जहाँ तक हो सकेगा, उसे कुछ न कहा करूँगा।"

* * *

चमेली का अन्त समय निकट था। एक महीना हुआ, उसने चार पाई की शरण ली थी। तब से उसकी दशा दिन-प्रति-दिन बिगड़ती ही गई। वह जिस दिन रात को इस संसार से सदैव के लिये बिदा होनेवाली थी, उसी दिन उसने दोपहर को मुझे अपने पास बुलवाया। मै उसके पास पहुँचा। मुझे यह तो मालूम था, कि अब चमेली थोड़े ही दिनों की मेहमान है, पर स्वप्न में भी यह खयाल न आया था, कि यही दिन उसका अन्तिम दिन है। मैं उसके पास बैठ गया, और पूछा—"इस समय कैसा जी है?"

चमेली कुछ मुस्कराई और बोली—"अब जी बहुत अच्छा है।"

मैंने कहा—"बहुत अच्छा तो क्या होगा?"

चमेली—"मेरा चित्त इस समय जितना प्रसन्न है, उतना कभी नहीं रहा।"

मैं—"यह तो तुम्हारी बातें हैं।"

चमेली—"नहीं, मैं सच कहती हूँ।"

मैंने चमेली के मुख को ध्यानपूर्वक देखा। आज छः वर्ष पश्चात् मुझे उसकी आँखों में, उसके मुख पर वही सौन्दर्य दिखाई पड़ा, जो छः वर्ष पूर्व था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, कि चमेली को कोई रोग ही नहीं; वह बिल्कुल स्वस्थ है। न-जाने उस दिन मेरे हृदय में उसके प्रति पहले का-सा प्रेम क्यों उत्पन्न हो गया। छः वर्ष पश्चात् मैंने बड़े प्रेमपूर्वक उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"जो तुम्हारी तबियत ऐसी ही रही, तो दो-चार दिन में तुम बिल्कुल स्वस्थ हो जाओगी।" मेरा प्रेम-व्यवहारा देखकर चमेली ने मन्द-मुस्कान के साथ शरमाकर अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली। मैं विकल हो गया। वही शरमीली दृष्टि—वही मन्द मुसकान! मैंने अपने मन में कहा—चमेली के सौन्दर्य में तो ज़रा भी अन्तर नहीं आया। क्या मैं इतने दिनों तक अन्धा रहा, जो यह बात न देख सका? ओफ़! मैंने कितना घोर अनर्थ किया, जो इसकी ओर से इतना उदासीन हो गया। मुझे क्या हो गया था? मैं इसे इतने दिन कैसे और क्यों ठुकराये रहा? इसमें कौन-सा ऐसा बुरा परिवर्तन हो गय था, जिसके कारण मैं इससे इतने दिनों घृणा करता रहा? मैं इस रत्न को छोड़कर इधर-उधर काँच के टुकड़ों से कैसे आनन्द का अनुभव करता रहा? इसलिये कि यह रोग-ग्रस्त थी? छिः-छिः! कितनी पाशविकता हुई! मैं यदि उसी प्रकार चेष्टा करता रहता, तो बहुत सम्भव है, यह अब तक कभी की रोग-मुक्त हो गई होती। इसे रोग-ग्रस्त और इतने कष्ट में छोड़कर मैं अकेला केवल अपने ही लिये, आनन्द और सुख की खोज में कैसे घूमता रहा? यदि यह दुखी थी, तो मुझे इसका दुःख बटाना चाहिये था, न-कि इसको इस दशा में छोड़कर अकेले सुख-भोग करना। ओफ्! कितना अनर्थ हुआ! इसने इन सब बातों को जान कर भी कोई शिकायत नहीं की, उलटे यह सदैव मुझे प्रसन्न और सुखी रखने की चिन्ता करती रहती। यहाँ तक कि केवल मुझे सुखी करने के

लिये इसने मेरा दूसरा विवाह कराने की भी चेष्टा की। आह! मेरे और इसके व्यवहार में आकाश-पाताल का अन्तर रहा। ओफ़्! मैंने बड़ा पाप किया। न-जाने इस पाप से कैसे मुक्त हो सकूँगा!

चमेली ने मुझे विचार-सागर में निमग्न देखकर पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

मैं—"कुछ नहीं।"

चमेली—"मैंने कुछ कहने के लिये बुलाया था।"

मैं—"कहो, क्या कहती हो?"

चमेली—"मेरे कारण तुम्हें बड़ा कष्ट मिला। मैं तुम्हारे सुख-मार्ग का काँटा रही। मेरे भाग्य में तो विधाता ने सुख लिखा ही नहीं था। जितना लिखा था, वह भोगा, और वह स्वप्न में बैकुण्ठ मिलने की तरह था। परन्तु मैं तुम्हारा सुख नष्ट करने का कारण रही। अब मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है, कि मैं तुम्हारे सुख-मार्ग से अलग हुई जाती हूँ। अब तुम संसार में सुख भोगने के लिये स्वतन्त्र......।"

मैं आगे कुछ न सुन सका। मैंने बेचैन होकर कहा—"चमेली, यह तुम क्या बक रही हो! तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग में भी सुख नहीं मिल सकता। ईश्वर न करे......।"

चमेली कुछ विस्मित होकर बोली—"नाथ, अब लोकाचार दिखाने का समय नहीं है। यह कपट-वेष छोड़ो और जो मैं कहती हूँ, उसे सुनो।"

मैं अत्यन्त दुःखित होकर बोला—"चमेली, मैं बड़ा अधम हूँ, बड़ा नीच हूँ। इसमें सन्देह नहीं, कि एक घण्टा पहले तक मैं कपट-वेष धारण किये हुये था; परन्तु ईश्वर साक्षी है, इस समय मैं अपने पिछले शुष्क व्यवहार पर अत्यन्त लज्जित हूँ। मैंने जो कुछ किया, उसका प्रायश्चित्त यदि ये प्राण देकर हो सके, तो मैं करने को तैयार हूँ। मैं अन्धा हो गया था। मैं नहीं जानता, मुझे इस बात पर आश्चर्य है, कि मैंने कैसे तुमसे यह दुर्व्यवहार किया।"

इतना कहते-कहते मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। मेरी हिचकी बँध गई। चमेली की आँखों से भी आँसुओं की धारा बहने लगी।

कुछ देर बाद उसने कहा—"यदि यह बात तुमने आज से कुछ दिनों पहले कही होती तो कदाचित् मैं जीवित रहने की चेष्टा करती; परन्तु अब कुछ नहीं हो सकता।"

मैं चौंक पड़ा। मेरी आँखों के आगे अँधेरा आने लगा। मैंने चमेली का सिर अपनी गोद में रखकर कहा—"नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे समय में, जब मैं अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर रहा हूँ, उसका प्रायश्चित्त करने के लिये तैयार हूँ, जब तुम मुझे संसार की समस्त मूल्यवान् चीज़ों से प्रिय हो गई हो, तब मुझे छोड़कर जाना चाहती हो ? नहीं प्रियतमे, ऐसा कभी नहीं हो सकता !"

चमेली एक आह भरकर बोली—"तुम्हारी इन बातों से मुझे मृत्यु से भय मालूम होता है। हृदय में जीने की उत्कट लालसा उत्पन्न होती है। अभी तक मैं प्रसन्नतापूर्वक मरने को तैयार थी; परन्तु अब तुम्हारी बातों से मुझे मरना दुखदायी प्रतीत हो रहा है। नाथ, मेरा अन्त समय दुखदाई न बनाओ ! मुझे इस प्रकार मरने में कष्ट होगा। तुम यही कहो, कि मैं तुमसे घृणा करता हूँ। उसी प्रकार उदासीन भाव रक्खो मुझे विश्वास दिला दो, कि तुम्हें मेरे मरने से प्रसन्नता होगी, सुख होगा, जिससे मुझे मृत्यु से भय न हो, मैं प्रसन्नतापूर्वक मरूं।"

दुःख और पश्चात्ताप से मेरा कंठ रुँध गया। मैं उसकी बात का कोई उत्तर न दे सका। चमेली ने कहा—"अब अन्त समय में मैं केवल एक भिक्षा तुमसे माँगती हूँ।"

मैंने बड़ी कठिनता से कहा—"क्या ?"

चमेली—"मेरे ज्ञानू को कभी कुछ न कहना !"

इतना कहकर चमेली बेहोश हो गई, फिर उसे अन्तिम श्वाँस तक होश न आया।

—:*:*:—

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

जन्म	चनाकाल
१६४७ वि०	१६७० वि०

[राजा राधिकामरण प्रसाद सिंह विहार के प्रसिद्ध उपन्यास और कहानी लेखक हैं। रईस और राजा होते हुये भी हिन्दी के प्रति अगाध अनुराग आपका अत्यन्त सराहनीय है। पिछले ३० वर्ष से अधिक समय से आप हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। आपके उपन्यासों में कथा भाग की सामाजिक पृष्ठ-भूमि इतनी वास्तविक और आकर्षक घटनाओं से आकर्षक होती है कि मानव हृदय पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। विहार की सामाजिक स्थिति का सुन्दर वर्णन और पात्रों का चरित्र चित्रण प्रौढ़ और चित्ताकर्षक होता है। आज कल के कहानी लेखकों में आपका उच्च स्थान है। भाषा शैली प्रांजल, आकर्षक और मुहावरेदार होती है। फारसी, संस्कृत के विद्वान होते हुये भी आपकी भाषा मँजी हुई और मधुर होती है। हृदयवादी कहानियाँ आपकी हिन्दी के कहानी साहित्य में विशेष महत्व रखती हैं।]

वीर बाला

(१)

किसी राजपूत-बाला का चित्र नहीं—किसी देव-कन्या की बातें नहीं। एक यवन-रमणी थी, शाही महल की मूर्त्तिमती माया थी—दारा के हृदय की रानी थी। विविध विलासों की गोद में पली थी; अनन्त चन्द्रिका की किरणों में खिली थी, अमृत के छींटों से सींची हुई लता थी; पारिजात-पादप पर चढ़ी हुई कोमल लतिका थी। उसने कभी किसी के आँखों का विस्फारण नहीं देखा—किसी मस्त मस्तक के उरोज को नहीं देखा। दारा के सर की कलँगी उसके पैरों की धूलि झाड़ती—शत-शत स्निग्ध दृष्टि उसकी पदाँगुलीं की अँगूठियाँ बनी रहतीं और उसका सौन्दर्य्य! सौन्दर्य्य क्या था, बिजली की लपट थी—चमक कर चोट-सी लगती, देखनेवालों की आँखें पल्लव में जा छिपतीं, तथापि एक बार देख कर सौ बार देखने की इच्छा होती। जो हो, ऐसे सौन्दर्य्य को हम सौन्दर्य्य नहीं मानते। यह फूलों की दो घड़ियाँ चमक है—पहली रात का क्षणिक पुलक है। ऐसे हिलोरे हैं, जिन्हें उठते भी देर नहीं, मिटते भी देर नहीं।

यह तो बाहरी चाक-चमक है। संसार का राज्य—माया का मन्दिर है। राज-कन्या इसी दुनिया में रहती थी, तथापि इससे कहीं दूर थी। इन्हीं रँगरलियों में रह कर भी इस रंग में रंग नहीं गई थी। झुकती ज़बान और गर्दन पर चढ़ कर भी नहीं फ़िसली थी। चातुरी माया दिन-दिन गले मिलने से बाज़ नहीं आती, तथापि उसके प्राणों की सहचरी बने, ऐसी क्षमता नहीं थी। विलास शत-शत रंगीन रस-भरे प्याले पिलाकर भी उसके चित्त को हिला नहीं सकता था। संसार शरीर पर थपकियाँ दे देकर खड़ा रहता था—लाख फुसलाता, लाख चिल्लाता, लाख सर पटकता, लेकिन कपाट खुलते नहीं कि भीतर जा

सके। सचमुच उसमें जो कुछ सौन्दर्य्य था, वह भीतर ही था। वह ऐसा सौन्दर्य्य था, जिसके सामने त्रैलोक्य-सुन्दर भी लुटे पड़ते हैं—वह सौन्दर्य्य, जिसकी किरणों को लेकर स्वर्ग की चाँदनी है। वह सौम्य प्रकाश था, जिसे हम इन आँखों मे नहीं देख सकते, वह असीम संगीत, जिसे हम इन कानों से नहीं सुन सकते। एक सत्य सुन्दर हृदय—एक तरुण विमुक्त जीवन। कमला अपनी लाख मायाविनी डाली दिखा कर भी फुसला नहीं सकती थी; काम अपने शत-शत पुष्प-वाण या अग्निवाण की वर्षा से भी वेध नहीं सकते थे। वह हँसती, खेलती, अठिलाती, बलखाती—सभी आँखों में प्राण भर कर इस भगी को देखते तथा हाथों-हाथ बिक जाते। लेकिन किसी ने कभी देख नहीं पाया कि इस हास-विलास, रस-रास के आडम्बर के भीतर कौस्तुभ-मणि की ज्योतिषी कौन सी ज्योति छिपी थी ! लोक अपनी माया की चमक के लिये शरीर पर, रोम-रोम पर खड़ा पुकार रहा था, स्वर्ग अपनी तेज तरुण ज्योति लिये, हृदय में, रोम-रोम में, शान्त निर्विघ्न बैठा था। लेकिन दुनिया के लोग इस जगमगाती दुनिया ही को देखते हैं। दुनिया में अतीत क्या है—इसे देखने की इच्छा नहीं करते। मूर्ति के चकमकी चाम-चूम को देखने के लिये न जाने कितने आदमी मन्दिर की चौखट पर सिर टकराते हैं, लेकिन उस चकाचौंध के भीतर कोई ज्योति छिपी है या नहीं, यह देखने की भला किसे पड़ी है ! फूले-फूले फूलों के भीतर बसन्त को कौन ढूँढ़ता है ?

(२)

चाँदनी के दिन चल बसे। सर पर बदली उनह आयी। दारा बिचारा सहोदर के हाथ से पटका खा, घर-बार, सुख-विलास छोड़ कर बन में—काल के मुँह में—भग गया। औरङ्गज़ेब ने दिल्ली को अपनी मुट्ठी में किया—बुड्ढे बाप पर अपनी दिल की लगी बुझाई। फिर भाई बन्धुओं के अरुण-तरुण रक्त से अपने हाथों में मेंहदी लगाई। इतना

ही नहीं—प्यास ऐसी थी कि शाहज़ादियों के विलास मधुर अन्तरक्त पर भी होंठ लपके। एक दिन दारा की दारा पर भी चितवन फिरी। चितवन ही नहीं फिरी—चित्त भी फिर गया।

उसने तत्क्षण बाँदी के हाथ एक पत्र लिखकर भेजा—"प्रिये! मैं तुम्हारी काली-काली खुशबूदार जुल्फ़ों पर मर रहा हूँ।" राजकुमारी क्षण-भर चुप रही। फिर बड़े लाड़ से पाले फूलों से गूँथे चञ्चल चिकने बालों को चुपचाप काट डाला और हिना के इत्र से उन्हें भिगोकर शाहंशाह के निकट भेज दिया।

औरङ्गज़ेब ने फिर लिख भेजा—"प्रिये! मैं तुम्हारी इन नर्गिसनुमा आँखों का शैदा हो रहा हूँ।" जिस समय बाँदी चिट्ठी लेकर आई, उस समय वह शायद आँखों में सुर्मा लगा रही थी। झट धीरे से सुकुमार सुर्मीली आँखों को निकाल कर रंगीन फूलदार लिफ़ाफ़े में भरकर बाँदी के हाथ भेजवा दिया।

औरङ्गज़ेब की आग भभक उठी। फिर लिख भेजा—"प्रिये! मैं तुम्हारे चाँद-से मुँह पर आशिक हूँ।" बाँदी ने चिट्ठी पढ़कर सुना दी। राजकुमारी ने चूँ तक नहीं किया। किसी तरह मायावी गुलाबी गालों को काट-कूटकर भेजवा ही दिया। जो कुछ देने योग्य था, सब दे दिया। प्राणों को भी दे दिया, मगर हृदय नहीं—सत्य नहीं। औरङ्गजेब भी हृदय को माँग नहीं सका। हृदय तो वह किसी और को दे चुकी थी।

शाहंशाह ने एक बार निर्जीव लोचनों को देखा, एक बार लद-फद रक्त-मांस के पिण्ड को देखा। कुछ उसी दृष्टि से देखा, जिस दृष्टि से अपने पिता की आँखों से खून टपकते देखा था, बड़े भाई के मुण्ड को भूमि पर लुढ़कते देखा था। उसे ग्लानि हुई या नहीं, सो मैं नहीं कह सकता। हाँ, पर एक बार शायद तमाशा देखने को भीतर दौड़ पड़ा। उस समय शाहज़ादी खून से सराबोर पृथ्वी पर गिर चुकी थी। जो हो, भूमि पर गिरी तो गिरी—अपने धर्म्म या पातिव्रत्य से नहीं गिरी,

हमारी-तुम्हारी आँखों से, दिल से, नहीं गिरी। हाँ नराधम नरपति ! इस वीर हृदय पर ध्वजा उड़ाना बाँये हाथ का खेल नहीं था। यहाँ तुम्हारे सर की कलङ्गी खिसक पड़ी। इसे भी क्या इस खोखले हिन्दुस्तान का जीतना समझा था ?----विलासी दारा को मार भगाना समझा था ? यदि तुम यहाँ जीतते, तभी हम तुम्हें विजई मानते।

(३)

वह उठ गयी, लेकिन नाम नहीं उठा—कीर्ति नहीं मिटी। प्यारे पाठक ! वह अनन्त जीवन था, भला मिटता क्यों कर ? इसी देश से न जाने कितने उठ गये। अब ऐसे वीर-हृदय मिलते नहीं, और जो कहीं हैं भी, तो भूले-भटके। सूर्य्यवंशी, यदुवंशी और न-जाने कितने वंशी बनने की अभिलाषा बहुतों को है, किन्तु यह ध्यान किसी को नहीं कि वे क्या थे, और हम कैसे हैं ?—वे क्या कर गये और हम क्या करते हैं ? हमने माना कि जननी-जठर में सोये-ही-सोये ब्रह्मज्ञान सीख लेना या रण कौशल की दीक्षा ले लेना अब सम्भव नहीं। अब तो कोई इसे मरतेदम भी दिखा दे, तो बहुत समझिये। उन पूर्व-पुरुषों की सन्तान बनकर मटकने की चाल अच्छी लगे, आप उनके नाम को लेकर अपना नाम भले ही लम्बा-चौड़ा कर लें—उसे कहने में बड़ी शान हो, सुनने वालों पर बड़ा असर हो। आप उनके जन्म-दिन के उपलक्ष्य में गौहर या बाँदी को भले ही नचा लीजिये, बारूद के खिलौने बनाकर शत-शत बार गोलियाँ पीट ल, आप उनकी कीर्ति-लता को अमृत की छींटें दे-देकर भले ही हरी-भरी रखे, उसे देश-देशान्तरों में भेजकर अपने बाग़ का मूल्य खूब बढ़ा लें। किन्तु इससे क्या आपकी कुछ करनी देखी गई ? वे बातें भी देखने में आयीं, जिन्हें देखने के लिये आपकी मातृ-भूमि की आँखें कब से तरस रही हैं ? विजयादशमी में राम की गद्दी बड़ी धूमधाम से दिखाना कुछ कठिन नहीं; लेकिन इस जीवन-रङ्ग पर भी

तो आप मुझे वैसा एक भी दिखा दें। उनकी सन्तान कहलाते योग्य भी तो किसी को बतला दें। घुँघरू पहिनकर मुरली बजाने से कोई देवकी का पुत्र नहीं बनता कुक्कुट और बगुले पर गोली मारने से आप गाण्डीवधारी की सन्तान होने योग्य नहीं।

अब किसी के मन में क्षण-भर भी इन भावों का प्रादुर्भाव होना, भारतवर्ष में सब से विस्मयी प्रलय-काण्ड है। क्यों न हो; सभी जातियों ने अपनी-अपनी गर्दन ऊँची की है; लेकिन इतनी नहीं। सभी की कलँगी सिर से खसी है, लेकिन ऐसी नहीं। दामन झाड़कर फिर खड़ा हो उठना कुछ बुरा नहीं, लेकिन पड़े- पड़े धूलि को गींजना और उस पर खिलखिलाकर हँसना करुणा भी दिखलाता है, और उपहास भी। लोटना ही है तो गोकुल की गलियों में बाल-गोपाल के मुख से उगली हुई मिट्टी पर लोटिये। धूल ही पसन्द है, तो उस धूलि के लिये गली-गली धूलि फाँकिये, जिसको पाकर पत्थर में जान पड़ गई थी। किन्तु किसी के दरवाजे पर फेंके हुये कस्तूरी-कूड़े पर भी लोट-लोट कर दाता की जय मनाना या उसके होठों पर हँसी ढूंढ़ना कोई अपरूप सुन्दर दृश्य नहीं हो सकता।

श्री ज्वालादत्त शर्मा

जन्म काल — रचनाकाल

१६४५ वि० — १६७१ वि०

[श्री ज्वालादत्त शर्मा आधुनिक हिन्दी-कहानी लेखकों में पथ प्रदर्शक माने जाते हैं। स्वर्गीय आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रोत्साहन से आप हिन्दी कहानी-क्षेत्र में आये और आशातीत सफलता प्राप्त की। शर्मा जी संस्कृत और फारसी के विद्वान हैं। आप उर्दू साहित्य संसार में भी अपनी रचनाओं के कारण प्रसिद्ध हैं। आप की सामाजिक कहानियाँ अत्यन्त आकर्षक और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पूर्ण सफल होती हैं। आपकी रचनाओं पर उर्दू लेखन-शैली का पूर्ण प्रभाव पाया जाता है, साथ ही संस्कृत का भी। इससे आपकी भाषा में आकर्षण और प्रवाह है। आपने हिन्दी में कई ग्रन्थों की रचना की है-- कुछ आलोचना सम्बन्धी हैं और कुछ कहानी संग्रह। उपन्यास रचना की ओर आपका ध्यान कम है। शर्मा जी इस समय किसरौल मुरादाबाद में रहते हैं। आज भी आप हिन्दी-सेवा की ओर आकर्षित हैं और अपनी सरस और सुन्दर रचनाओं से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि करते जा रहे हैं। आप मिलनसार, स्वभाव के उदार और सज्जन व्यक्ति हैं।]

----:*:*:*:----

कहानी लेखक

प्रयाग-विश्वविद्यालय के अण्डरग्रेजुएट के लिये डाक्टरी या वकालत के सदृश समय और धन-सापेक्ष व्यवसायों के सिवा नौकरी में नायब तहसीलदारी या सब रजिस्ट्रारी के पद ही अधिक आकर्षण रखते हैं; पर उनकी प्राप्ति के लिये विद्या से बढ़ कर सिफ़ारिस की ज़रूरत है। पिता के मित्र सूबेदार नन्हेसिंह से जब मैं मिला, तब उन्होंने दुःख प्रकाश करते हुये कहा कि मैं इसी वर्ष अपने भतीजे की सिफ़ारिस कर चुका हूँ और परिमाण से अधिक सिफ़ारिस करके मैं अपने हाकिम का दिमाग़, अधिक भोजन से मेदे की तरह बिगाड़ना नहीं चाहता।

उनकी युक्ति-युक्त बात सुन कर मैंने कहा—ठीक।

ख़ाली समय में उपन्यास पढ़ने का चसका कालेज में ही पड़ चुका था। उन्हीं दिनों अमेरिका के एक पत्र में, जो चुभते हुये उपन्यास लिखने में अपना जवाब नहीं रहता था, पढ़ा—कहानी लिखने वालों का व्यवसाय आजकल खूब चमक रहा है। जिसकी जैसी योग्यता होती है वह इस पेशे से उतना ही पैदा कर लेता है। योरप में कहानी-लेखक लाखों रुपया पैदा कर रहे हैं; और तरह के व्यवसायों में अनेक झंझट हैं। उनमें धन की आवश्यकता, उपकरण की आवश्यकता, मुनीबों और नौकरों की आवश्यकता और सबसे बढ़ कर मौक़े की जगह की आवश्यकता होती है। पर कहानी लिखने वालों को मुलायम पेंसिल और व्यवसाय चमक जाने पर फ़ाउंटेन पेन और काग़ज के सिवा और किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं है। उसी लेख में, आगे चलकर, लिखा था कि फ्रांस के एक लेखक के पास आठ-दस क्वाँरी लड़कियाँ क्यों—युवतियाँ—नौकर हैं। वे अपने-अपने समय पर आती हैं और कहानी लिखने वालों का वह आचार्य उनमें से हर एक को एक कहानी लिखवा देता है। इस तरह आठ-दस कहानियाँ लिख कर वह

आठ-दस 'कहानी कहने वाले' पत्रों के पेट भरने के साथ ही साथ अपनी जेब भरता है।

उस पत्र में यह सब कुछ पढ़कर मैं सोचने लगा कि अब तक मैंने क्यों इस ओर ध्यान नहीं दिया। उस समय मेरा मन अनेक तरह के विचारों के सागर में गोते खाने लगा।

अवकाश के समय में पढ़े उपन्यासों की मनोहर छटाएँ अपनी-अपनी भाषा में 'तथास्तु' कहने लगीं। मैंने सोचा—घर बैठे का ऐसा अच्छा रोज़गार कि जिसमें मूलधन की कुछ भी ज़रूरत नहीं, मुझे तत्काल शुरू कर देना चाहिये। विक्टर ह्यूगो और रवीन्द्रनाथ का नाम स्मरण करके मैंने अपना इरादा पक्का कर लिया।

उसी लेख में एक पुस्तक का उल्लेख था, जिसे फ्रांस के उसी कहानी लेखक ने कहानी-लेखन-कला पर लिखा था। मैंने उसे मँगाया। उसे पाकर मैंने समझा कि अब मैदान मार लिया। धर्मपुस्तक की तरह मैं उसका अध्ययन करने लगा। उसमें लिखा था कि कहानी लिखने का काम जितना मुश्किल है उतना ही आसान है। इस मुश्किल को उस चतुर लेखक ने इस तरह आसान किया था। हर आदमी समाज में सब से मिलता है। सुख दुःख के अवसरों पर सम्मिलित होता है। संसार के उतार-चढ़ाव देखता है, पर समझता कम है। और सच यह है कि समझने की कोशिश नहीं करता है। कहानी लिखनेवाले को सबसे मिलना तो पड़ेगा ही; पर साथ ही-साथ समझना भी पड़ेगा। उसे अपने आँख-कान के साथ दिल का दफ्तर खोल कर चलना पड़ेगा। रास्ते में जहाँ जो मिलेगा उसे उठाकर ठीक जगह जमा करना पड़ेगा। दृष्टांत के तौर पर उसमें लिखा था—एक कहानी-लेखक ट्राम-गाड़ी में जा रहे थे। उन्हीं के पास एक महिला बैठी हुई कोई चिट्ठी पढ़ रही थी। चिट्ठी पढ़ने के भाव और चिट्ठी की लिखावट को देखकर उस दिव्य ज्ञानी कहानी लेखक को मालूम हुआ कि इस जगह कहानी लिखने का कुछ मसाला मिल सकता है। झट उसने उस महिला से परिचय प्राप्त करके

उस पर प्रकट कर दिया कि वह एक प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास लेखक है जटिल बातों में लोग उससे प्रायः परामर्श लेते हैं। महिला ने उसे घर बुलाया और पति की क्रूरता का वृत्तांत सुनाकर उससे परामर्श की भिक्षा माँगी। कहानी-लेखक ने परामर्श दिया और बहुत सी उपहार-सामग्री के साथ वह एक बढ़िया कहानी का प्लाट घर ले आया।

इसी पुस्तक में एक जगह लिखा था कि कहानी-लेखक को एकांत स्थानों में प्रायः घूमना चाहिये। ऐसे स्थानों में घूमने से, जहाँ कल्पना शक्ति पर धार चढ़ती है, कभी-कभी घटना के बीज भी, अनायास, मिल जाते हैं। इसके दृष्टांत में पुस्तक-लेखक ने लिखा था कि अमेरिका का एक कहानी लेखक किसी नदी के एकांत तट पर घूम रहा था कि उसे दो प्रेमियों के पत्र व्यवहार का एक पुलिंदा मिल गया। उसकी सहायता से उसने एक नहीं अनेक कहानियाँ लिख डालीं।

उस पुस्तक में यह भी लिखा था कि संसार में घटनाओं की कमी नहीं दैनिकपत्र घटनाओं के बोझ को सिर पर रखकर, प्रातःकाल ही, हर आदमी के स्थान पर थोड़े से खर्च में, पहुँच जाते हैं। चरित्रों की कमी नहीं, हर घर में, हर समाज में, अच्छे-बुरे, ऊँचे-नीचे और मिश्रित आचरणवाले मनुष्य मौजूद हैं। वर्णनीय विषयों का भी अकाल नहीं। सब चीज़ें यथेष्ट परिमाण में मौजूद हैं। बस, लेखक की प्रतिभा उन सामयिक घटनाओं और सामने चलते-फिरते चरित्रों को मथकर चमत्कार-रूप मक्खन निकाल लेती है।

मैंने सोचा—घटनाओं के काल्पनिक डेरीफ़ार्म का चमत्कार-रूप मक्खन खूब ऊँचे दर पर बेचूँगा। उस समय घर की ग़रीबी को काफ़ूर होते बहुत देर न लगेगी।

उसी दिन से मैंने आँख-कान खोलकर घूमना शुरू कर दिया। घर-बाहर, बाज़ार, हाट, नदी-तट और रेलवे प्लेटफ़ार्म पर मैं प्रायः इसी उद्देश्य से घूमा करता था। कभी गाँव की कच्ची सड़क पर और

कभी श्मशान में भी मैं चक्कर लगाया करता था। इन स्थानों पर घूमते समय मार्के की कोई बात दिखाई पड़ती, तो मैं उसे अपनी नोट-बुक में टाँक लेता था। कहीं अधिक मोटा आदमी मिल गया तो उसका शाब्दिक फोटो खींच लिया। कहीं कोई झगड़ा हो गया, तो उसकी प्रश्नोत्तरी लिखली। किसी ने फबता हुआ कोई फिक़रा कह दिया कि मैंने उड़ा लिया।

महीने बीत गये; पर मानव-कुल के निरीक्षण का मेरा काम वैसा ही चलता रहा। एक दिन बूढ़ी माता ने हाथ का खड़ुआ मेरे सामने रखकर कहा—बेटा, इसे बाज़ार बेच ला। घर में अन्न नहीं है।

माता का चेहरा ज़रा भी उदासीन न था। उसने कई बार मुझसे नौकरी करने के लिये कहा था, किन्तु मैंने उसे समझा दिया कि मैं एक ऐसे ही काम के लिये तैयारी कर रहा हूँ। उस दिन से माता शान्ति से घर की चीज़ें बेचकर मुझे खिलाती रही। कभी मेरे काम में विघ्न न डाला। मेरी व्यस्तता को देखकर वह बहुत प्रसन्न मालूम होती थी।

मैं प्रातःकाल होते ही घर से निकल जाता था। १० बजे लौटता था। भोजनोंपरांत संसार के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखकों के अँगरेजी अनुवाद पढ़ता था। फिर शाम को 'उपादान-संग्रह' के लिये बाहर निकलता था। रात को घर लौटकर दिन में जो कुछ देखता या सुनता था, अपनी कापी में लिख लेता था। उस दिन माता के धैर्य पर मैंने एक छोटा सा निबंध लिखा। पुस्तक-लेखक ने लिखा था कि कहानी-लेखक को पहले निबंध लिखने का अभ्यास करना चाहिये। जो किसी घटना का जैसे का तैसा हाल और किसी विषय पर युक्ति-युक्त निबंध लिख सकता है वह समय पाकर अच्छा कहानी-लेखक हो सकता है।

मेरे मकान के पास एक डाक्टर रहते थे। वे पुराने हो गये थे, इसलिये अपनी जंग लगी विद्या की छुरी को ग़रीबों की गर्दन पर तेज़

किया करते थे। उन्होंने मुझसे एक दिन पूछा—"विश्व बाबू, देखता हूँ, अब तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। रोज घूमने से तुम्हारा शरीर खूब पुष्ट हो गया है।" फिर वे बड़ी निराशा-भरी दृष्टि से मुझे देखने लगे, मानो अजीर्ण रोगी मैं—इतना सस्ता—उनके हाथ से निकल गया! मैं यदि कहानी लिखने की तैयारी न करता होता तो उस बूढ़े डाक्टर की कोटरलीन आँखों को छेद कर उसके दिल तक की खबर न लाता। उसका धन्यवाद करके मैंने मन में कहा—ठहर जा, आज तेरे ही ऊपर अपने खाते में एक नोट जड़ूँगा, यदि कभी सुन लेगा तो सिर पीट डालेगा।

दूसरे दिन कहारी ने अपना महीना माँगा। मैं घर में था, इसलिये माता ने धीरे मे उसे कल लेने के लिये कहा था। वह न मानी, चिल्लाने लगी। मैंने मन में कहा कि यदि वह मूर्खा कहारी मेरे वास्तविक रूप को पहचानती होती तो इस तरह झगड़ा न करती। अच्छा, आज इसकी कर्कशता का ही चित्र खींचूँगा। झगड़ ले और खूब झगड़ ले। मैं भी तेरा श्राद्ध करने में कुछ कसर न छोड़ूँगा। वह बक-बक करती हुई चली गई। माँ को उस झगड़े से बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने धीरे से पूछा—बेटा, अब कब तक तू कमाने लगेगा?

माँ की बात से मेरी निद्रा टूट गई। मैंने सोचा, इस तरह काम नहीं चलेगा। जो कुछ लिख लिया है अब उसे बाज़ार में रखना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि यह सम्पत्ति अमूल्य है—"पर खरीदार की, देखें तो, नज़र कितनी है।"

दूसरे दिन शहर के दो-एक सम्पादकों से मैं मिला। मैंने उनसे अपनी रुचि का प्रकाशन किया। सुनकर बड़े प्रसन्न हुये और कहने लगे कि आजकल साहित्याभिरुचि का पैदा होना बहुत ही कठिन है। आपकी प्रशंसा करते हैं कि ऐसे समय में आप साहित्य की श्रीवृद्धि करने के लिये अपने समय का इतना अच्छा उपयोग कर रहे हैं। फिर मैंने

अपनी पुस्तक में से कुछ सुनाया। उसको सुनकर वे बड़े सहज भाव से मेरी चरित्र-विश्लेषणशक्ति की प्रशंसा करने लगे। अन्त में मैंने जब पुरस्कार का विषय उठाया तब तो उनके मुँह बेतरह बिगड़ गये। धूप खाये आम की तरह वे पिलपिला गये और कहने लगे—"महाशय हिन्दी में पुरस्कार का नाम न लीजिये। 'नेकी कर कुवें में डाल' की बात है।" मैंने कहा—"तो साहित्य-सेवा से मैं पेट नहीं भर सकता।" उन्होंने कहा—"हाँ, अभी कुछ दिन नहीं। हमें ही देखिये, क्या मिलता है! किसी तरह पत्र चला रहे हैं।"

मैं वहाँ से चला आया। घर आकर फिर पुस्तक को पढ़ने लगा। उसमें लिखा था कि नये कहानी-लेखकों को ऐसे पत्र-सम्पादकों से बचना चाहिये जो पत्र के मालिक भी हों। वे कैसा ही सड़ियल लेख हो, छाप देते हैं, यदि मुफ्त मिलता है। दाम देकर लेख लिखाने की हिम्मत उनमें कम होती है। वे लोग अपना मतलब सिद्ध करने के लिये लेखक को दबाये रहते हैं। उसकी श्रेष्ठ रचना को भी साधारण बताते रहते हैं। कहीं असाधारण कहते ही लेखक के पंख न निकल आवें।

मैंने कहा—ठीक। फिर मैं दूने उत्साह से काम करने लगा। मैंने कहा—माल तैयार होने पर ग्राहक जुट ही जायँगे।

उस दिन मैं एक तालाब के पास बैठा हुआ शरत्-काल के लुभावने सायंकाल पर एक निबंध लिखने का अभ्यास कर रहा था। पास ही एक गोरा जल-मुर्ग़ाबियों का शिकार खेल रहा था। वैसे स्निग्ध और शान्त समय में उसका वह तांडव-नृत्य मुझे बहुत ही बुरा मालूम होता था।

उसने एक मुर्ग़ाबी पर गोली चलाई। मुर्ग़ाबी लोट गई। वह उसे लेने के लिये तालाब में बढ़ा कि एक साथ गड़प! निस्सन्देह वह डूब रहा था। उसने मुझे पुकारा। मैं तत्काल दौड़कर उसके पास पहुँचा।

मेरी धोती के छोर को पकड़कर वह बाहर निकल आया। उसने मेरा धन्यवाद किया और पूछा—बाबू तुम कुछ चाहता है?

मैंने कहा—साहब, प्रकृति के ऐसे मधुर समय में आप हिंसा-वृत्ति को चरितार्थ न करके यदि प्रकृति का निरीक्षण किया करें तो अच्छा है। बस, मैं आपसे यही चाहता हूँ और कुछ नहीं। सूर्यास्त की छटा को देखिये, तालाब के विजन दृश्य को देखिये, दूर तक फैले हुये मैदान को देखिये। इस समय ऐसा मालूम होता है कि मानों प्रकृति सब ओर से मन हटाकर अपना सौंदर्य-साधन कर रही है और आप उसके हलके आभूषणों पर गोली चलाकर उसका बना-बनाया काम बिगाड़ रहे हैं। साहब ने समझा था, मैं उससे कुछ रुपया या कोई नौकरी माँगूगा। इसलिये मेरी बातें—और निश्चय ही निबंध के पहले ही लिखी जा चुकी बातें—सुनकर वह चकित हो गया उसने मुस्कराते हुये कहा—बाबू मालूम होता है, तुम कवि हो। मैंने कहा—हाँ साहब एक तरह का।

उसने कहा—किस तरह का?

मैंने कहा—गद्य कवि। बात यह है कि मैं कहानी-लेखक बनने की धुन में हूँ। उसमें गद्य-कविता करनी होती है—साहब।

मेरी बात सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—कहानी-लेखक बनने की धुन कैसी?

मैंने उसे अपना सब वृत्तांत सुनाया। साहब खूब सहृदय था। बहुत से उपन्यासों को चाटे बैठा था उस पुस्तक की बात सुनकर वह हो-हो! हो! करके हँसने लगा। उसने कहा—बाबू उस पुस्तक में लिखी बातों पर चलकर तुम कहानी-लेखक बनना चाहते हो। ईश्वर के लिये इस खब्त को छोड़ दो। क्यों अपना समय नष्ट करते हो। वह भी तो एक तरह का उपन्यास है।

मैंने कहा—नहीं महाशय, वह उपन्यास नहीं है। वह तो उपन्यास लिखने की कला पर एक प्रकरण-ग्रंथ है।

उसने हँस दिया। फिर अपनी जेब से नाम का कार्ड, निकालकर मुझे देते हुये उसने कहा—तुम कृपा करके मेरे स्थान पर आना, मैं तुमको वैसी अन्य पुस्तकें भी दिखा दूँगा। अच्छा, धन्यवाद बाबू—यह कह कर वह, घोड़े पर चढ़कर, चल दिया। मैंने कार्ड को पढ़ा। उस पर छपा था—

जे० रीड, (आई० सी० एस०)

कलक्टर और मैजिस्ट्रेट।

अपने शहर के मैजिस्ट्रेट की सहृदयता को और उससे भी बढ़ कर सरलता को देख कर मैं मुग्ध हो गया।

दूसरे दिन मैं उनके बँगले पर गया। बड़ी अच्छी तरह मिले। बहुत देर तक बातचीत करते रहे। अपने पुस्तकालय की सैर कराई। अन्त में कहानी-लेखक बनाने के ख़ब्त को छोड़ने का फिर परामर्श दिया। मैंने अपनी सम्मति प्रकट की। उन्होंने उसी समय एक काग़ज़ लिख कर मेरे हाथ में दिया और कहा—कल से तुम नौकर हुये; ठीक समय पर कचहरी में आओ। मैं सलाम करके चला आया।

निश्चय ही साहब ने मुझे एक साथ ५०) मासिक की पेशकारी दे दी। जब माता ने यह समाचार सुना, उनकी प्रसन्नता के बाँध टूट गये।

हाँ, किस बुरी तरह वे घर का काम चलाती थीं और मैं कहानी-लेखक बनने की धुन में उनकी दुर्दशा का अनुभव तक न करता था! उन्होंने मेरी पीठ पर प्रेम का हाथ फेरते हुये कहा—"बेटा, तेरी मिहनत सफल हुई।"

उन्हें आज तक यही विश्वास है कि मैं उन दिनों नौकरी के लिये ही प्राणपण से उद्योग कर रहा था।

* * *

जिस भाग्य-भगवान् की अनुकूलता से रीड साहब कलक्टरी से तरक्की पाते हुये छोटे लाट हो गये, उसी की मन्द-मुस्कान और रीड साहब की सहायता से मैं कुछ वर्षों में डिप्टी-कलक्टर हो गया।

उन दिनों हमारे ज़िले में लाटसाहब पधारे थे। मैजिस्ट्रेट की कोठी पर सबके सामने हँसते हुये उन्होंने मुझसे पूछा—विश्वनाथ, कहानी लिखने का ख़ब्त अभी छूटा या नहीं?

मैंने नम्रता दिखाते हुये कहा—हुजूर, आपकी कृपा से मेरा जीवन स्वयं एक मनोहर कहानी बन गया है।

साहब ने तत्काल कहा—ओ यस!

———

श्री चतुरसेन शास्त्री

जन्मकाल | रचनाकाल

१९४८ वि० | १९७१ वि०

[आचार्य चतुरसेन शास्त्री अपनी लौह-लेखनी और ओज-पूर्ण रचनाओं के कारण हिन्दी-कहानी-साहित्य में उच्चस्थान रखते हैं। आप आयुर्वेद के विद्वान तथा चिकित्साशास्त्र के पंडित हैं। हिन्दी साहित्य में आपकी कहानियाँ एक विशेषता रखती हैं। आपकी प्रारंभिक रचनायें प्रायः गद्य-काव्य के रूप में प्रकट हुई थीं और 'अन्तस्तल' आपकी इसी प्रकार की भावपूर्ण रचनाओं का सुन्दर संग्रह है। किन्तु बाद को आप कहानियाँ लिखने लगे। समाज की वास्तविक स्थिति तथा उसके आंतरिक वातावरण का चित्रण शास्त्री जी की कहानियों की विशेषता है। भाषा में ओज, प्रवाह और आकर्षण इतना व्यापक होता है कि पाठकों पर उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। आपकी कहानियों के कई संग्रह हिन्दी साहित्य में उपलब्ध हैं, साथ ही कुछ श्रेष्ठ उपन्यासों की भी रचना की है। शास्त्री जी इस समय शहादरा (दिल्ली) में निवास करते और आयुर्वेदिक चिकित्सा करते हैं। इधर यद्यपि आपने कहानियाँ लिखना कम कर दिया है फिर भी आपकी जो रचनायें उपलब्ध हैं वह हिन्दी के लिये गौरवपूर्ण हैं। समय समय पर आपकी रचनाओं का रसास्वादन हिन्दी प्रेमी करते रहते हैं। आप बड़े विनोदी, मिष्ठ भाषी और विद्वान व्यक्ति हैं। सामाजिक दृष्टि से क्रांतिकारी रचनायें आप के साहित्य की विशेषता हैं।]

----:*:*:----

ख़ूनी

उसका नाम मत पूछिये। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और उस सूरत को आँखों से दूर करने को पागल हुआ फिरता हूँ। पर वह नाम और सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हूँ, वह निडर है; मैं रोता हूँ, वह हँसता है; मैं मर जाऊँगा, वह अमर है।

मेरी उसकी कभी की जान-पहिचान न थी। दिल्ली में हमारी गुप्त सभा थी, सब दल के आदमी आये थे, वह भी आया था। मेरा उसकी ओर कुछ ध्यान न था, वह पास ही खड़ा एक कुत्ते-पिल्ले से किलोल कर रहा था। हमारे दल के नायक ने मेरे पास आकर सहज-गम्भीर स्वर में धीरे से कहा—"इस युवक को अच्छी तरह पहचान लो, इससे तुम्हारा काम पड़ेगा।"

नायक चले गये और मैं युवक की तरफ़ झुका। मैंने समझा, शायद नायक हम दोनों को कोई एक काम सुपुर्द करेगा।

मैंने युवक से हँस कर कहा—'कैसा प्यारा जानवर है!" युवक ने कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मेरे मुख पर डाल कर कहा—"काश! मैं इसका सहोदर भाई होता!" मैं ठठाकर हँस पड़ा। वह मुस्करा कर रह गया। कुछ बातें हुईं। उसी दिन वह मेरा मित्र बन गया!

दिन पर दिन व्यतीत हुये। अछूते प्यार की धाराएँ दोनों हृदय में उमँड़कर एक धार हो गईं, सरल अकपट व्यवहार पर दोनों मुग्ध हो गये। वह मुझे अपने गाँव में ले गया; किसी तरह न माना। गाँव के एक किनारे स्वच्छ अट्टालिका थी। वह गाँव के ज़मींदार का बेटा था—इकलौता बेटा था, हृदय और सूरत का एक सा। उसकी माँ ने दो दिन में ही मुझे 'बेटा' कहना शुरू किया। अपने होश के दिनों में मैंने वहाँ सात दिन माता का स्नेह पाया। फिर चला आया। फिर गया और आया। अब तो बिना उसके मन न लगता था दोनों के प्राण दोनों

में अटक रहे थे। एक दिन उन्मत्त प्रेम के आवेश में उसने कहा था—"किसी अघट घटना से जो हम दोनों में से एक स्त्री बन जाय तो मैं तो तुम से व्याह ही करलूँ।"

नायक से कई बार पूछा—"क्यों तुमने मुझे उससे मित्रता करने को कहा?" वह सदा यही कहते—"समय पर जानोगे।" गुप्त सभा की भयङ्कर गम्भीरता सब लोग नहीं जान सकते। नायक मूर्त्तिमान भयङ्कर गम्भीर थे।

उस दिन भोजन के बाद उसका पत्र मिला। वह मेरी पॉकेट में अब भी धरा है। पर किसी को दिखाऊँगा नहीं। उसे देखकर दो साँस सुख से ले लेता हूँ, आँसू बहाकर हलका हो जाता हूँ। किसी पुराने रोगी की जैसे दवा खूराक बन जाती है, मेरी वेदना को भी वह चिट्ठी खूराक बन गई है।

चिट्ठी पढ़ भी न पाया था, नायक ने बुलाया। मैं सामने सरल-स्वभाव खड़ा हो गया। बारहों-प्रधान हाज़िर थे। सन्नाटा भीषण सत्य की तसवीर खींच रहा था। एक-ही मिनट में मैं गम्भीर और दृढ़ हो गया। नायक की मर्म-भेदिनी दृष्टि मेरे नेत्रों में गड़ गई, जैसे तप्त लोहे के तीर आँख में घुस गये हों? मैं पलक मारना भूल गया, मानों नेत्रों में आग लग गई हो। पाँच मिनट बीत गये। नायक ने गम्भीर वाणी से कहा—"सावधान! क्या तुम तैयार हो?"

मैं सचमुच तैयार था। मैं चौंका नहीं। आख़िर मैं उसी सभा का परीक्षार्थी सभ्य था। मैंने नियमानुसार सिर झुका दिया। गीता की रक्त-वर्ण। रेशमी पोथी धीरे-से मेज़ पर रख दी गई। नियमपूर्वक मैंने दोनों हाथों से उठाकर सिर पर चढ़ा ली।

नायक ने मेरे हाथ से पुस्तक लेली। क्षण-भर सन्नाटा रहा। नायक ने एकाएक उसका नाम लिया और क्षण-भर में छः-नली पिस्तौल मेज पर रख दी।

वह छैः नामों का शब्द उस पिस्तौल की छओं गोलियों की तरह मस्तक में घुस गया। पर मैं कम्पित नहीं हुआ। प्रश्न करने और कारण पूछने का निषेध था। नियमपूर्वक मैंने पिस्तौल उठाकर छाती पर रखा और स्थान से हटा।

तत्क्षण मैंने यात्रा की। वह स्टेशन पर हाज़िर था। अपने पत्र और मेरे प्रेम-पत्र पर इतना भरोसा उसे था; देखते ही लिपट गया। घर गये चार दिन रहे। वह क्या करता है, क्या कहता है, मैं देख-सुन नहीं सकता था। शरीर सुन्न हो गया था, आत्मा दृढ़ थी। हृदय धड़क रहा था, पर विचार स्थिर थे।

चौथे दिन प्रातःकाल जलपान करके हम स्टेशन चले। ताँगा नहीं लिया जङ्गल में घूमने जाने का विचार था। काव्यों की बढ़-बढ़कर आलोचना होती चलती थी। उस मस्ती में वह मेरे मन की उद्विग्नता भी न देख सका। धूप और खिली। पसीने बह चले। मैंने कहा—"चलो कहीं छाँह में बैठें।" घना कुञ्ज सामने था, वहीं गये। बैठते ही जेब से दो अमरूद निकाल कर उसने कहा—"सिर्फ़ दो ही पके थे। घर के बग़ीचे के हैं। यहीं बैठकर खाने के लिये लाया हूँ। एक तुम्हारा एक मेरा।"

मैंने चुपचाप अमरूद लिया और खाया। एकाएक मैं उठ खड़ा हुआ। वह आधा अमरूद खा चुका था, उसका ध्यान उसी के स्वाद में था। मैंने धीरे-से पिस्तौल निकाली, घोड़ा चढ़ाया और अकम्पित स्वर में उसका नाम लेकर कहा,—अमरूद फेंक दो और भगवान का नाम लो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ।"

उसे विश्वास न हुआ। उसने कहा—"बहुत ठीक, पर इसे खा तो लेने दो!" मेरा धैर्य छूट रहा था। मैंने दबे कण्ठ से कहा—"अच्छा, खा लो।" खाकर वह खड़ा हो गया, सीधा तनकर। फिर उसने कहा—"अच्छा मारो गोली!" मैंने कहा, "हँसी मत समझो, मैं तुम्हें

गोली ही मारता हूँ, भगवान का नाम लो।" उसने हँसी में ही भगवान का नाम लिया और फिर वह नक़ली गम्भीरता से खड़ा हो गया। मैंने एक हाथ से अपनी छाती दाबकर कहा—"ईश्वर की सौगन्ध! हँसी मत समझो, मैं तुम्हे गोली मारता हूँ!"

मेरी आँखों से वही कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मिलाकर कहा—"मारो।"

एक क्षण-भर भी विलम्ब करने से मैं कर्तव्य-विमुख हो जाता। पल पल में साहस डूब रहा था। दनादन दो शब्द गूँज उठे। वह कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा। दोनों गोलियाँ छाती को पार कर गईं।

मैं भागा नहीं। भय से इधर-उधर मैंने देखा भी नहीं। रोया भी नहीं। मैंने उसे गोद में उठाया। मुँह की धूल पोंछी, रक्त साफ़ किया। आँखों में इतनी ही देर में कुछ-का-कुछ हो गया था। देर तक लिये बैठा रहा; जैसे माँ सोते बच्चे को----जागने के भय से----लिये निश्चल बैठी रहती है!

मैं उठा। ईंधन चुना, चिता बनाई, और जलाई। अन्त तक बैठा रहा।

* * *

बारहों प्रधान हाज़िर थे। उसी स्थान पर जाकर मैं खड़ा हुआ। नायक ने नीरव हाथ बढ़ाकर पिस्तौल माँगी। पिस्तौल दे दी। कार्य-सिद्धि का सङ्केत सम्पूर्ण हुआ। नायक ने खड़े होकर वैसे ही गम्भीर स्वर में कहा----"तेरहवें प्रधान की कुर्सी हम तुम्हें देते हैं।"

मैंने कहा----तेरहवें प्रधान की हैसियत से मैं पूछता हूँ कि उसका अपराध मुझे बताया जाय।"

नायक ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया----"वह हमारे हत्या-सम्बन्धी षड्यन्त्रों का विरोधी था, हमें उस पर सरकारी मुख़बिर होने का सन्देह था।" मैं कुछ कहने योग्य न रहा।

नायक ने वैसे ही गम्भीरता से कहा----नवीन प्रधान की हैसियत से तुम यथेच्छ एक पुरस्कार माँग सकते हो।"

अब मैं रो उठा। मैंने कहा----"मुझे मेरे बचन फेर दो, मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त करो, मैं उसी के समुदाय का हूँ। तुम लोगों में नङ्गी छाती पर तलवार के घाव खाने की मर्दानगी न हो, तो तुम अपने को देश-भक्त कहने में संकोच करो। तुम्हारी इन कायर हत्याओं को मैं घृणा करता हूँ। मैं हत्यारों का साथी, [illegible] और मित्र नहीं रह सकता तुम तेरहवीं कुर्सी जला दो।"

नायक को क्रोध न आया। बारहों प्रधान पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहे। नायक ने उसी गम्भीर स्वर में कहा----"तुम्हारे इन शब्दों की सजा मौत है, पर नियमानुसार तुम्हें क्षमा पुरस्कार में दी जा सकती है।"

मैं उठकर चला गया।

दश वर्ष व्यतीत हो गये। देश-भर में घूमा, कहीं ठहरा नहीं; भूख प्यास, विश्राम और शान्ति की इच्छा ही मर गई दीखती है। बस, अब वही पत्र मेरे नेत्र और हृदय की रोशनी है। मेरा वारण्ट निकला था। मन में आया, फाँसी पर जा चढ़ूँ; फिर सोचा, मरते ही उस सज्जन को भूल जाऊँगा, मरने में अब क्या स्वाद है! जीना चाहता हूँ। किसी तरह सदा जीते रहने की लालसा मन में बसी है, जीते जी ही मैं उसे देख और याद कर सकता हूँ!

श्री प्रेमचन्द

जन्मकाल — रचनाकाल

१६३७ वि० — १६७३ वि०

[श्री प्रेमचन्द हिन्दी के औपन्यासिक-सम्राट माने जाते हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा स्कूल और कालेज में हुई। ग्रेजुएट होने के बाद आप प्रांतीय शिक्षा-विभाग में डिप्टीइंस्पेक्टर के पद पर प्रतिष्ठित हुये। किन्तु देश-भक्ति के कारण आपने शिक्षा-विभाग का कार्य छोड़ दिया। आपमें साहित्य के प्रति अनुराग विद्यार्थी अवस्था से ही उत्पन्न हो चुका था और उसी समय से आप कहानियाँ लिखने लगे थे। पहले आप उर्दू में लिखते थे और उर्दू साहित्य संसार में आपने अच्छी ख्याति अर्जित करली थी किन्तु बाद को आप हिन्दी-क्षेत्र में आ गये। श्री प्रेमचन्द जी गाँव के निवासी थे। आप में ग्रामीण-जीवन की भावनायें कूट-कूट कर भरी थीं। इसलिये हिन्दी में जब यह अपनी रचनायें लेकर उपस्थित हुए तो वह ग्रामीण-जीवन तथा देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत थीं। आपकी हिन्दी में सब से प्रथम 'सप्त सरोज' नामक कहानी-संग्रह पाठकों के सामने आया और वह अत्यन्त लोक-प्रिय हुआ। इसके बाद आपका प्रथम उपन्यास 'प्रेमाश्रम' हिन्दी-संसार के सामने आया। इसके अनंतर कई कहानी-संग्रह और बृहत् उपन्यासों से हिन्दी-साहित्य के भण्डार की पूर्ति की। 'रंगभूमि' आपका सब से बड़ा उपन्यास है।

श्री प्रेमचन्द जी की भाषा बड़ी ही लोक-प्रिय और जीवित है। आपकी मुहावरेदार और सुन्दर भाषा ने आपकी वर्णन शैली पर चार चाँद लगा दिये। ग्रामीण जीवन, सामाजिक रीति-रवाज का चित्रण श्री प्रेमचन्द की रचनाओं की प्रधानता है।। सामाजिक विचार-धारा से रचनायें प्रवाहित हैं। पिछले बीस वर्ष में देश में जितने सामाजिक या राजनैतिक आन्दोलन हुये, प्रेमचन्द जी की रचनाओं में उनका एक अपूर्व समिश्रण और चित्रण है। आधुनिक-युग के चोटी के कहानी रचनाकारों में आपकी गणना होती है। लगभग तीन दर्जन पुस्तकों की आपने रचना की है। आपका निधन सम्वत् १६६३ में हुआ।]

आत्माराम

बेंदों-ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से सन्ध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण से वह बन्द हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ ग़ायब हो गई है। वह नित्यप्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजड़ा लिये कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था! उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानों में आवाज़ आती—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता" लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थी, दर्जनों नाती-पोते थे; लेकिन उसके बोझ को हल्का करनेवाला कोई न था। लड़के कहते—"जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनन्द भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगा ही।" बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगनभेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता, और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशांतिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आए-दिन शक्की और धैर्य-शून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे। पर महादेव अविचलित गांभीर्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता। ज्यों ही यह कलह शांत होती, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार

उठता—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।" इस मन्त्र के जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शांति प्राप्त हो जाती थी।

(२)

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्नसे हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता ग़ायब था। महादेव घबराकर उठा, और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु अगर प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था; इसलिये नहीं कि वे निकम्मे थे, बल्कि इसलिये कि उनके कारण वह अपने अपने आनंददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी, इसलिये कि वह उसकी अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिये कोई पनाह थी, तो वह यही तोता। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था, जब मनुष्य को शाँति-भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजड़ा उतार लिया, और उसे दिखाकर कहने लगा—"आ, आ, सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।" लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे? ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा, और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजड़ा लिये उसके पीछे दौड़ा, सो दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुत गामिता पर अचभा हो रहा था। मोह की इससे सुन्दर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गई थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मज़ा आता था। किसी ने कंकड़ फेंके, किसी ने तालियाँ बजाई; तोता फिर उड़ा, और वहाँ से दूर आम के बाग़ में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिंजड़ा लिये मेढक की भाँति उचकता चला। बाग़ में पहुँचा, तो पैर के तलुओं से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब ज़रा सावधान हुआ, तो फिर पिंजड़ा उठाकर कहने लगा—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।" तोता फुनगी से उतरकर नीचे की एक डाल पर आ बैठा; किन्तु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर ग़ौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आकर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया, महादेव का हृदय उछलने लगा। "सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता" का मन्त्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के समीप आया, और लपका कि तोते को पकड़ ले, किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान् मोह था, तो तोता मूर्तिमती माया। यहाँ तक कि शाम हो गई। माया और मोह का यह संग्राम अन्धकार में विलीन हो गया।

(२)

रात हो गई। चारों ओर निविड़ अंधकार छा गया। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े ही में आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिन-भर

कुछ नहीं खाया, रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न गई; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था, इसलिये कि यह उसकी अन्त-प्रेरणा थी, जीवन के और काम इसलिये करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेश-मात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उस चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह-त्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका माँदा रह-रह कर झपकियाँ ले लेता था; किन्तु एक क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अंधकार में उसकी आवाज़ सुनाई देती—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।"

आधी रात गुज़र गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका। देखा, एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता," और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला, किंतु जिस प्रकार बंदूक की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वे सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—"ठहरो-ठहरो! एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये सब चोर हैं। वह ज़ोर से चिल्ला उठा—"चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो!" चोरों ने पीछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रखा हुआ मिला। मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरें थीं! उसने एक मोहर बाहर निकाली, और दीपक के उजाले में देखा: हाँ, मोहर थी। उसने तुरन्त कलसा

उठा लिया, दीपक बुझा दिया, और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साह से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आवें, और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से ज़मीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाए, उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढँक दिया।

(४)

महादेव के अंतर्नेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिन्ताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था; पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफ़े की एक भारी दूकान खुल गई, निज संबंधियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गईं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग़ भी लग गया और वहाँ वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायँ, तो मैं भागूँगा क्योंकर? उसने परीक्षा करने के लिये कलसा उठाया, और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गए हैं। चिंता शान्त हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गई। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आई—

"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुख से निकलते थे; पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अन्तःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभाव-शून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुँजारित न कर सकती थी। पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आई थीं; इस वायु-प्रवाह से झूम उठा; गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुये ऊँची डाली से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा, और पिजड़े को उठा कर बोला —"आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया; पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजड़े में रक्खूँगा और सोने से मढ़ दूँगा।" उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु, तुम कितने दयावान् हो, यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ-जैसा पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था! इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई। वह अनुरक्त होकर कह उठा—

"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता,

राम के चरण में चित्त लागा।"

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बग़ल में कलश दबाया और घर चला।

(५)

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवा और किसी से भेंट न हुई, और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम

नहीं होता। उसने कलसे को एक नाँद में छिपा दिया, और उसे कोयले से अच्छी तरह ढँक कर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया, तो वह सीधे पुरोहित जी के घर पहुँचा। पुरोहित जी पूजा पर बैठे सोच रहे थे। कल ही मुक़दमे की पेशी है, और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं—जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन की। पण्डित जी ने मुँह फेर लिया। यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं, दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—"क्या है जी, क्या कहते हो? जानते नहीं हम इस समय पूजा पर रहते हैं?" महादेव ने कहा—"महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायन की कथा है।"

पुरोहित जी विस्मित हो गये। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिये भीख निकालना। पूछा—"आज क्या है?"

महादेव बोला—"कुछ नहीं ऐसी ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।"

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। बेंदों और अन्य निकटवर्ती गाँवों में सुपारी फिरी। कथा के उपरांत भोज का भी नेवता था। जो सुनता, आश्चर्य करता। यह आज रेत में दूब कैसे जमी!

संध्या-समय जब सब लोग जमा हो गये, पण्डित जी अपने सिंहासन पर विराजमान हुये, तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर से बोला—"भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितना खरे को खोटा किया, पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकार कर कहता हूँ कि जिसका मेरे ज़िम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को

खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले। अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिये, कल से एक महीने तक जब जी चाहे आवे, और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं!"

सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—"हम कहते न थे!" किसी ने अविश्वास से कहा—"क्या खाकर भरेगा, हज़ारों का टोटल हो जायगा!"

एक ठाकुर ने ठठोली की—"और जो लोग सुरधाम चले गये?"

महादेव ने उत्तर दिया—"उनके घरवाले तो होंगे।"

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया? किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है, और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बन्द किये हुये था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहित बोले—तुम्हें याद है, मैंने एक कण्ठा बनाने के लिये सोना दिया था, और तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुक़सान हुआ होगा?

पुरोहित—पचास रुपये से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं, और पुरोहित के सामने रख दीं।

पुरोहित की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत हो, तो दो-चार रुपये का नुक़सान हुआ होगा। बेचारे से पचास

रुपये ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को तो पण्डित, पर नीयत ऐसी खराब! राम-राम!!

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा-सी हो गई। एक घण्टा बीत गया; पर उन सहस्त्रों मनुष्यों में से एक भी न खड़ा हुआ। अब महादेव ने फिर कहा—"मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं। इसलिये आज कथा होने दीजिये, मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थ-यात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।"

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधू-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथा-योग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया, और एक आदमी भी हिसाब लेने नहीं आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिये बुरा है, और अच्छों के लिये अच्छा।

(६)

इस घटना को हुये ५० वर्ष बीत चुके हैं। आप बेंदों जाइये, तो दूर ही से एक सुनहला कलस दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलस है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता। तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्मराम का स्मृतिचिह्न है। उसका सम्बन्ध में विभिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है उकसा रत्नजटित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता है वह 'सत्त गुरु दत्त' कहत

हुआ अन्तर्ध्यान हो गया। पर यथार्थ यह है कि उस पक्षी-रूपी चन्द्र को किसी बिल्ली-रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज़ आती है—

"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,

राम के चरन में चित्त लागा।"

महादेव के विषय में भी कितनी जनश्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौटकर न आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

जन्मकाल	रचनाकाल
१९४० वि०	१९७२ वि०

[श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी यद्यपि प्रमुख रूप से कहानी-कार नहीं हैं फिर भी आपने जीवन में दो-चार कहानियाँ ऐसी लिखी हैं जो हिन्दी के कहानी-क्षेत्र में अपना एक अलग महत्व रखती हैं। उनकी जोड़ की कहानियाँ कम ही हैं। 'उसने कहा था' आपकी कहानी इतनी अधिक प्रसिद्ध हुई कि आपकी गणना हिन्दी-कहानी-लेखकों में होने लगी। आपने अपनी कहानियों में समाज के अन्तर्जगत का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। भाषा में प्रवाह और ओज है साथ ही चरित्र-चित्रण भी बड़ी मार्मिकता से किया गया है।

आप हिन्दी में अपनी उच्च-साहित्य सेवा के लिये प्रसिद्ध हैं। आपकी रचनाओं से यह आशा की जाती थी कि भविष्य में हिन्दी की सेवा आपके द्वारा कहीं अधिक होगी किन्तु थोड़ी ही आयु में आपका देहान्त हो गया। सम्वत् १९७८ में आपकी मृत्यु हो गई।]

—:०:०:—

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है, कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुये, इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह-चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तङ्ग चक्करदार गलियों में, हर-एक लड्ढीवाले के लिये ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसाजी!' 'हटो भाईजी!' 'ठहरना भाई!' 'आने दो लाला जी!' हटो बाछा!'*—कहते हुये सफ़ेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों में जङ्गल में से राह खेहे हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिये, हट जा कमरा वालिये, हट जा पुत्ताँ प्यारिये, बच जा लम्बी वालिये। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने

---

* बादशाह

से जान पड़ता था, कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था, और यह रसोई के लिये बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ हैं?"

"मगरे में—और तेरे?"

"माँझे में—यहाँ कहाँ रहती है!"

"अतरसिंह की बैठक में; वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाज़ार में है।"

इतने में दूकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—"तेरी कुड़माई * हो गई?"

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई, और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—"हाँ हो गई।"

"कब?"

"कल; देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू' †।"

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया।

---

* मँगनी। † ओढ़नी।

सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाना से दस-गुना जाड़ा और मेंह, और बरफ़ ऊपर से पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुये हैं। ग़नीम कहीं दिखता नहीं;—घण्टे-दो-घण्टे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न-मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुये हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये परसो 'रिलीफ़' आजायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका* करेंगे, और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी† मेम के बाग़ में—मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही मुझे। तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया

---

* बकरा मारना। † फ्रैंच।

गा—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने
हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हज़ारसिंह ने
मुसकराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये
नहीं चलते। बड़े अफ़सर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना
है। एक तरफ़ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है" लहनासिंह बोला—"पर करें क्या? हड्डियों-
हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में
दोनों तरफ़ से चम्बे की बावलियों के से सोते भर रहे हैं। एक धावा
हो जाय, तो गरमी आजाय।"

"उदमी*, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने
बालटियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है,
खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।"—यह कहते हुये सूबेदार सारी
खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर
खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी
के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े, और उदासी के
बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—
"अपनी बाड़ी के खरबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर
में नहीं मिलेगा।"

"हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस
घुमा† ज़मीन यहाँ माँग लूँगा, और फलों के बूटे‡ लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ × को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली
फरङ्गी मेम—"

---

*उद्यमी। † जमीनों की माप। ‡ पेड़। × स्त्री होरां = आदरवाचक।

"चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"

"देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ, तो समझाती है, कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिये लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रात-भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे* नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे-मारूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वज़ीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मारने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कैसे—"

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जांदिए,
कर लेणा लौंगां दा बपार मडिए;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय लाणा चटाका कदुएनुँ।

---

* नई नहरों के पास वर्ग-भूमि।

कद्दू बणाया वे मज़ेदार गोरिये,
हुण लाणा चटाका कदुए नुं ॥ †

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूंज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज़ ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अन्धेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोध-सिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट * ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुंह पर है और एक बोध सिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई क्या है?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो?" पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी † छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो?"

"और तुम?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

---

† अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जानेवाली, लौंगों का व्यापार कर ले और इज़ारबन्द का सौदा करले। जीभ चटचटाकर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मज़ेदार बना है। अब चटचटाकर उसे खाना है।

* ओवरकोट † कँपकपी।

"ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिये—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मेमे बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरू उनका भला करे।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो?"

और नहीं झूठ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और ज़ीन का कुरता भर पहन-कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई,—"सूबेदार हज़ारासिंह!"

"कौन लपटन साहब? हुकुम हुज़ूर"—कहकर सूबेदार तनकर फौज़ी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैय्यार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो

गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—"लो तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—"लाओ, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्ठियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह क़ैंचियों से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौक़ा मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्यों साहब हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे?"

"लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी ज़िले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वही जब आप खोते* पर सवार थे और आपका ख़ानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था? "बेशक पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है! क्यों साहब, शिमले से तैय्यार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रजमंट की मैस में लगायेंगे। 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फ़ुट के तो होंगे?"

"हाँ, लहनासिंह, दो फ़ुट चार इञ्च के थे तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

---

* गधे।

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

"कौन? वज़ीरासिंह?"

"हाँ, क्यों लहना? क्या, क़यामत आ गई? ज़रा तो आँख लगने दी होती?"

(४)

"होश में आओ। क़यामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।"

"क्या?

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है! सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा * साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है?"

"तो अब?"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाईं पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूट है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

---

* सुसरा (गाली)

"हुकुम तो यह है कि यहीं—"

"ऐसी तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफ़सर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की ख़बर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख ! * मीन गौट्ट' कहते हुये चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलासी ली। तीन-चार लिफ़ाफ़े और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब ? मिज़ाज़ कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें

---

* हाय ! मेरे राम (जर्मन)

होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खनसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम, के पाँच लफ़ज़ भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानों जाड़े से बचाने के लिये, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया "चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चमका देने के लिये चार आँखें चाहिये। तीन महीने हुये एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के ताबीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा * बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जाँयगे तो गौहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी। और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। सब

---

* खटिया

बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफ़ा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था! पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुये थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे—

अचानक आवाज़ आई 'वाह गुरुजी की फतह? वाह गुरुजी का ख़ालसा!!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौक़े पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी का ख़ालसा! सत श्री अकालपुरुख!!!' और लड़ाई ख़तम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मट्टी से पूर लिया और बाकी का साफ़ा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसे कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस

ी भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे
ाया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागज़ात पाकर
। उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता
ो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने
ुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो
ाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के
अन्दर-अन्दर आ पहुँची। फील्ड् अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते
ाहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल
लेटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की
ाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा
ाव है सबेरे देखा जायगा। बोधसिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी
में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख
लहना ने कहा—"तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनी जी की
ौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम?"

"मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना, और जर्मन मुरदों के
लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं
मैं खड़ा हूँ? वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिये
तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना।
और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उनने कहा था वह मैंने
कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ
पकड़ कर कहा—"तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना

कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?"

"अब आप गाड़ीपर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया।—"वज़ीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है!"

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ हो जाती है। जन्म-भर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं; समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

* * *

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्ज़ीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई ? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा—'हाँ' कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वज़ीरासिंह, पानी पिला दे।"

\+ \+

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के

मुक़दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया वहाँ रेजिमेन्ट के अफ़सर की चिट्ठी मिली, कि फ़ौज लाम पर जाती है, फ़ौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह को चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुये हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे, सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था, और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे* में से निकल कर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।' लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं! कब से? रेजिमेन्ट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना!' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई—धत्—कल हो गई—देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट मे मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वज़ीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था,।

❀ ❀ ❀

स्वप्न चल रहा है सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने

---

*ज़नाने।

बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमक हलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम तीमियों * को एक घंघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फ़ौज में भर्ती हुये उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुये, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुन्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे, और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी † में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह, पानी पिला' —'उसने कहा था।'

❀ ❀ ❀

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला "कौन! कीरतसिंह?"

वज़ीरा ने कुछ समझ कर कहा—"हाँ।"

"भइया, मुझे और ऊँचा करले। अपने पट्ट ❀पर मेरा सिर रख ले।"

वज़ीरा ने वैसा ही किया।

---

* स्त्रियों † अन्दर का घर। ❀जाँघ

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़† में यह आम खूब फलैगा। चचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने मैंने इसे लगाया था।"

वज़ीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

❀ ❀ ❀

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रान्स और बेलजियम-६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

---

† आषाढ़।

श्री राय कृष्णदास

जन्मकाल | रचनाकाल

१६४६ वि० | १६७४ वि०

[श्री राय कृष्णदास आधुनिक काल में माने हुये कलाकार, कहानी कार और सुन्दर कवि माने जाते हैं। हिन्दी में आप अपनी 'साधना' गद्य, काव्य द्वारा आये और धीरे-धीरे कहानीकार के रूप में विख्यात हुये। आपकी कहानियाँ भावुकता और अनुभूति से पूर्ण प्रभावित हैं। उनमें समाज का चरित्र-चित्रण तो होता ही है साथ ही मानव के हृदयगत अंतर्द्वंद्वों का मनोरम चित्रण होता है। कहानियाँ प्रायः गद्य काव्य की शैली से ओत प्रोत होती हैं। कला के सुन्दर पारखी होने के साथ ही प्राचीन खोज पूर्ण कारीगरी तथा शोध के भी आप मर्मज्ञ और जानकार हैं। इन्हीं कारणों से आपकी कहानियों में मानव जीवन का चित्रण बड़ी बारीकी से अंकित होता है। बौद्धकालीन साहित्य का प्रभाव आपकी रचनाओं में पाया जाता है। भाषा बड़ी परिमार्जित, मर्म पूर्ण और सुन्दर होती है। शैली में प्रवाह और आकर्षण है। आपकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और एकाध काव्य संग्रह भी। इस समय आप काशी में रहते हैं और हिन्दी साहित्य की साधना करते हैं]

----:o:o.o:----

अन्तःपुर का आरम्भ

हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ, हूँ-ऊं के वज्र निनाद से सारा जंगल दहल उठा।

उस गंभीर, भयावनी ध्वनि ने तीन बार, और उसकी प्रतिध्वनि ने सात-सात बार, सातो पर्वत श्रेणियों को हिलाया। और जब यह हु-हुँकार शांत हुआ, तब निशीथ का सन्नटा छा गया; क्योंकि पशुपक्षी किसी की मजाल न थी कि जरा सकपकाता भी।

अब केसरी ने एक बार दर्प से आकाश की ओर देखा, फिर गरदन घुमा-घुमा कर अपने राज्य-वन प्रांत की चारों सीमाओं को परताल डाला। उसके घुँघराले केश उसके प्रपुष्ट कंधों पर इठला रहे थे। वह अकड़ता हुआ, डँकारता हुआ, निर्द्वन्द्व मस्तानी चाल से उस टीले से नीचे उतरने लगा, जिसपर से उसने अभी-अभी गर्जना की थी।

उसने एक बार अपनी पूँछ उठाई। उसे कुछ क्षण चँवर की तरह डुलाता रहा, फिर नीचे करके एक बार सिंहावलोकन करता हुआ चलने लगा। उसके घुटनों की धीमी चड़मड़ भी जी दहला देनेवाली थी!

ऊपर पहाड़ी में एक गुफा थी। बहुत बड़ी नहीं, छोटी-सी ही। आजकल के सभ्य कहलाने वाले—प्रकृति से लाखों कोस दूर—मनुष्य उसमें कठिनता से विश्राम कर सकें; लेकिन यह उस समय की बात है, जब मनुष्य वनौकस था! कृतयुग के आरम्भ की कहानी है।

गुहा का आधा मुँह एक लता के अंचल से ढंका था। आधे में एक मनुष्य खड़ा था। हाँ, मनुष्य; हम लोगों का पूर्वज, पूरा लम्बा, ऊंचा पचहत्था जवान, दैत्य के सदृश बली, मानों उसका शरीर लोहे का बना हो। उसके बायें हाथ में धनुष था और दाहिने हाथ में बाण। कमर में कृष्णाजिन बन्धा हुआ था—मौञ्जी मेखला से। पीठ पर रुरु के अजिन का उत्तरीय था। उस खाल की दो टाँगों की—एक

आगे की, दूसरी पीछे की, एक दाहिनी की दूसरी बांई की—कैंची की गाँठ छाती के पास बँधी हुई थी, बाकी दो लटक रहीं थीं। चारों में खुर लगे थे। उस पूर्वज का शरीर रोंएँ की घनी तह से ढंका हुआ था। सिर पर बिखरे बड़े-बड़े बाल। गहबर लट पड़ी डाढ़ी। सहज गौर वर्ण, धूप, वर्षा, जाड़े से पककर तंबिया गया था। शरीर पर जगह-जगह घठ्ठे थे—पेड़ चढ़ने के, पहाड़ पर चढ़ने के रेंगने के घिसलने के, क्योंकि पुरातन नर की जीवनचर्य्य के ये ही समय-यापन थे। और, एक बड़ा भारी घठ्ठा दहिने हाथ की मुठ्ठी पर था—प्रत्यंचा खींचने का। अरने भेंसे की सींग का बना, पुरसा भर ऊँचा धनुष; उसी की कड़ी मोटी तांत की प्रत्यञ्चा को खींचते-खींचते, केवल यह घठ्ठा ही नहीं पड़ गया था, प्रत्युत बाहें भी लम्बी हो गईं थीं। वे घुटना चूमा चाहती थीं।

उस पुरुष के पीछे थी आद्या नारी। उसको चीतल की चित्र उत्तरीय थी, और कटि में एक बल्कल। एक सुन्दरी फूली लता की टहनी सिर से लिपटी थी, और बिखरी हुई लटों में उलझी थी! कानों में छोटे-छोटे सींग के टुकड़े झूल रहे थे, हाथों में बूढ़े हाथियों के पोले दाँतों के टुकड़े पड़े हुये थे। हाँ वे ही—चूड़ियों के पूर्वज।

वह अपने पुरुष के कन्धे का सहारा लिये उसी पर अपने दोनों हाथ रक्खे और ठुड्डी गड़ाये खड़ी थी।

पुरुष के अङ्ग फड़क रहे थे। उसने स्त्री से कहा—"देखो! आज फिर आया—कल घायल कर चुका हूँ, तिस पर भी।"

'तब आज चलो, निपटा डालें।"

"हाँ, अभी चलो।"

पुरुष अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगा, और स्त्री ने अपना, मठारे हुये चकमक पत्थर के फल वाला, भाला सम्हाला! वह उसके बगल में ही दीवार के सहारे खड़ा किया था। भाला लेकर उसने पूछा—

" 'अभी चला' ? मैं भी तो चलूँगी।"

"नहीं तुम क्या करोगी ? क्या तुम्हें मेरी शक्ति पर सन्देह है ?"

"छीः ! परन्तु मैं यहाँ अकेली क्या करूँगी ?"

"यहाँ से मेरा खेल देखना।"

"क्यों, मुझे ले चलने में हिचकते क्यों हो ?"

"नहीं, तुम्हारी रक्षा का ख्याल है।"

"क्यों, आज तक किसने मेरी रक्षा की है ?"

"हाँ, मैं यह नहीं कहता कि तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकती पर......"

" 'पर'......?—"

"मेरा जी डरता है।"

"क्यों ?"

"तुम सुकुमारी हो।"

आध्या का मुँह लाल हो उठा। क्रोध से नहीं, यह एक नये प्रकार की स्तुति थी। इसकी रमणीयता से उसका हृदय गुद-गुदा उठा।

उसने मुसकरा कर पूछा—"तो मैं क्या करू ?"

"यही बैठी-बैठी तमाशा देखो। मैं एक झंखाड़ लगा कर गुफा का मुंह और भी छिपाये देता हूँ। आजकल इन चतुष्पदों ने हम द्विपदों से रार ठान रक्खी है। देखना —सावधान !"

"जाओ ! जाओ ! आज मुझे छल कर तुम मेरे आनंद में बाधक हुये हो—समझ लूंगी !"

"नहीं कहना मानो ! हृदय आगा-पीछा करता है, नहीं तो......"

"अच्छा, लेकिन झखाड़ लगा कर क्या करोगे ? क्या मैं इतनी निहत्थी हो गई !"—शक्ति ने मुसकरा दिया।

"तो चला "—कह कर पुरुष जब तक चले-चले, तब तक नारी ने उसका हाथ पकड़ लिया—"लेकिन देखो, उसके रक्त से तुम्हें सजाऊँगी मैं ही। और, किसी दूसरे को उसकी खाल भी न लेने देना।"

"नहीं, मैं उसे यहीं उठाये लाता हूँ। अब देर न कराओ। देखो, वह जा रहा है—निकल न जाय!"

नारी ने उत्तेजना दी—"हाँ लेना बढ़ के! पुरुष ने एक बार छाती फुला कर चीत्कार किया। सिंह ने वह चीत्कार सुना। सिर उठा कर पुरुष की ओर देखा। वहीं तन कर खड़ा हो गया और पुरुष भी तूफ़ान की तरह उसकी ओर तीर संधाते हुये बढ़ा।

एक क्षण में दोनों शत्रु आमने सामने थे। सिंह टूटा ही चाहता था, कि चकमक के फल वाला बाण उसका टीका फोड़ता हुआ सन्न-न करता निकल गया। गुहा में से किलकारी की ध्वनि सुनकर पुरुष का उत्साह और भी बढ़ उठा।

इसी क्षण म्रियमाणसिंह दूसरे आक्रमण की तैय्यारी में था, कि मनुष्य ने उसे गेंद की तरह समूचा उठा लिया, और अपने पुरसे तक ले जाकर धड़ाम से पटक दिया। साथ ही, सिंह ने अपने पंजों से अपना ही मुँह नोचते-नोचते, सिर फेंकते-फेंकते ऐंठते हुये, पुनः एक हलकी पल की पछाड़ खा कर अपना दम तोड़ दिया।

*   *

नारी गुहा-द्वार के सहारे खड़ी थी। उसका आधा शरीर लता की ओट में था। वहीं से वह अपने पुरुष का पराक्रम देख रही थी; आनन्द की कूकें लगा रही थी!

*   *   *

हाँ, उसी दिन अंतःपुर का आरम्भ हुआ था।

——

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

जन्मकाल रचनाकाल

१९५६ वि० १९७६ वि०

[श्री चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' अपने ढँग के एक अनोखे और श्रेष्ठ हिन्दी कहानी तथा उपन्यास लेखक थे। आपने कई उपन्यासों तथा कई श्रेष्ठ और सुन्दर कहानियों की रचनायें की हैं। आपकी गद्य शैली पूर्णतः संस्कृत मिश्रित और भावपूर्ण है। आपके गद्य को पढ़ कर महाकवि बाण की 'कादम्बरी' की शैली का स्मरण हो आता है। हृदयेश जी का देहांत थोड़ी ही अवस्था में हो गया। यदि आप जीवित होते तो इस समय अपनी शैली के प्रतिनिधि कहानी कारों में आपका स्थान अलग महत्व रखता सामाजिक पृष्ठभूमि पर आप की कहानियों का जो वातावरण प्रस्तुत होता है वह बड़ा गूढ़ और दार्शनिक होता है। आपकी रचनायें जन साधारण को उतना प्रभावित नहीं कर पाती जितना पढ़े लिखे समाज को तथा सुलझे हुये बुद्धिमानों को। हिन्दी में बुद्धिवादी कहानियाँ आप की साहित्यिक देन है। भाषा बड़ी ललित और सुन्दर होती है। आप शाहजहाँपुर के निवासी थे। आपका निधन सम्वत् १९८४ विक्रमी में हुआ]

----:o:o:----

शाँति निकेतन

(१)

पारिजात-निकुञ्ज में स्फटिक-शिला पर बैठी हुई हास्यमुखी कल्पना ने विषाद-वदना चिन्ता के चिबुक को कर-कमल से उठाकर कहा—बहन ! चलो, इस चन्द्रिका-धौत गगन मण्डल में विहार करें ।" चिन्ता ने अन्य-मनस्क होकर उत्तर दिया—"ना बहन ! मुझे इस कुञ्ज की सघन छाया ही में विश्राम मिलता है ।"

कल्पना ने अभिमान में भरकर लोचन अश्रुपूर्ण करके कहा—"बैठो बहन ! मैं तो इस विस्तृत ब्रह्मांड के प्रत्येक धाम का निरीक्षण करूँगी ।" चिन्ता को चिन्ता-निमग्न छोड़कर कल्पना चन्द्रिका-चर्चित नभ-प्रदेश में विहार करने के लिये चली गई ।

कल्पना के कलित कलेवर में शीतल समीर ने सुरभित सुमन-समूह का पराग लेकर अंगराग लगाया; चन्द्रिका ने हँसकर सुधा-स्नान कराया; अम्बर ने नीलांबर पहनाया; तारकावली ने हीरकहार पहनाया; स्वर्ग-मंदाकिनी ने कर-कमल में कांचन कमल का उपहार दिया । इस प्रकार सुसज्जित होकर, सर्वत्रगामी मनोरथ पर आरूढ़ होकर कल्पना कनक-राज्य में विचरण करने के लिये निकली । और चिन्ता ? विषाद-वदना चिन्ता उसी पारिजात-कानन के स्निग्ध छायामय निकुञ्ज में बैठकर किसी की चिन्ता करने लगी ।

निद्राभिभूत चन्द्रशेखर कल्पना के रथ की गति को देखने लगे । देखते-देखते मनोरथ दृष्टि-पथ से अन्तर्हित हो गया । चन्द्रशेखर व्याकुल होकर कल्पना के लिये पुकारने लगे । उनकी आँख खुल गई; स्वप्न की स्निग्ध आभा चैतन्य के अत्युज्ज्वल आलोक में विलीन हो गई ।

प्रातःकाल का शीतल पवन ललित लताओं को आलिङ्गन करता हुआ बह रहा था; कनक-कुञ्ज में बैठकर कलित-कंठ कोकिला कोमल

कुसुम को जगाने के लिये प्रभाती गा रही थी; यामिनी उषा को अपना राज्य देकर सघन वन की अन्धकारमयी छाया में तप करने के लिये जा रही थी।

कल्पना चिन्ता को निकुञ्ज में परित्याग करके स्वयं संसार में परिभ्रमण कर रही थी।

चन्द्रशेखर ने देखा—आश्चर्य और आह्लाद के अपूर्व सम्मिश्रण में, स्वप्न और सत्य के सुवर्ण राज्य में, ध्यान और ध्येय के विचित्र सम्मिलन में, अभिलाषा और पूर्ति की अनोखी संधि में देखा—कल्पना फूलों के राज्य में विहार कर रही है।

चन्द्रशेखर ने निकट जाकर पूछा—"कौन ? कल्पना !"

कल्पना ने उत्तर दिया—"मैं कल्पना नहीं, किशोरी हूँ।"

कल्पना की भाँति किशोरी भी उसी क्षण अन्तर्हित हो गई।

चन्द्रशेखर अनिमेष लोचन से देखने लगे।

कुतूहल और कल्पना दोनों सहोदर हैं।

(२)

यामिनी और उषा के अन्तिम आलिङ्गन में समय, स्मृति और प्रत्यक्ष की क्षणिक सन्धि के अवसर पर, स्वर्ग और संसार के निमेषव्यापी मिलन के मुहूर्त में स्वप्न और सत्य के चुम्बन-व्यापार के क्षण में चन्द्रशेखर ने किशोरी का कान्त दर्शन प्राप्त किया था।

उस समय विकार का आडम्बर नहीं था; स्निग्ध शान्ति का सुन्दर सुराज्य था। चन्द्रशेखर ने जो दृश्य देखा, वह भूलने योग्य नहीं था। संसार के रंगमंच पर सौंदर्य का एक अपूर्व अभिनय था। चन्द्रशेखर केवल दर्शक ही नहीं थे, उन्होंने उस अभिनय में भाग भी लिया था तब भला वह उसे कैसे भूल सकते थे ! स्वर्ग से दूर रहकर भी पुण्य-

प्रवृत्ति ऊँची उठती है, पङ्क में पतित होकर भी हीरक-ज्योति अपनी आभा का विस्तार करती है; विपत्ति के अन्धकार गह्वर में भी आत्मा का आलोक दृष्टिगोचर होता है। तब स्वभाव के सुकुमार बन्धन में बँधकर मनुष्य अपनी कृति की स्मृति को कैसे विस्मृत कर सकता है?

चन्द्रशेखर का हृदय किशोरी के नवयौवन-वन में विहार करने लगा। लावण्यसरोवर के विकच इन्दीवर-नयन में प्रफुल्ल गुलाब के सुकोमल पल्लवाधर में तुषार-कण-सिक्त विकसित कमल-कपोल में, नव-दूर्वादल-श्याम रोमराजि में हिमाचल के कलित कनक-शृङ्ग में चन्द्रशेखर का हृदय तन्मय होकर विहार करने लगा।

चन्द्रशेखर संसार में रहकर भी कल्पना-किशोरी की मधुर मूर्ति के साथ स्वर्ग में विहार करने लगे। इस स्वर्ग में समीर था, किन्तु शीतलता नहीं थी; तन्मयता थी, किन्तु आनन्द नहीं था; राग था, किन्तु उतार नहीं था। चन्द्रशेखर प्रणय-पर्वत पर स्थित होकर अचेत होने लगे। कौन जानता था कि उनका पतन स्वर्ग में होगा, अथवा रसातल में? इस सम्बन्ध में क्या चन्द्रशेखर सदुपदेश को सादर ग्रहण करेंगे?

किशोरी किशोरावस्था की सीमा पर पहुँच चुकी थी। यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति की रंगभूमि में किशोरी ने प्रथम चरण रक्खा था। यौवन के तीव्र मद की अरुणिमा उसके नयन-कमलों में दृष्टिगोचर होने लगी थी। उसकी गति में भी सुरा का मतवालापन परिलक्षित होता था। आनन्द-मद से भरी हुई निःश्वास एवं प्रत्येक अङ्ग का विकास खिलती हुई कली के सदृश प्रतीत होता था। कैसा अपुरुष लावण्य था! शरत्काल के विमल जल की भाँति, दर्पण की स्वच्छता की भाँति, सती के प्रेम की भाँति उसका समस्त शरीर देदीप्यमान हो रहा था। कमलिनी ने अभी तक बालरवि के प्रथम किरण-स्पर्श से उत्पन्न होनेवाले विद्युत्प्रवाह का अनुभव नहीं किया था, कुमुदिनी ने कलाधर की सुधा-धारा में अवगाहन नहीं किया था। कैसी मनोरम संधि थी! स्वच्छ सुन्दर गगन में मानो लालिमा की प्रथम रेखा थी; कैशोर-कानन में यौवन-वसंत का

मानो प्रथम पद-संचरण था; प्रतिपदा और द्वितीया के योग में सुधाधर की मानो पहली कला थी; स्वच्छ तुषार के ऊपर मानो बालरवि की प्रथम किरण थीं; पकते हुये रसाल के ऊपर प्रकृति की लेखनी से चित्रित की हुई मानो प्रथम अरुणरेखा थी; नन्दन-वन की पारिजात-लता का मानो प्रथम विकास था; सौन्दर्य की रंगभूमि पर रति देवी की मानो पहली तान थी।

परिधान! सुन्दर शरत्काल की यामिनी मानो चन्द्रिका की साड़ी पहनकर खड़ी हुई थी; गुलाब की अधखिली कली मानो जुही की साड़ी पहनकर विहार करने आई थी; आदिकवि की कल्पना मानो वाणी का शुभ्र अंबर परिधान करके साहित्य के उपवन में घूम रही थी; आत्मा मानो उज्ज्वल सत्य की साड़ी पहनकर पतिव्रता के परम पावन वन में पुष्प-चयन कर रही थी! चन्द्रशेखर इस रूप पर, इस वेश पर, बलिहार हो गये।

चन्द्रशेखर उपवन में इधर-उधर घूमने लगे। उपवन उसी प्रकार शान्त और मनोरम था, किन्तु चन्द्रशेखर को प्रतीत होता था, मानो प्रत्यक्ष स्मृति के गर्भ में लोप हो गया, ध्वनि प्रतिध्वनि के गर्भ में लीन हो गई, राग मूर्च्छा के विवर में विलुप्त हो गया और राज-राजेश्वरी भगवती कल्याण-सुन्दरी की मृदुल हास्यध्वनि निस्तब्धता की गम्भीर गुफा में अन्त-र्हित हो गई।

(३)

कितने ही दिवस व्यतीत हो गये। ऋतुराज का रामराज्य समाप्त हो गया; ग्रीष्म का भीषण साम्राज्य भी अन्तर्हित हो गया। उत्तप्त कलेवर पर पीयूष-प्रवाह की भाँति, पश्चात्ताप-दग्ध हृदय पर करुणामय की अजस्र करुणा-धारा की भाँति, शापसंतप्त मानव-मानस पर दया की आशीर्वाद-लहरी की भाँति, सूर्य-तप्त पृथ्वीमण्डल पर नील-श्याम सघन

धन की शीतल वारि-धारा पतित होने लगी। चन्द्रशेखर की स्मृति-दामिनी, भूतकाल के सघन अन्धकार को पाकर और भी तीव्रता से चमकने लगी। घोर अन्धकार के मध्य में दामिनी की वह तीव्र ज्योति—स्मृति का अक्षय-दीपक—किशोरी का वह कल्पनामय कान्ति कलेवर, चन्द्रशेखर को दुख देकर भी कराल काल की कालिमामय कन्दरा में पतित होने से बचा लेता था।

सुविशाल गम्भीर महासागर में निमग्न होता हुआ नाविक दूर पर—बहुत दूर पर—पृथ्वी और आकाश की मिलन-सीमा पर—उड़ती हुई जलयान की वैजयन्ती का दर्शन पाकर, जिस प्रकार मृत्यु की भीषण कन्दरा में पतित होने से बचने के लिये चेष्टा करता है, सहस्त्र-सहस्त्र विपत्तियों के जाल में आबद्ध मानव, दूर पर भविष्य के अन्धकारमय गगन में—आशा की कल्पनामय ज्योति को देख कर जिस प्रकार इस असार-संसार पर अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है; उद्भ्रान्त पथिक, निराशा के भयंकर मरुप्रदेश में उत्तप्त रेणुका-राशि के मध्य में, दूर पर—बहुत दूर पर—मरीचिका की मायिक छटा को देख कर, जिस प्रकार अपने प्राणों को इस नश्वर देह में कुछ काल के लिये और भी बन्दी रखने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार चन्द्रशेखर, किशोरी को—अपने हृदय-साम्राज्य के एकमात्र आधार-स्तम्भ को—अपने मानसरोवर के एकमात्र विकसित सरोज को—अपने प्रणय-पादप के एकमात्र विकच पुष्प को—अपनी जीवन-व्यापिनी यामिनी के एकमात्र उज्ज्वल नक्षत्र को—दूर पर, समाज और धर्म की सीमा के परे, लोक और परलोक के अन्तिम छोर पर, स्वर्ग और संसार की अन्तिम रेखा पर, देख कर उसकी मृदु मुसकान पर अपना सर्वस्व, लौकिक और पारलौकिक, वार देने के लिये, प्रेम के पारा-वार को पार करके अपनी रक्षा करने की चेष्टा में प्रवृत्त हो रहे हैं! हाय चन्द्रशेखर! तुम्हारा कैसा दुस्साहस है, कैसा असम्भव अभिमान है, कैसा व्यर्थ स्वार्थ-त्याग है।

चन्द्रशेखर प्रायः सब समय ही उपवन में रहते हैं। वह कल्पना का साहचर्य पाकर, किशोरी को नायिका बनाकर, भावों की रसलहरी को प्रभावित करके अपने हृदय-पट पर, अव्यक्त भाषा में मनोहर चिन्ता-छन्द में एक महाकाव्य को रचना करते हैं। छन्द के साथ कहीं वीणा भी बज जाती ! रस-मन्दाकिनी यदि कहीं उन चरण-कमलों को भी चूम पाती ! कल्पना यदि कहीं किशोरी का शृङ्गार कर पाती ! किन्तु उषा के बिना प्रातःकाल का वैभव निष्फल है, पात्र के बिना रस का आधार नहीं है, सौन्दर्य के बिना भक्ति का प्रवाह व्यर्थ है, और किशोरी के बिना जगत् शून्य है।

चन्द्रशेखर उसी शून्य में आत्म-विस्मृत होकर घूमने लगे। उपवन की फल-विनम्र पादप-राजि, कुसुमाभरण-भूषिता लता-श्रेणी, दुग्ध-फेन-विनिन्दित दूर्वादल, कलकण्ठ पक्षिकुल, अधिक क्या, प्रकृति का सम्पूर्ण वैभव भी, उनको अनेक प्रलोभन देकर शून्य में जाने से न रोक सका।

चन्द्रशेखर निरुद्देश-हृदय, अनियंत्रित गति, उदासीन मति अवांछित आशा और अशेष ज्वाला के साथ, इस जगत् के महाशून्य में गृह को परित्याग करके चल दिये। सब कुछ टूट गया; केवल एक बन्धन है; जीवन की विद्युत् के साथ उसका सम्बन्ध है। जिस दिन वह टूटेगा, उस दिन सम्भवतः—चन्द्रशेखर इस जगत् में नहीं रहेंगे।

कैसा आश्चर्य है—कठिन जीवन एक सूक्ष्म तन्तु पर अवलम्बित है।

(४)

महाशून्य की महाशान्ति कैसी भयंकर है ! अर्द्ध-निशा के समय श्मशान-भूमि में, यामिनी के तृतीय प्रहर की समाप्ति के समय, मरणोन्मुख व्यथित की मृत्यु-शया के पार्श्व-देश में, निर्घोष उल्कापात के समय तिमिरावृत गगन मण्डल में, निर्बोध के हृदय पर अत्याचार के

समय नीरव आघात में—कैसी भयंकर शान्ति होती है, उसका अनुभव इस मत्सरमय संसार को अनेक बार प्राप्त हुआ है। उसी महाशून्य की महाशान्ति में, महाराति की महानीरवता में, चन्द्रशेखर कूद पड़े हैं। महाज्योति का आभास पाकर, महासङ्गीत का निनाद सुनकर, चन्द्रशेखर पार हो सकेंगे या नहीं इस विषय में सन्देह करना मूर्खता का लक्षण नहीं है।

चन्द्रशेखर ने अनेक तीर्थों में परिभ्रमण किया, अनेक पुनीत-सलिल सरिताओं में स्नान किया, अनेक जनशून्य काननों में परिभ्रमण किया, किन्तु उस महाशून्य में वल्लकी के स्वर कभी नहीं गूंजे, आनन्द की भैरवी का रव कभी कर्णगोचर नहीं हुआ, अभिलाषा के ताल पर आशा के उस मनोहर नृत्य की पद-झंकार कभी नहीं सुनाई दी। उसी महाशान्ति के बीच में चन्द्रशेखर एकाकी घूमने लगे। महाशून्य में परिव्याप्त महावायु ने मानो उनकी हृदयाग्नि को और भी भयंकर रूप से प्रज्वलित कर दिया। अब वेदना का नीरव दर्शन, व्याधि की निर्दोष ज्वाला उनके उस काम-कल्प कोमल कलेवर को भस्मसात् करने का प्रबल आयोजन करने लगी।

कहाँ है वह स्निग्ध नवनीत-तुल्य शान्ति—जो शान्ति संसार-त्यागी महात्माओं का भी हृदय आकर्षित कर लेती है, सघन वन में उत्पन्न होनेवाली कली को चूमकर हँसा देती है, शैल-शिखर पर स्थिति होकर औषधि-वर्ग में संजीवनी-शक्ति का सञ्चार कर देती है, नन्दन-कानन में पारिजात को विकसित करती है। ऋषियों के हृदय में आत्मा के स्वरूप का—आनन्द की अक्षय ज्योति का—दर्शन कराती है, उषा के निद्रित नयनों में प्रद्युम्न को मनोहर मूर्त्ति को लाकर स्थापित करती है, निर्बोध बालक के मंजुल मुख पर मन्द हास्य, मातृत्व के पवित्र वक्ष-स्थल में करुणा और भ्रातृत्व के पवित्र हृदय-सदन में स्वार्थ-त्याग की लहरी प्रवाहित करती है, जिसकी छाया में योगी की आत्मा निर्वाण-पद को प्राप्त करती है, जिसके आश्रय में सुर-निवास स्वर्ग की पदवी धारण

करता है, जिसके चरण-तल में स्थिति होकर धर्म अपनी रक्षा करता है, पुण्य-पादप जिसकी पद-निःसृत मन्दाकिनी से सिंचित होकर ऊर्ध्व-मूल कहलाता है, जिसकी प्रणय-मुद्रा को देखकर त्रसित आश्वस्त हो जाते हैं। जिसकी मृदु मुसकान देखकर अचल अचल हो जाते हैं, जिसका वीणाविनिन्दित स्वर सुनकर, उन्मत्त होकर, वायु मन्द-मन्द बहने लगता है, जिसकी कान्ति को देखकर जल, आत्मविस्मृत होकर, निर्मल शान्त होकर, अनन्त की ओर प्रवाहित होता है, वह शान्ति—प्यारी शान्ति—कहाँ है ? चन्द्रशेखर उसके लिये व्यग्र हो गये। उस शान्ति को प्राप्त करने के लिये अशान्त हो गये। उमड़ा हुआ हृदय-पयोधि नयनों से बह चला। वह अश्रुधारा हृदय की धधकती हुई अग्नि में घृत-धारा अथवा शीतल वारि-धारा होकर पतित होगी—सो कौन कह सकता है ?

गिर पड़े। चन्द्रशेखर हिमाचल की उस परम रम्य उपत्यका में, कदली-वन-वाहिनी कल्लोलिनी के कोमल दुकूल पर, चन्द्रिका-चर्चित शिलाखण्ड पर, मन्द पवनान्दोलित कुसुम-शय्या पर, शान्ति का पवित्र आश्रय न पाकर मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ में पतित हो गये ! मूर्च्छा शान्ति का क्षीण आभास है।

(५)

मूर्च्छा निद्रा की सहोदरा है। जिस प्रकार निद्रा श्रमित विश्व को अपने विशाल वक्ष-स्थल पर सुलाकर शान्ति प्रदान करती है उसी प्रकार मूर्च्छा भी व्यथित प्राणी को अपनी गोद में लेकर उसे शान्ति प्रदान करके फिर तुमुल संग्राम के लिये प्रस्तुत करती है। मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ को छोड़कर निद्रा की आनन्ददायिनी गोद में चन्द्रशेखर कब आये—सो भगवती ही जाने।

चन्द्रशेखर ने स्वप्न देखा —

वर्षा-ऋतु का प्रथम प्रातःकाल है। कैलाश के काँचन-शिखर पर नवीन नीरधर मरकत और कनक के अपूर्व संयोग की अनोखी छटा को दिखा रहे हैं। कदली-वन के अभ्यन्तर में कोकिल अपने कलकण्ठ से बोल रही है। मानस सरोवर का शुभ्र निर्मल जल गगन-व्याप्त सघन घनपुञ्ज की छाया को धारण करके कालिन्दी के घनश्याम-रञ्जित नील जल की समता कर रहा है। गोपिकाएँ मानो मराल-माला बनाकर नील नीरज को चतुर्दिक से परिवेष्टित कर रही हैं। मयूर हर्षोन्माद से नृत्य कर रहे हैं। पवनान्दोलित जल-तरङ्ग-माला यौवन के प्रथम आवेग में, एक दूसरे के गले में मिलकर काल्पनिक सुख का अनुभव कर रही है। समय कैसा सुन्दर है; कैसा शान्त और मनोरम है!

उन्होंने देखा—सूर्य-किरण-माला का उल्लासप्रद नृत्य नहीं है, किन्तु शीतल छाया की मनोहर पद-झङ्कार है; वसंत का विकारवर्द्धक वायु नहीं है, वरन् व्याकुल हृदय को शीतल करने वाली मंद समीर है; ज्योति का तीव्र तेज नहीं है, वरन् शांत स्निग्ध छाया है। चन्द्रशेखर ने स्वप्न में उस चिर-अभिलषित शांति का सुखद सहवास प्राप्त किया।

उन्होंने देखा—एक लता-मण्डप में एक शिलाखण्ड पर, नृत्य एवं कलोल करती हुई कल्लोलिनी के तट पर कल्पना और चिन्ता बैठी हुई हैं। चिन्ता का मुखमण्डल मानो दया का पारावार था, कल्पना का सुन्दर वदन-मण्डल मानो शृङ्गार की मँदाकिनी थी। चन्द्रशेखर कुसुमाच्छादित द्वार-देश पर खड़े होकर उन दोनों की बातें सुनने लगे।

कल्पना ने कहा—"बहन! कहाँ है वसंत का वह मनोहर वेश? कहाँ है समीर की वह मदमत्त गति? कहाँ है कोकिल की वह उन्मत्त कूक? ज्ञात होता है, मानो एक महान छाया ने अपने अंचल में उस बसन्त के सूर्य को छिपा लिया है।"

चिन्ता ने कहा—"न बहन! यह वसन्त का परिवर्तित वेश है। विलास के गान मुखरित बन में आज शांति का कोमल स्वर परिव्याप्त हो

रहा है। सूर्य की अभिमानिनी किरणमाला को अपने वक्षःस्थल छिपाकर भगवान की सुस्निग्ध छाया अपनी उदारता का परिचय रही है। बहन, ब्रह्मांड के समस्त धामों में विहार न करके यदि केवल उसी में विहार किया जाय, जिसके चतुर्दिक अनन्त ब्रह्माड घूमते हैं तो जीवन का दुःख सुख में परिवर्तित हो सकता है। उन्मत्त युवक वसन्त प्रावृट् संन्यासी के रूप में परिवर्तित हो सकता है। आज वसन्त का वही संन्यास वेश है। वसन्त संसार का साम्राज्य छोड़कर, प्रकृति के विशाल वक्षःस्थल पर, उसके स्तनद्वय की पुण्य पीयूषधारा को पान करके ज्ञान की कांचन-कन्दरा में निर्वाणदायिनी शांति का आश्रय ग्रहण कर रहा है। कल्पना! देखती हो, इस मूर्ति को?"

कल्पना ने कहा—"हाँ देखती हूँ, बहन।"

चिन्ता ने कहा—"तब आओ! तुम्हारे पृथक् रहने की आवश्यकता नहीं। मेरी विभिन्न विभूति की भाँति अब तुम भी मेरे ही में अंतर्हित हो जाओ।"

कल्पना चिन्ता में तल्लीन हो गई, किन्तु चिन्ता के मुख पर वही मन्द हास्य था, जिसे शिशु माता के मुख पर, बाल-किरण कुसुम के अधर पर, योगी ऊषा के बदन पर, त्यागी सन्तोष के ओष्ठ पर और व्याकुल शांति के उज्ज्वल आनन पर देखता है। चन्द्रशेखर ने देखा—प्रकृति की प्रकृत शांति विशुद्ध चिन्ता के रूप में, योगियों के हृदय-सदन में, बालकों के मन-सुमन में और विश्वप्रेम के परोपकार-प्रासाद में रहती है। चन्द्रशेखर आनन्दातिरेक से जाग उठे।

* * *

चन्द्रशेखर ने देखा—सामने एक वृद्ध योगीश्वर बैठे हैं। चन्द्रशेखर ने उन्हें प्रणाम किया। योगीश्वर ने आशीर्वाद देकर कहा—"वत्स, मेरे साथ आओ।"

धर्म विश्वास को, त्याग परोपकार को और सन्तोष नैराश्य को मन्त्रदीक्षा देने के लिये ले चला।

चन्द्रशेखर और योगीश्वर ने उसी कदली-वन में प्रवेश किया। चन्द्रशेखर को प्रतीत हुआ कि उनके उत्तप्त हृदय पर मानो शान्ति-कादम्बिनी की प्रथम पीयूषधारा पतित हुई।

योगीश्वर और चन्द्रशेखर उस कदली-वन के अभ्यन्तर अग्रसर होने लगे। मधुर स्वर से पतन होनेवाली जल धाराएँ, झूमती हुई कुसुमाभरण भूषिता लताओं की गोद में हँसते हुये गुलाब कुसुम, चित्र-विचित्र पक्षिकुल का मधुर स्वर—सब मिलकर योगीश्वर और चन्द्र-शेखर का अभिनन्दन करने लगे। कदली-दल ने अपने दीर्घ बाहुओं को मानो उन्हें आलिङ्गन देने के लिये प्रसरित किया। चन्द्रशेखर और योगीश्वर प्रकृति के साम्राज्य में विचरने लगे। कदली-कानन के अभ्यन्तर एक वन्य चमेली का मनोहर लता-मण्डप है पीत पुष्पों से समस्त वसन्त की शोभा का परिहास कर रही है। इधर-उधर से दो तीन झरने कलकल शब्द करते हुये बह रहे हैं। उसी लता-मण्डप के सम्मुख योगीश्वर और चन्द्रशेखर खड़े हो गये। योगीश्वर ने कहा—"चन्द्र-शेखर स्वप्न की बात स्मरण है?"

चन्द्रशेखर ने उत्तर दिया—"हाँ प्रभो, स्मरण है। इस समय मैं स्वप्न को सत्य के स्वरूप में देख रहा हूँ।"

योगीश्वर ने कहा— "देखोगे—आगे चलकर और भी देखोगे। अपने प्रेम के व्यक्तित्व को अनन्त महासागर में निमग्न कर दो।',

चन्द्रशेखर ने कहा—"कैसे करूँ भगवन्, जिसको हृदय से सिंहासन पर बिठाया है, उसे उतारकर महाशून्य में कैसे फेंक दूँ?"

योगीश्वर ने हँसकर कहा—"चन्द्रशेखर, महाशून्य में नहीं। मैं कहता हूँ अनन्त में। आँखें उठाओ।"

चन्द्रशेखर ने आँखें उठाकर देखा—लता-मण्डप में वन्य-पुष्पों के कोमल आसन पर, अनन्त सुषमामयी भगवती भारतमाता खड़ी हैं। चन्द्रशेखर ने नत-शिर होकर उन्हें प्रणाम किया।

योगीश्वर ने कहा—"देखते हो, कैसी मोहिनी मूर्ति है! कैसा जननी-स्वरूप है! मानो मातृत्व की विमल धारा दोनों स्तनों से बहकर संसार में शान्ति-पीयूष को प्रवाहित कर रही है। देखो माँ का हीरक-खचित शुभ्र किरीट, नीलांचल-चित्रित अम्बर! और देखो माँ का यह ऐश्वर्य! इन्हीं माँ के पादपद्मों में अपने प्रेम-व्यक्तित्व की अञ्जलि समर्पण कर दो। विश्व-प्रेम का पवित्र मन्त्र ग्रहण करो।"

चन्द्रशेखर ने कहा—"और किशोरी?"

योगीश्वर ने चन्द्रशेखर के शिर पर हाथ रखकर कहा—"किशोरी को गिरिराज-किशोरी के रूप में देखो।"

चन्द्रशेखर ने देखा—किशोरी मानो माता की ममता-लहरी से चन्द्रशेखर को अभिषिक्त कर रही है; सौंदर्य व्यक्तित्व को हटाकर संसार को अपनी वात्सल्यमय मुसकान और प्रेममयी करुणा-धारा से शीतल कर रहा है।

चन्द्रशेखर ने माता को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। ज्ञात हुआ कि उत्तप्त कलेवर पीयूष में स्नान करके शीतल हो गया, वंदना मानो करुणा की आशीर्वाद-लहरी में अवगाहन करके शन्त हो गई। चन्द्रशेखर ने अपूर्व शान्ति प्राप्त की।

माता का कोमल क्रोड़ ही शान्ति-निकेतन है।

— —

श्री सुदर्शन

जन्मकाल | रचनाकाल

१९५२ वि० | १९७१ वि०

[श्री सुदर्शन जी लाहौर के निवासी हैं। पहले आप उर्दू में लिखा करते थे किन्तु बाद को हिन्दी में लिखने लगे। आपकी सामाजिक कहानियाँ वास्तविकता से इतनी पूर्ण होती हैं कि उसका हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। आपकी कहानियाँ 'सरस्वती' तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी और कुछ ही समय में अपनी कला द्वारा हिन्दी साहित्य-संसार में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। आपकी कहानियों के कई संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यास-रचना की ओर आपका ध्यान इतना नहीं गया। पिछले कुछ वर्षों से आपने फिल्म-जगत में प्रवेश किया है। इस समय आप मिनर्वा मूवीटोन में संवाद, गीत तथा कहानी लेखक का कार्य करते हैं। श्री सुदर्शन जी की भाषा बड़ी सरल, मुहावरेदार और आकर्षक होती है। रचना-शैली मधुर और अनुभूति से पूर्ण है। आप कई अर्थों में एक श्रेष्ठ कलाकार और कहानी लेखक हैं]

—:०:०:—

एथेंस का सत्यार्थी

यह उस बीते हुये युग की कहानी है, जब यूनान ऐश्वर्य और सभ्यता के शिखर पर था और संसार की सर्वोत्तम सन्तान यूनान में उत्पन्न होती थी। रात का समय था, काव्य और कला की कभी न भूलनेवाली प्राचीन नगरी एथेन्स पर अन्धकार छाया हुआ था। चारो तरफ सन्नाटा था, चारो तरफ निस्तब्धता थी—सब बाज़ार खाली थे सब गलियाँ निर्जन थीं और यह सुन्दर और आबाद नगरी रात के अँधेरे में दूर से इस तरह दिखाई देती थी जैसे किसी जङ्गल में धुँधली-सी अपूर्ण छाया का पड़ाव पड़ा हो।

पूरी नगरी पूरा विश्राम कर रही थी। उसके विद्वान और विलासी बेटे अपनी-अपनी शय्या पर बेसुध पड़े थे। रंग-शालाएँ खाली हो चुकी थीं, विलास-भवनों के दीपक बुझा दिये गये थे, और द्वारपालों की आँखों की पलकें नींद के लगातार आक्रमणों के सामने झुकी जाती थीं परन्तु एक नवयुवक की आँखें नींद की शान्ति और शान्ति की नींद दोनों से वंचित थीं।

यह देवकुलीश एक विद्यार्थी था, जिसकी आत्मा सत्य-दर्शन की प्यासी थी। वह एक बहुत बड़े धनवान् का बेटा था, उसकी सम्पत्ति उसके लिये हर तरह का विलास खरीद सकती थी, वह अत्यन्त मनोहर था, यूनान-माता की सब से सुन्दर बेटियाँ उसके प्रेम में पागल हो रही थीं। वह बहुत उच्चकोटि का तत्व-वेत्ता था। उसकी साधारण युक्तियाँ भी विद्यालय के अध्यापकों की पहुँच से बाहर थीं, परन्तु उसे इस पर भी शान्ति न थी। वह सत्यार्थी था। वह सत्य की खोज में अपने-आप को मिटा देने पर तुला हुआ था वह इस रास्ते में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार था। मर्त्य-लोक की नाशवान् खुशियाँ उसके लिये अर्थ-हीन वस्तुएँ थीं। यौवन और सौंदर्य की सजीव मूर्तियों में उसके

लिये कोई आकर्षण न था। वह चाहता था, किसी तरह सत्य को एक बार उसके वास्तविक रूप में देख ले। वह सत्य को बेपरदा, नंगा देखना चाहता था। ऐसा नहीं जैसा वह दिखाई देता है, बल्कि ऐसा जैसा वह वास्तव में है। वह अपनी इस मनोरथ-सिद्धि के लिये सब कुछ करने को तैयार था।

देवकुलीश रात-दिन पढ़ता था।

पढ़ता था और सोचता था और पढ़ता था, मगर उसके स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से उसके प्यासे हृदय की प्यास मिटती न थी, बढ़ती जाती थी। सत्य का रोगी चिकित्सा से और ज्यादा बीमार होता जाता था।

(२)

विद्यालय के आँगन में विशाल एक ऊँचा चबूतरा था, जिस पर पता नहीं कब से मिनरवा, ज्ञान और विवेक की देवी, संगमरमर के वस्त्र पहने खड़ी थी। देवकुलीश पत्थर की इस मूर्ति के बरफ-समान पैरों के निकट आकर घण्टों बैठा रहता और संसार के रहस्य पर चिन्तन किया करता था। यहाँ तक कि उसके मित्रों और सहपाठियों ने समझ लिया कि इसके मस्तिष्क में विकार-उत्पन्न हो गया है। वे उसकी इस शोचनीय दशा को देखते थे और कुढ़ते थे।

उस रात भी देवकुलीश देवी के पैरों के निकट बैठा था और रो रहा था—"कृपा कर ! ऐ विद्या और विज्ञान की सब से बड़ी देवी, कृपा कर ! मेरे मन की अभिलाषा पूरी कर मैं कई वर्षों से तेरी पूजा कर रहा हूँ। मैंने कई रातें तेरे पैरों को अपने आँसुओं से धोने में गुजार दी हैं। मैंने कई दिन केवल तेरे ध्यान में बिता दिये हैं। मेरी प्रार्थना के शब्द सुन और उन्हें स्वीकार कर !"

देवकुलीश यह कहकर खड़ा हो गया और देवी के तेज-पूर्ण मुँह की तरफ देखने लगा, मगर वह उसी तरह चुपचाप थी।

इतने में चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। उसके सुवर्ण और सुशीतल प्रकाश में देवी की मूर्ति और भी मनोहर दिखाई देने लगी।

अब देवकुलीश फिर मूर्ति के चरणों में बैठा था और फिर उसी तरह बालकों के सदृश रो-रोकर प्रार्थना कर रहा था मानो वह सङ्गमरमर की मूर्ति न थी, इस दुनिया की जीती-जागती स्त्री थी, जो सुनती भी है, जवाब भी देती है। बुद्धिमान् देवकुलीश ने पागलपन के आवेश में कहा—"आज की रात फैसले की रात है। ऐ ज्ञान और विवेक की रानी! तूने मेरे दिल में जिज्ञासा की आग सुलगाई है। तू ही उसे सत्य के शीतल जल से शान्त कर सकती है। सत्य कहाँ है?—अजर, अमर, अटल सत्य। वह सत्य जिस पर बुद्धिमान् लोग शास्त्रार्थ करते हैं, जिसका पण्डित चिन्तन करते हैं, जिसे लोग एकान्त में तलाश करते हैं, मन्दिरों में ढूँढ़ते हैं, जिसके लिये दूर-दूर भटकते हैं। मैं वह उच्च कोटि का सत्य देखने का अभिलषी हूँ। नहीं तो मैं चाँद की उज्जल चाँदनी के सामने तेरे पैरों की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, कि अपने निरर्थक जीवन को यहीं, इसी जगह समाप्त कर दूँगा। मुझे सत्य हीन जीवन की कोई आवश्यकता नहीं।"

यह कहकर देवकुलीश ने अपनी चादर के अन्दर से एक कटार निकाली और आत्म-हत्या करने को तैयार हो गया।

एकाएक सफेद पत्थर की मूर्ति सजीव हो गई। उसने देवकुलीश के हाथ से कटार छीन ली, उसे आँगन के एक अँधेरे कोने में फेंक दिया और कहा—"देवकुलीश!"

देवकुलीश काँपता हुआ खड़ा हो गया और आशा, आनन्द और सन्देह की दृष्टि से देवी की ओर देखने लगा। क्या यह सच है।

हाँ, यह सच था, देवी के होंठ सचमुच हिल रहे थे—देवकुलीश! देवकुलीश!—देवकुलीश देवी का एक-एक शब्द पूरे ध्यान से सुन रहा था।

"देवकुलीश ! मौत का मार्ग अँधेरा है तू मेरा पुजारी, मेरी आँखों के सामने इस मार्ग पर नहीं जा सकता। मेरे लिये असह्य है कि मेरे सामने कोई आत्म-हत्या कर जाय। बोल क्या माँगता है ? मैं तेरी हर-एक मनोकामना पूरी करने को तैयार हूँ।"

देवकुलीश का दिल सफलता के आनन्द से धड़क रहा था। उसके मुँह से शब्द न निकलते थे। वह देवी के पैरों के निकट बैठ गया, और श्रद्धाभाव से बोला—पवित्र देवी ! मै सत्य को उसके अपने असली स्वरूप में देखना चाहता हूँ। नंगा, बेपरदा खुला सत्य। और कुछ नहीं बस सत्य !

"तू सत्य को जानना चाहता है ?"—देवी के होठों से आवाज आई—"तू आप सत्य है। यह आँगन भी सत्य है। मैं भी सत्य हूँ। आँखें खोल, सत्य दुनिया के चप्पे-चप्पे में मौजूद है।"

देवकुलीश—"मगर उस पर परदे पड़े हुये हैं।"

देवी—"विवेक की आँख उन परदों के अन्दर का दृश्य भी देख सकती है।

देवीकुलीश—"पवित्र माता ! मैं सत्य को विवेक से नहीं, आँखों से देखना चाहता हूँ। मैं सोच कर नहीं देखना चाहता, देखकर सोचना चाहता हूँ।"

देवी ने अपना पत्थर का सफेद, ठंढा, भारी हाथ देवकुलीश के कन्धे पर रख दिया और मीठे स्वर में बोली—"बेपरदा, नंगा, सत्य आज तक दुनिया के किसी बेटे ने नहीं देखा, न देवताओं ने किसी मनुष्य को यह वरदान दिया है। तू अन्न का कीड़ा है, तेरी आँखों में यह दृश्य देखने की शक्ति कहाँ ? मेरा परामर्श है, यह ख्याल छोड़ दे और अपने लिये कोई और वस्तु माँग, मैं इसी जगह दूँगी।"

देवकुलीश—"यूनान की सबसे बड़ी देवी ! मैं केवल नंगा सत्य देखना चाहता हूँ और कुछ नहीं चाहता।"

देवी—"मगर इसका मूल्य..."

देवकुलीश—"जो कुछ तू माँगे।"

देवी—"धन, दौलत, सौन्दर्य यश सब तुझसे छूट जायँगे। तुझे अपनी दुनिया को चाँद और सूरज के प्रकाश से भी वञ्चित करना होगा शायद इस यज्ञ में तुझे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़े। बोल! क्या अब भी तू सत्य का नंगा रूप देखना चाहता है?"

देवकुलीश--"मुझे सब कुछ स्वीकार है।"

देवी ने सिर झुका लिया।

देवकुलीश—"परमेश्वर की सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मैं इसके लिये न त्याग सकूँ।"

देवी ने फिर सिर उठाया और मुस्कराकर कहा—"बहुत अच्छा! तू सत्य को देख लेगा, तुझे सत्य दिखा दिया जायगा, सत्य का वास्तविक, नंगा रूप तेरे सामने होगा, परन्तु एक बार नहीं धीरे-धीरे चल! आज सत्य का एक परदा उठा, बाकी एक वर्ष के बाद!"

(३)

यह कहते-कहते देवी ने अपनी सफेद पत्थर की चादर उतार कर चबूतरे पर रख दी और देवकुलीश को गोद में उठा लिया। देखते-देखते देवी के दोनों कन्धों पर परियों के-से दो पर निकल आये। देवी ने पर खोले, और हवा में उड़ने लगी। पहले शहर मन्दिरों के कलश पर्वत, फिर चाँद, तारे बादल सब नीचे रह गये। देवी देवकुलीश को लिये आकाश में उड़ी जा रही थी। थोड़ी देर बाद उसने देवकुलीश को बादलों के एक पहाड़ पर खड़ा कर दिया। देवकुलीश ने देखा, पृथ्वी उसके पाँव तले बहुत दूर, बहुत नीचे एक छोटे से तारे के समान टिम-टिमा रही है, और थी वह यह दुनिया, जिसको वह इतना बड़ा

समझ रहा था, मगर देवकुलीश का ध्यान इस ओर न था। उसने अपने पास छाया में छिपी हुई एक धुँधली-सी चीज देखी, और देवी से पूछा— "क्या है?"

देवी—"यही सत्य है। यह छिपकर यहाँ रहता है, यहीं से तेरी और अनगिनती दूसरी दुनियाओं को अपनी दिव्य-ज्योति भेजता है। इसी के धुँधले प्रकाश में बैठकर सयाने लोग दुनिया की पहेलियाँ हल करते हैं, और गुरु अपने शिष्यों को जीवन की शिक्षा देते हैं। यही प्रकाश सृष्टि का सूरज है, यही ज्योति मानव-चरित्र का आदर्श है। तू कहेगा, वह तो कुछ ज्यादा प्रकाशमान् नहीं, परन्तु देवकुलीश! तेरे शहर के निकट जो नदी बहती है, यदि उसकी सारी रेत का एक-एक कण एक-एक सूरज बन जाय, तब भी उसमें इतना प्रकाश न होगा, जितना इस पहाड़ की छाया में है, मगर वह परदों में छिपा हुआ है। चल, आगे बढ़ और इसका एक परदा फाड़ दे।"

देवकुलीश ने एक परदा फाड़ दिया। इसके साथ ही उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे संसार में एक नवीन प्रकार का प्रकाश फैल गया है। सच की छाया अब पहले से ज्यादा साफ़ और चमकदार थी। देवी देवकुलीश को फिर एथेंस में उड़ा लाई और अपनी सङ्गमरमर की चादर ओढ़कर फिर उसी चबूतरे पर उसी तरह चुपचाप खड़ी हो गई।

अब देवकुलीश की दृष्टि में चाँदी और सोने का कोई मूल्य न था। वह लोगों को दौलत के पीछे भागते देखता, तो उसे आश्चर्य होता था। वह चाँदी को सफेद लोहा, और सोने को पीला लोहा कहता था, और इनकी प्राप्ति के लिये अपना परिश्रम नष्ट न करता था। उसे पढ़ने की धुन थी, दिन रात पढ़ता रहता था। उसके बाप ने उसका साधु-स्वभाव देख कह दिया, कि इसे मेरी जायदाद में से कुछ न मिलेगा परन्तु देवकुलीश को इसकी जरा चिन्ता न थी। उसके मित्र-सम्बन्धी कहते—"देवकुलीश! यह आयु जवानी और गर्म खून की है।

सफ़ेद बालों और झुकी हुई कमर का ज़माना शुरू होने से पहले-पहल कुछ जमा कर ले। नहीं फिर बाद में पछतायेगा।"

देवकुलीश उनकी तरफ़ अद्भुत दृष्टि से देखता और कहता—"तुम क्या कह रहे हो, मैं कुछ नहीं समझता।"

एथेंस के एक बहुत अमीर की कुँआरी बेटी अब भी देवकुलीश की मोटी-मोटी काली आँखों की दीवानी थी। वह देवकुलीश की इस दीन दशा को देखती और कुढ़ती थी। देवकुलीश के खाने-पीने का प्रबन्ध भी वही करती थी, वर्ना वह भूखा-प्यासा मर जाता।

इसी तरह एक साल के तीन सौ पैंसठ दिन पूरे हो गये। रात का समय था, एथेंस पर फिर अन्धकारपूर्ण सन्नाटा छाया हुआ था। देवकुलीश ने फिर देवी के पैरों पर सिर झुकाया। देवी उसे फिर बादलों के पहाड़ पर ले गई और देवकुलीश ने सत्य का दूसरा परदा फाड़ दिया। इस बार सत्य का प्रकाश और भी साफ़ हो गया। देवकुलीश ने उसे देखा और उसकी आँखों को वह ज्ञान-चक्षु मिल गये, जो यौवन और सुकुमारता के लाल लहू के पीछे छिपे हुये बुढ़ापे की एक-एक झुर्री को देख सकते हैं। फिर वह अपनी बनावट और अविद्या की दुनिया को वापस चला आया। देवी फिर संगमरमर का बुत बनकर अपनी जगह पर खड़ी हो गई।

४

एक दिन उसके एक मित्र ने कहा—"देवकुलीश! आज यूनान की सब कुँआरी लड़कियाँ एथेंस में जमा हैं और यूनान की सबसे सुन्दरी युवती को सौन्दर्य का पहला इनाम दिया जायगा। क्या तू भी चलेगा?"

देवकुलीश ने उसकी ओर मुस्कराकर देखा और कहा—"सत्य वहाँ नहीं है।"

दूसरे दिन एक अध्यापक ने कहा—"आज यूनान के सारे समझ दार लोग विद्यालय में जमा हैं। क्या तुम उनसे मिलोगे?"

देवकुलीश ने ठण्डी आह भरकर जवाब दिया—"सत्य वहाँ भी नहीं है"

तीसरे दिन एक महन्त ने कहा—"आज चाँददेवी के बड़े मन्दिर में देवताओं की पूजा होगी। क्या तुम भी आओगे?"

देवकुलीश ने लम्बी आह खींची और कहा—"सत्य वहाँ भी नहीं है।"

और इस तरह इस सत्यार्थी ने जवानी ही में जवानी के सारे प्रलो-भनों पर विजय प्राप्त कर ली। अब वह पूरा महन्त था, मगर वह एथेंस के किसी मेले में नजर न आता था, उसकी आवाज किसी सभा में न सुनाई देती थी।

सत्यार्थी साल-भर एकान्त में पढ़ता रहता और इसके बाद बादलों के पहाड़ पर जाकर सत्य का एक परदा फाड़ आता था। इसी तरह कई वर्ष बीत गये। उसका ज्ञान दिन-पर-दिन बढ़ता गया, मगर उसकी आँखें अन्दर धँस गई थीं, कमर झुक चुकी थी, सिर के सारे बाल सफेद हो गये थे। उसने सत्य की खोज में अपनी जवानी बुढ़ापे की भेंट कर दी थी, मगर उसे इसका दुःख न था, क्योंकि वह जवानी और बुढ़ापे दोनों की सत्ता से परिचित हो चुका था।

और लोग यह समझते थे, देवकुलीश ने अपने लिये अपनी कोठरी को समाधि बना लिया है।

(५)

आखिर वह प्यारी रात आ गई, जिसकी प्रतीक्षा में देवकुलीश को अपने जीवन का एक-एक क्षण, एक-एक वर्ष, एक-एक शताब्दि से भी लम्बा मालूम होता था।

आज सत्य के मुँह से अन्तिम परदा उठेगा। आज वह सत्य को नंगा, बेपरदा देखेगा, जिसे संसार के किसी नश्वर बेटे ने आज तक नहीं देखा। आज उसके जीवन की सबसे बड़ी साध पूरी हो जायगी।

आधी रात को उसे विवेक और विज्ञान की देवी ने अन्तिम बार गोद में उठाया, और बादलों के पहाड़ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

देवकुलीश ने सत्य की ओर अधीर होकर देखा।

देवी ने कहा— 'देवकुलीश ! देख, इसका प्रकाश कैसा साफ़, कैसा तेज है। आज तक तूने इसके जितने परदे उतारे हैं, वे इसके परदे न थे, तेरी बुद्धि के परदे थे ! सत्य का एक ही परदा है; आगे बढ़ और उसे उतार दे, परन्तु अगर तू चाहे, तो अब भी लौट चल। मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूँ। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है, तेरा उजड़ा हुआ जीवन लौटाया जा सकता है। मुझसे कह, तेरे सिर के सफ़ेद बालों को छूकर फिर से काला कर दूँ। देवकुलीश ! अब भी समय है, अपना संकल्प त्याग दे।"

मगर बहादुर सत्यार्थी ने देवी का कहना न माना, और आगे बढ़ा। उसका कलेजा धड़क रहा था, उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे, उसके हाथ काँप रहे थे, उसका सिर चकरा रहा था, मगर वह फिर भी आगे बढ़ा। उसने अपनी आत्मा और शरीर की सारी शक्तियाँ हाथों में जमा की और उन्हें फैलाकर सत्य का अन्तिम परदा फाड़ दिया।

"ओ परमात्मा !"

चारों ओर अन्धकार छा गया था, ऐसा भयानक अन्धकार, जैसा इससे पूर्व देवकुलीश ने कभी न देखा था। उसने चिल्लाकर कहा— "देवी माता ! यह क्या हो गया ? मुझे कुछ दिखाई नहीं देता, वह जो परदे के पीछे था, कहाँ चला गया।"

देवी ने मधुर स्वर से कहा—"देवकुलीश ! देवकुलीश !!"

देवकुलीश ने अँधेरे में टटोलते हुये कहा--"देवी ! मुझे बता, वह कहाँ है ? मैं कहाँ हूँ, तू कहाँ है ?"

देवी ने अपना हाथ धीरे से उसके कंधे पर रखा, और जवाब दिया---"देवकुलीश ! तेरी आँखें नंगे सत्य का दृश्य देखने में असमर्थ होने के कारण फूट गईं अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें ठीक कर सके। मैंने तुझसे कहा था, वह विचार छोड़ दे, परन्तु तूने न माना, और अब तूने देखा लिया कि जब मनुष्य सत्य को नंगा देखना चाहता हैं,तो क्या देखता है। सत्य परदों के अन्दर ही से देखा जा सकता है। जब उसका परदा उतार दिया जाता है, तो मनुष्य वह देखता है, जो कभी नहीं देख सकता।

देवकुलीश बादलों के पहाड़ पर मुँह के बल गिर पड़ा और फूट-फूट कर रोने लगा।

हज़ारों वर्ष बीत चुके हैं, मगर एथेंस के सत्यार्थी की खोज अभी तक जारी है। अगर कोई आदमी बादलों के पहाड़ की सुनसान घाटियों में जा सके, तो उसे देवकुलीश के रोने की आवाज़ अभी उसी तरह सुनाई देगी।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

जन्मकाल	रचनाकाल
१९५८ वि०	१९७९ वि०

[पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' मिर्जापुर (चुनार) के रहने वाले हैं। प्रारंभिक समय में आप काशी में रह कर हिन्दी-सेवा की ओर अग्रसर हुये। 'आज' के द्वारा आप हिन्दी-क्षेत्र में आये। उग्र जी ने श्रेष्ठ कलात्मक कहानियों के द्वारा हिन्दी-जगत में अपना एक विशिष्ठ स्थान बना लिया है। आप एक राष्ट्रीय विचार के व्यक्ति हैं। समाज के आंतरिक जगत को बड़ी दूरदर्शिता से देखने वाले हैं। सामाजिक रूढ़ियों का विरोधी चित्रण तथा राष्ट्रीय-भावनाओं का अंकन आपकी कहानियों की विशेषता है। वास्तविक-वातावरण का सटीक और ओज पूर्ण चित्रण आपकी कला का आकर्षण है। उग्र जी हिन्दी में अपनी वेग पूर्ण रचनाओं द्वारा आंधी और तूफ़ान की तरह आये और कई वर्षों तक बड़ी ओजस्वी शैली में हिन्दी की सेवा करते रहे। हास्य और आलोचना की पुट आपकी कहानियों की विशेषता है। हिन्दी संसार का ध्यान आपने ऐसे विषयों की ओर निर्भीकता पूर्वक आकर्षित किया जिनकी ओर रचनाकारों का ध्यान पहले कभी नहीं हुआ था। नाटक, उपन्यास, कहानी, हास्यपूर्ण नाटक और आलोचना सभी विषयों पर बड़ी मौलिकता से अपने विचार व्यक्त किये हैं।]

—:०:०:०:—

उसकी माँ

दोपहर को जरा आराम करके उठा था। अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में, खड़ा-खड़ा धीरे-धीरे सिगार पी रहा था, और बड़े-बड़े अलमारों में सजे पुस्तकालय को ओर निहार रहा था। किसी महान लेखक की कोई महान कृति उनमें से निकालकर देखने की बात सोच रहा था। मगर, पुस्तकालय के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मुझे महान ही महान नजर आये। कहीं गेटे, कहीं रूसो, कहीं मेज़िनी, कहीं निदशे, कहो शेक्सपियर, कही टॉलसटॉय, कहीं ह्यूगो—मुपासाँ कहीं डिकिन्स, स्पेन्सर, मेकाले, मिल्टन, मोलियर—उफ़! इधर-से-उधर तक एक से एक महान ही तो थे। आखिर मैं किसके साथ चन्द मिनट मन बहलाव करूँ यह निश्चय हा न हो सका। महानों के नाम ही पढ़ते-पढ़ते परीशान सा हो गया।

इतने में मोटर का भों-भों सुनाई पड़ा। खिड़की से झाँका तो सुमेई रंग की कोई 'फियेट' गाड़ी दिखाई पड़ो। मैं सोचने लगा—शायद कोई मित्र पधारे हैं, अच्छा ही है। महानों से जान बची।

जब नौकर ने सलामकर आनेवाले का कार्ड दिया, तब मैं कुछ घबराया। उस पर शहर के पुलीस सुपरिंटेंडेंट का नाम छपा था। ऐसे बेवक्त यह कैसे आये?

पुलीस-पति भीतर आये। मैंने, हाथ मिलाकर एक चक्करखाने वाली गद्दीदार कुर्सी पर उन्हें आसन दिया। वह व्यापारिक मुस्कराहट से लैस होकर बोले—

"इस अचानक आगमन के लिये आप मुझे क्षमा करें।"

"आज्ञा हो।"—मैंने भी नम्रता से कहा।

उन्होंने पाकेट से डायरी से एक तस्वीर—देखिये इसे। जरा बताइये तो आप पहचानते हैं, इसको?"

"हाँ, पहचानता तो हूँ।" जरा सहमते हुये मैंने बताया—"इसके बारे में मुझे आपसे कुछ पूछना है।"

"पूछिये।"

"इसका नाम क्या है?"

"लाल" मैं इसी नाम से बचपन ही से इसे पुकारता आ रहा हूँ। मगर, यह पुकारने का नाम है। एक नाम कोई और है, सो मुझे स्मरण नहीं।"

"कहाँ रहता है यह?" सुपरिटेंडेंट ने पुलिस की धूर्त-दृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा।

"मेरे बँगले के ठीक सामने, एक दो मंजिला कच्चा-पक्का घर है, उसी में वह रहता है। वह है और उसकी बूढ़ी माँ।"

"बूढ़ी का नाम क्या है?"

"जानकी।"

"और कोई नहीं है, क्या इसके परिवार में? दोनों का पालन-पोषण कौन करता है?"

"सात-आठ वर्ष हुये, लाल के पिता का देहान्त हो गया। अब उस परिवार में वह और उसकी माता ही बचे हैं। उसका पिता जब तक जीवित रहा बराबर मेरी जमीन्दारी का मुख्य मैनेजर रहा। उसका नाम रामनाथ था। वही मेरे पास कुछ-हजार रुपये जमा कर गया था, जिससे अब तक उनका खरचा-बरचा चल रहा है। लड़का कालेज में पढ़ रहा है। जानकी को आशा है, वह साल-दो-साल बाद कमाने और परिवार को सँभालने लगेगा। मगर,—क्षमा कीजिये, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि आप उसके बारे में क्यों इतनी पूछताछ कर रहे हैं?"

"यह तो मैं आपको नहीं बता सकता, मगर इतना आप समझ लें, यह सरकारी काम है। इसीलिये आज मैंने आपको इतनी तकलीफ दी है।"

"अजी, इसमें तकलीफ की क्या बात है। हम तो सात पुश्त से सरकार के फ़रमाबरदार हैं। और कुछ, आज्ञा...।"

"एक बात और", पुलीस-पति ने गम्भीरता से, धीरे से कहा—मैं मित्रता से आपसे निवेदन करता हूँ। आप इस परिवार से ज़रा सावधान और दूर रहें। फ़िलहाल इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं।"

(२)

"लाल की माँ!" एक दिन जानकी को बुलाकर मैंने समझाया—"तुम्हारा लाल आजकल क्या पाजीपना करता है? तुम उसे केवल प्यार प्यार ही करती हो न? हूँ; भोगोगी।"

'क्या है बाबू?' उसने कहा—"लाल क्या करता है? मैं तो उसे कोई भी बुरा काम करते नहीं देखती।"

"बिना किये ही तो सरकार किसी के पीछे पड़ती नहीं। हाँ, लाल की माँ बड़ी धर्मात्मा, विवेकी और न्यायी सरकार यह है। ज़रूर तुम्हारा लाल कुछ करता होगा।"

"माँ! माँ!!" पुकारता हुआ उसी समय, लाल भी आया। लम्बा, सुडौल, सुन्दर तेजस्वी।

"माँ!" उसने मुझे नमस्कारकर जानकी से कहा—"तू यहाँ भाग आयी है। चल तो, मेरे कई सहपाठी वहाँ खड़े हैं। उन्हें चटपट कुछ जलपान करा दे। फिर हम घूमने जायँगे।"

"अरे!" जानकी के चेहरे की झुरियाँ चमकने लगीं, काँपने लगी, उसे देखकर—"तू आ गया, लाल! चलती हूँ भैये। पर देख तो, तेरे चाचा क्या शिकायत कर रहे हैं। तू क्या पाजीपना करता है, बेटा?"

"क्या है चाचा जी?" उसने सविनय, सुमधुर स्वर से मुझसे पूछा—"मैंने क्या अपराध किया है?"

"मैं तुमसे नाराज हूँ लाल !"—मैंने गम्भीर स्वर में कहा।

"क्यों चाचा जी ?"

"तुम बहुत बुरा करते हो जो सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करनेवालों के साथी हो। हाँ, हाँ—तुम हो। देखो लाल की माँ; इसके चेहरे का रंग उड़ गया। यह सोच कर कि, यह खबर मुझे कैसे मिली !"

सचमुच एक बार उसका खिला हुआ रंग जरा मुरझा गया, मेरी बातों से। पर तुरन्त ही वह सँभला।

"आपने गलत सुना, चाचाजी। मैं किसी षड्यन्त्र में नहीं। हाँ, मेरे विचार स्वतन्त्र अवश्य हैं। मैं जारूरत-बेजरूरत जिस-तिस के आगे उबल अवश्य उठता हूँ देश की दुरवस्था पर उबल उठता हूँ इस पशु-हृदया परतन्त्रता पर।"

"तुम्हारी ही बात सही तुम षड्यन्त्र में नहीं विद्रोह में नहीं पर यह बकबक क्यों ? इससे फायदा ? तुम्हारी इस बक से न तो देश की दुर्दशा दूर होगी और न उसकी पराधीनता। तुम्हाराकाम पढ़ना है—पढ़ो। इसके बाद कर्म करना होगा, परिवार और देश की मर्यादा बचानी होगी। तुम पहले अपने घर का उद्धार तो कर लो, तब सरकार के सुधार का विचार करना।"

उसने नम्रता से कहा—"चाचाजी, क्षमा कीजिये। इस विषय में मैं आपसे विवाद करना नहीं चाहता।"

"चाहना होगा, विवाद करना होगा। मैं केवल चाचाजी नहीं तुम्हारा बहुत कुछ हूँ। तुम्हें देखते ही मेरी आँखों के सामने रामनाथ नाचने लगते हैं। तुम्हारी बूढ़ी माँ, घूमने लगती हैं। भला मैं तुम्हें बे हाथ होने दे सकता हूँ। इस भरोसे न रहना।"

"इस पराधीनता के विवाद में, चाचाजी मैं और आप दो भिन्न सिरों पर हैं। आप कट्टर-राज-भक्त, मैं कट्टर राज-विद्रोही। आप पहली बात को उचित समझते हैं, कुछ कारणों से, मैं दूसरी को, दूसरे कारणों

से। आप अपना पथ छोड़ नहीं सकते—अपनी प्यारी कल्पनाओं के लिये। मैं अपना भी नहीं छोड़ सकता।"

"तुम्हारी कल्पनाएँ क्या हैं? सुनूँ भी ज़रा मैं भी जान लूँ कि, अब के लड़के, कालेज़ की गर्दन तक पहुँचते-पहुँचते, कैसे-कैसे हवाई किले उठाने के सपने देखने लगते हैं। ज़रा मैं भी सुनूँ—बेटा!"

"मेरी कल्पना यह है कि, जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र किसी अन्य व्यक्ति समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो—उसका सर्वनाश हो जाय।"

जानकी उठकर बाहर चली।—"अरे, तू तो जमकर चाचा से जूझने लगा। वहाँ चार बच्चे बेचारे दरवाजे पर खड़े होंगे। लड़ तू, मैं जाती हूँ।" उसने मुझसे कहा—"समझा दो बाबू, मैं तो आप ही कुछ नहीं समझती, फिर इसे क्या समझाऊँगी।" उसने फिर लाल की ओर देखा—"चाचा जो कहें, मान जा बेटा। यह तेरे भले ही को कहेंगे।"

वह बेचारी, कमर झुकाये उस साठ बरस की वय में भी घूँघट सँभाले चली गयी। उस दिन उसने मेरी और लाल की बातों की गम्भीरता नहीं समझी।

"मेरी कल्पना यह है कि..." उत्तेजित स्वर से लाल ने कहा—"ऐसे दुष्ट, नाशक, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के सर्वनाश में मेरा भी हाथ हो।"

"तुम्हारे हाथ दुर्बल हैं, उनसे जिनसे तुम पञ्जा लेने जा रहे हो। चर्रर-मर्रर हो उठेंगे। नष्ट हो जायँगे।"

"चाचा जी, नष्ट हो जाना तो यहाँ का नियम है। जो सवाँरा गया है, वह बिगड़े ही गा। हमें दुर्बलता के डर से अपना काम नहीं रोकना चाहिये। कर्म के समय हमारी भुजाएँ दुर्बल नहीं, भगवान् की सहस्त्र भुजाओं की सखी हैं।"

"तो, तुम क्या करना चाहते हो?"

"जो भी मुझसे हो सकेगा, करूँगा।"

"षड्यन्त्र...?"

"ज़रूरत पड़ी तो ज़रूर...।"

'विद्रोह...?"

"हाँ, अवश्य!"

"हत्या ...?"

"हाँ—हाँ—हाँ—।"

"बेटा, तुम्हारा माथा न जाने कौन किताब पढ़ते-पढ़ते बिगड़ रहा है। सावधान!"

(६)

मेरी धर्मपत्नी और लाल की माँ, एक दिन; बैठी हुई बातें कर रहीं थीं कि, मैं पहुँच गया। कुछ पूछने के लिये, कई दिनों से, मैं उसकी तलाश में था।

"क्यों लाल की माँ! लाल के साथ किसके लड़के आते हैं, तुम्हारे घर में?,'

"मैं क्या जानू बाबू" उसने सरलता से कहा—"मगर वे सभी मेरे लाल ही की तरह प्यारे मुझे दिखते हैं। सब ला पर्वाह। वे इतना हँसते गाते और हो-हल्ला मचाते हैं, कि मैं मुग्ध हो जाती हूँ।"

मैंने एक ठण्ढी साँस ली—"हूँ, ठीक कहती हो। वे बातें कैसी करते हैं? कुछ समझ पाती हो?"

"बाबू वे लाल के बैठक में बैठते हैं। कभी-कभी जब मैं उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने जाती हूँ, तब वे बड़े प्रेम से, मुझे 'माँ' कहते हैं। मेरी छाती फूल उठती है—मानो वे मेरे ही बच्चे हैं।"

"हूँ..." मैंने फिर साँस ली।

"एक लड़का उनमें बहुत ही हँसोड़ है। खूब तगड़ा और बली दिखता है लाल कहता था, वह डण्डा लड़ने में, दौड़ने में' घूसेबाजी में, खाने में, छेड़खानी करने और हो-हो हा-हा कर, हँसने में समूचे कालेज में फर्द है। उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परस रही थी मेरे मुँह की ओर देखकर कहा—माँ! तू तो ठीक भारत-मात: सी लगती है। तू बूढ़ी, वह बढ़ी। उसका हिमालय उजला है, तेरे केश। हाँ, मैं नकशे से साबित करता हूँ—तू भारत-माता है। सर तेरा हिमालय, माथे की दोनों गहरी, बड़ी, रेखाएँ गंगा और यमुना। यह नाक विन्ध्याचल, दाढ़ी कन्याकुमारी तथा छोटी-बड़ी झुरियाँ-रेखाएँ भिन्न-भिन्न पहाड़ और नदियाँ हैं। जरा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे—बाएँ कन्धे पर लहरा दूँ। वह बर्मा बन जायगा। बिना उसके भारत-माता का शृङ्गार शुद्ध न होगा।"

जानकी उस लड़के की बातें सोच गदगद हो उठी "बाबू ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे और उसने मुझे पकड़, मेरे बालों को बाहर कर अपना बर्मा तैयार कर लिया। कहने लगा—देख, तेरा यह दाहिना कान 'कच्छ की खाड़ी है—बम्बई के आगेवाली; और यह बायाँ—बंगाल की खाड़ी। माँ! तू सीधा मुँह करके ज़रा खड़ी हो। मैं तेरी ठुड्ढी के नीचे, उससे दो अंगुल के फासले पर हाथ जोड़कर घुटनों पर बैठता हूँ। दाढ़ी तेरी कन्याकुमारी—हा हा हा हा!—और मेरे जुड़े, जरा तिरछे, हाथ सिलोन—लंका!—हा हा हा हा!!—बोल, भारत-माता की जय।"

"सब लड़के ठहाका लगाकर हँसने लगे। वह घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, मेरे पावों के पास बैठ गया। मैं हक्की-बक्की सी हँसनेवालों का मुँह निहारने लगी। बाबू, वे सभी बच्चे मेरे 'लाल' हैं, सभी मुझे 'माँ' गाकर—कहते हैं।"

उसकी सरलता मेरे आँखों में आँसू बनकर छा गई। मैंने पूछा "लाल की माँ! और भी वे कुछ बातें करते हैं? लड़ने की, झगड़ने की, गोला गोली या बन्दूक की?"

"अरे बाबू, "उसने मुस्कराकर कहा—" वे सभी बातें करते हैं। उनकी बातों का कोई मतलब थोड़े ही होता है। सब जवान हैं, लापर्वाह हैं, जो मुँह में आता है, बकते हैं। कभी-कभी तो पागलों-सी बातें करतें हैं। महीना भर पहले एक-दिन लड़के बहुत उत्तेजित थे। वे जब बैठक में बैठकर गलचौर करने लगते हैं, तब कभी-कभी उनका पागलपन सुनने के लोभ से, मैं दरवाजे से सट और छिपकर खड़ी हो जाती हूँ।"

"न जाने कहाँ, लड़कों को सरकार पकड़ रही है। मालूम नहीं, पकड़ती भी है या वे योंहीं गप हाँकते थे। मगर उस दिन वे यही बक रहे थे। कहते थे—पुलीसवाले केवल सन्देह पर भले आदमियों के बच्चों को त्रास देते हैं, मारते हैं, सताते हैं। यह अत्याचारी पुलीस की नीचता है। ऐसी नीच शासन-प्रणाली को स्वीकार करना, अपने धर्म को, कर्म को, आत्मा को, परमात्मा को भुलाना है—धीरे-धीरे घुलाना, मिटाना है।"

एक ने, उत्तेजित भाव से, कहा—"अजी, ये परदेशी कौन लगते हैं हमारे; जो हमें बरबस राज-भक्त बनाये रखने के लिये, हमारी छाती पर तोप का मुँह लगाये, अड़े और खड़े हैं! उफ़! इस देश के लोगों की हिये की आँखें मूँद गई हैं, तभी तो इतने जुल्मों पर भी आदमी, आदमी से डरता है। ये लोग शरीर की रक्षा के लिये अपनी-अपनी आत्मा की चिता सँवारते फिरते हैं। नाश हो इस परतन्त्रवाद का!"

दूसरे ने कहा----"लोग ज्ञानी न हो सकें, इसलिये इस सरकार ने हमारे पढ़ने-लिखने के साधनों को अज्ञान से भर रखा है। लोग वीर और स्वाधीन न हो सकें इसलिये अपमान जनक और मनुष्यता---नीति-मर्दक कानून गढ़े हैं। ग़रीबों को चूसकर, सेना नाम के पर,पले हुये पशुओं को शराब से, कबाब से, मोटा ताज़ा रखती है; यह सरकार। धीरे-धीरे

जोंक की तरह हमारे देश का धर्म, प्राण और धन चूसती चली जा रही है; यह लूटक-शासन-प्रणाली। नाश हो इस प्रणाली का! इस प्रणाली की तस्वीर-सरकार का!"

"तीसरा, वही बँगड़, बोला----सब मे बुरी बात यह है, जो सरकार रोब से----'सत्तावनी'----रोब से----धाक से, धाँधली से, धुआँ से; हम पर शासन करती है। यह, आँखें खोलते हो, कुचल-कुचल कर, हमें दब्बू कायर, हतवीर्य बनाती है और किस लिये ज़रा सोचो तो मुट्ठी भर मनुष्यों को अरुण, वरुण और कुबेर बनाये रखने के लिये मुट्ठी-भर-मन-चले सारे संसार की मनुष्यता की मिट्टी-पलीत करें, परमात्मा प्रदत्त स्वाधीनता का संहार करें —छिः! नाश हो ऐसे मनचलों का!"

"ऐसे ही अएट-सएट ये बातूनी बका करते हैं, बाबू। जभी चार छोकरे जुड़े, तभी यही चर्चा। लाल के साथियों का मिज़ाज भी, उसी सा, अल्हड़-विल्हड़ मुझे मालूम पड़ता है। ये लड़के ज्यों-ज्यों पढ़ते जा रहे हैं, त्यों-त्यों बकबक में बढ़ते भी जा रहे हैं।"

"यह बुरा है, लाल की माँ!" मैंने गहरी साँस ली।

(४)

ज़मीन्दारी के कुछ जरूरी काम से, चार-पाँच दिनों के लिये, बाहर गया था। लौटने पर, बँगले में घुसने के पूर्व, लाल के दरवाजे पर जो नज़र पड़ी तो वहाँ एक भयानक सन्नाटा-सा नजर आया। जैसे घर उदास हो, रोता हो।

भीतर आने पर, मेरी धर्मपत्नी मेरे सामने उदास-मुख खड़ी हो गयी।

"तुमने सुना?"

"नहीं तो, कौन सी बात?"

"लाल की माँ पर भयानक विपत्ति टूट पड़ी है।" मैं कुछ-कुछ समझ गया, फिर भी विस्तृत विवरण जानने को उत्सुक हो उठा—"क्या हुआ ? जरा साफ-साफ बताओ।"

"वही हुआ, जिसका तुम्हें भय था। कल पुलीस की एक पलटन ने लाल का घर घेर लिया था। बारह घण्टे तक तलाशी हुई ! लाल, उसके बारह-पन्द्रह साथी, सभी पकड़ लिये गये हैं। सभी लड़कों के घरों की तलाशी हुई है। सब के घर से भयानक-भयानक चीजें निकली हैं।"

"लाल के यहाँ......?"

उसके यहाँ भी दो पिस्तौल, बहुत से कारतूस और पत्र पाये गये हैं। सुना है, उन पर हत्या षड्यन्त्र, सरकारी राज्य उलटने की चेष्टा, आदि अपराध लगाये गये हैं।"

"हूँ', मैंने ठण्ढी साँस ली—"मैं तो महीनों से चिल्ला रहा था कि, यह लौंडा धोखा देगा। अब वह बूढ़ी बेचारी मरी। वह कहाँ है ? तलाशी के बाद तुम्हारे पास आयी थी ?'

"जानकी मेरे पास कहाँ आयी। बुलवाने पर भी कल नकार गयी। नौकर से कहलाया—पराठे बना रही हूँ, हलुवा तरकारी अभी बनाना है। नहीं तो वे बिल्हड़ बच्चे हवालात में मुरझा न जायँगे। जेलवाले और उत्साही बच्चों की दुश्मन यह सरकार उन्हें भूखों मार डालेंगे मगर मेरे जीतेजी यह नहीं होने का।"

"वह पागल है, भोगेगी। मैं दुःख से टूटकर एक चारपाई पर भहरा पड़ा। मुझे लाल के कर्मों पर घोर खेद हुआ।"

इसके बाद, प्रायः—एक वर्ष तक मुकदमा चला। कोई भी, अदालत के काग़ज उलटकर देख सकता है। सी० आई० डी० ने—और उसके मुख सरकारी वकील ने—उन लड़कों पर बड़े-बड़े दोष-रोप किये। उन्होंने चारों ओर गुप्त समितियाँ स्थापति की थीं, उनके

खर्चे और प्रचार के लिये डाके डाले थे, सरकारी अधिकारियों के यहाँ रात में छापा मारकर, शस्त्र एकत्र किये थे, पलटन में उन्होंने बग़ावत फैलाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने न जाने कहाँ, न जाने किस, पुलिस के दारोग़ा को मारा था; और न जाने कहाँ, न जाने किस; पुलिस सुपरिंटेंडेंट को! ये सभी बातें, सरकार की ओर से प्रमाणित की गयीं!

उधर उन लड़कों की पीठ पर कौन था? प्रायः कोई नहीं। सरकार के डर के मारे पहले तो कोई वकील ही उन्हें नहीं मिल रहा था, फिर एक बेचारा मिला भी, तो, 'नहीं' का भाई, । हाँ उनकी पैरवी में सबसे अधिक परीशान वह बूढ़ी रहा करती। वह सुबह शाम उन बच्चों को— लोटा, थाली, जेवर आदि बेंच-बेंच कर-भोजन पहुँचाती। फिर वकीलों के यहाँ जाकर दाँत निपोरती, गिड़गिड़ाती कहती—

"सब झूठ है। न जाने कहाँ से, पुलीसवालों ने ऐसी-ऐसी चीजें हमारे घरों से पैदा कर दी हैं। वे लड़के केवल बातूनी हैं—हाँ, मैं भगवान् का चरण छूकर कह सकती हूँ। तुम जेल में जाकर देख आओ वकील बाबू! भला वे फूल से बच्चे हत्या कर सकते हैं।"

उसका तन सूखकर काँटा हो गया, कमर झुककर धनुष सी हो गयी, आँखें निस्तेज; मगर उन बच्चों के लिये दौड़ना, हाय-हाय करना, उसने बन्द न किया। कभी कभी सरकारी नौकर, पुलीस या वार्डर, पर झुँझलाकर उसे झिड़क देते, धकिया देते। तब वह खड़ी हो जाती छड़ी के सहारे कमर सीधी कर—"अरे, अरे! तुम कैसे जवान हो, कैसे आदमी हो। मैं तो उन भोले बच्चों के लिये दौड़ती—मरती हूँ और तुम मुझे धक्के दे रहे हो! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, भैया?"

उसको अन्त तक यही विश्वास रहा कि, यह सब पुलीस की चाल-बाजी है। अदालत में जब दूध का दूध और पानी का पानी किया जायगा, तब वे बच्चे ज़रूर बे-दाग़ छूट जायँगे। वे फिर उसके घर में

लाल के साथ, आवेंगे। हा-हा-हो-हो करेंगे। उसे 'माँ' कहकर पुकारेंगे।

मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गयी, जिस दिन ऊँची अदालत ने भी, लाल को उस बँगड़ लटैत को तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कड़ी सजाएँ दीं।

वह अदालत के बाहर झुकी खड़ी थी। बच्चे बेड़ियाँ बजाते, मस्ती से झूमते, बाहर आये। सबसे पहले उस बँगड़ की नजर उस पर पड़ी—

"माँ!" 'वह मुस्कराया—' अरे, हमें तो हलुवा खिला-खिला कर तूने गधे-सा तगड़ा कर दिया है ऐसा कि फाँसी की रस्सी टूट जाय और हम अमर के अमर बने रहें। मगर तू स्वयं सूखकर काँटा हो गई है। क्यों पगली—तेरे लिये घर में खाना नहीं है क्या ?—

"माँ!" उसके लाल ने कहा—"तू भी जल्द वहीं आना, जहाँ हम लोग जा रहे हैं। यहाँ से थोड़ी देर का रास्ता है माँ! एक साँस में पहुँचेगी। वहीं, हम स्वतन्त्रता से मिलेंगे। तेरी गोद में खेलेंगे। तुझे कन्धे पर उठा कर इधर—से—उधर दौड़ते फिरेंगे। समझती है? वहाँ बड़ा आनन्द है!"

"आवेगी न माँ?" बँगड़ ने पूछा।

"आवेगी न माँ?" लाल ने पूछा।

"आवेगी न माँ?" फाँसी दण्ड प्राप्त दो दूसरे लड़कों ने पूछा।

और वह बकर-बकर उनका मुँह ताकती रही---"तुम कहाँ जाओगे पगलो?"

जब से लाल और उसके साथी पकड़े गये, तब से शहर या मुहल्ले का कोई भी आदमी लाल की माँ से मिलने में डरता था। उसे रास्ते में देखकर जान-पहचानी बगलें झाँकने लगते। मेरा स्वयं अपार प्रेम

था उस बेचारी बूढ़ी पर, मगर मैं भी बराबर दूर ही रहा। कौन अपनी गर्दन मुसीबत में डालता, विद्रोही की माँ से सम्बन्ध रखकर ?

उस दिन, ब्यालू करने के बाद कुछ देर के लिये पुस्तकालयवाले कमरे में गया। वहीं, किसी महान् लेखक की कोई महान् कृति क्षण भर देखने की लालच से। मैंने मेजिनी की एक जिल्द निकालकर उसे खोली। उसके पहले ही पन्नें पर पेंसिल की लिखावट देखकर चौंका। ध्यान देने पर पता चला, लाल का वह हस्ताक्षर था। मुझे याद पड़ गई। तीन बरस पूर्व, उस पुस्तक को मुझसे माँगकर, उस लड़के ने पढ़ा था।

एक बार मेरे मन में बड़ा मोह उत्पन्न हुआ, उस लड़के के लिये। उसके वफ़ादार पिता रामनाथ की दिव्य और स्वर्गीय तस्वीर मेरी आँखों के आगे नाच गई। लाल की माँ पर उस पाजी के सिद्धान्तों, विचारों या आचरणों के कारण जो वज्रपात हुआ था, उसकी एक ठेस मुझे भी, उसके हस्ताक्षर को देखते ही, लगी। मेरे मुँह से एक गम्भीर, लाचार, दुर्बल साँस निकलकर रह गई।

पर, दूसरे ही क्षण पुलीस सुपर ्ट का ध्यान आया। उसकी भूरी, सुहावनी, अमानवी अ ँखें मेरी, आप-सुखी-तो जगसुखी आँखों में वैसे ही चमक गईं: जैसे ऊजड़ गाँव के सिवान मे कभी-कभी भुतही चिनगारी चमक जाया करती है। उसके रूखे फौलादी हाथ—जिनमें लाल की तस्वीर थी—मानों मेरी गर्दन चाँपने लगे। मैं मेज़ पर से 'इरेज़र' (रबर) उठा कर उस पुस्तक पर से उसका नाम उधेड़ने लगा।

उसी समय मेरी पत्नी के साथ लाल क ं म वहाँ आई। उसके हाथ में एक पत्र था।

"अरे ?" मैं अपने को रोक न सका—"लाल की माँ! तुम तो बिलकुल पीली पड़ गई हो। तुम इस तरह मेरी ओर निहारती हो, मानों कुछ देख ही नहीं रही हो। यह, हाथ में क्या है ?"

उसने, चुपचाप, पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने देखा उस पर... जेल की मुहर थी। सज़ा सुनाने के बाद वह वहीं भेज दिया। गया था, यह मुझे मालूम था।

मैं पत्र निकाल कर पढ़ने लगा। वह उसकी अन्तिम चिट्ठी थी मैंने कलेजा रूखा कर, उसे जोर से पढ़ दिया।

"माँ!"

जिस दिन तुम्हें यह पत्र मिलेगा उसके ठीक सबेरे मैं, बाल अरुण के किरण-रथ पर चढ़कर, उस ओर चला जाऊँगा। मैं चाहता तो अन्त समय तुमसे मिल सकता था; मगर इससे क्या फायदा? मुझे विश्वास है, तुम मेरी जन्म-जन्मान्तर की जननी हो, रहोगी! मैं तुमसे दूर कहाँ जा सकता हूँ? माँ! जब तक पवन साँस लेता है, सूर्य चमकता है, समुद्र लहराता है, तब तक कौन मुझे तुम्हारी करुणामयी गोद से दूर खींच सकता है?

दिवाकर थमा रहेगा; अरुण, रथ लिये जमा रहेगा; मैं, बंगड़, वह---वह, सभी तेरे इन्तज़ार में रहेंगे।

हम मिले थे, मिले हैं, मिलेंगे—हाँ, माँ! तेरा—'लाल'।"

काँपते हाथ से, पढ़ने के बाद, पत्र को मैंने उस भयानक लिफ़ाफ़े में भर दिया। मेरी पत्नी की विकलता हिचकियों पर चढ़ाकर कमरे को करुणा से कँपाने लगी। मगर वह जानकी ज्यों की त्यों, लकड़ी पर झुकी, पूरी खुली और भावहीन आँखों से मेरी ओर देखती रही। मानों वह उस कमरे में थी ही नहीं।

क्षण भर बाद हाथ बढ़ाकर, मौन भाषा में, उसने पत्र माँगा। और फिर, बिना कुछ कहे, कमरे के—घर के—फाटक के बाहर हो गयी, डुगुर, डुगुर, लाठी टेकती हुई।

इसके बाद शून्य-सा होकर मैं धम से कुर्सी पर गिर पड़ा। माथा चक्कर खाने लगा। उस पाजी लड़के के लिये नहीं, इस सरकार की क्रूरता के लिये भी नहीं—उस बेचारी, भोली, बूढ़ी जानकी—लाल की माँ—के लिये। ओह! वह कैसी स्तब्ध थी। उतनी स्तब्धता किसी दिन प्रकृति को मिलती, तो आँधी आ जाती। समुद्र पाता, तो खौलता उठता।

जब एक का घण्टा बजा, मैं जरा सगबगाया। ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानो, हरारत पैदा हो गयी है—माथे में, छाती में, रग-रग में। पत्नी ने आकर कहा—"बैठे ही रहोगे, सोओगे नहीं?" मैंने इशारे से उन्हें जाने को कहा।

फिर, मेज़िनी की जिल्द पर नज़र गयी। उसके ऊपर पड़े रबर पर भी। फिर, अपने सुखों की, ज़मीन्दारी की, धनिक-जीवन की और उस पुलिस अधिकारी की निर्दय, नीरस, निस्सार आँखों की स्मृति कलेजे में कम्पन कर गई। फिर, रबर उठाकर, मैंने उस पाजी का पेंसिल-खचित नाम, पुस्तक की छाती पर से, मिटा डालना चाहा।

"माँ ऽँ ऽँ ऽँ ऽँ ऽँ!"

मुझे सुनाई पड़ा। ऐसा लगा, गोया लाल की माँ कराह रही है। मैं रबर हाथ में लिये, दहलते दिल से, खिड़की की ओर बढ़ा, लाल के घर की ओर देखने के लिये। पर, चारों ओर अन्धकार था, कुछ नहीं दिखाई पड़ा। कान लगाने पर कुछ सुनाई भी न पड़ा। मैं सोचने लगा, भ्रम होगा। वह अगर कराहती होती तो एकाध आवाज़ और अवश्य सुनायी पड़ती। वह कराहने वाली औरत है भी नहीं। रामनाथ के मरने पर भी उस तरह नहीं घिघियाई थी, जैसे साधारण स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर तड़पा करती हैं।

मैं पुनः उसी को सोचने लगा। वह उस नालायक के लिये क्या

नहीं करती थी। खिलौना की तरह आराध्य की तरह, उसे दुलराती और सँवारती फिरती थी, पर आह रे छोकरे !......

"माँ ाँ ाँ ाँ ाँ !"

फिर वही आवाज़ ! ज़रूर जानकी रो रही है, वैसे ही जैसे कुर्बानी के पूर्व गाय रोवे। ज़रूर वही बिकल, व्यथित, विवश बिलख रही है। हाय री माँ। अभागिनी वैसे ही पुकार रही है, जैसे वह पाजी गाकर मचल कर स्वर को खींचकर उसे पुकारता था।

अँधेरा धूमिल हुआ, फीका पड़ा, मिट चला, ऊषा पीली हुई, लाल हुई, अरुण रथ लेकर वहाँ—क्षितिज के उस छोर पर आकर, पवित्र मन से, खड़ा हो गया। मुझे लाल के पत्र की याद आ गयी।

"माँ ाँ ाँ ाँ ाँ ाँ !"

मानो, लाल पुकार रहा था; मानो, जानकी प्रतिध्वनि की तरह उसी पुकार को गा रही थी। मेरी छाती धक्-धक् करने लगी। मैंने नौकर को पुकार कर कहा----

"देखो तो, लाल की माँ क्या कर रही है ?"

जब वह लौटकर आया तब मैं----एक बार पुनः मेज़ और मेज़िनी के सामने खड़ा था। हाथ में रबर लिये----उसी ---उसी उद्देश्य से। उसने घबड़ाये स्वर में कहा----

"हुजूर, उनकी तो अजीब हालत है। घर में ताला पड़ा है और वह दरवाजे पर पाँव पसारे हाथ में कोई चिट्ठी लिये, मुँह खोले, मरी बैठी हैं। हाँ, सरकार ! विश्वास मानिये, वह मर गयी हैं। साँस बन्द है----आँखें खुली।"

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

जन्मकाल	रचनाकाल
१९५५ वि०	१९८० वि०

[हिन्दी के सुप्रसिद्ध युगप्रवर्तक कवि निराला का साहित्य में श्रेष्ठ स्थान है। आप उन्नाव जिले के गढ़कोला गाँव के रहने वाले हैं। प्रारंभ ही से आप महिषादल (बंगाल) में रहते थे। वहीं आप की शिक्षा-दीक्षा हुई। आपने बँगला अँग्रेजी संस्कृत आदि कई भाषाओं का अध्ययन किया। हिन्दी की ओर रुचि आपकी विद्यार्थी-अवस्था से ही उत्पन्न हो गई थी और गद्य तथा पद्य रचनायें भी लिखने लगे थे। बड़े होने पर आप की रुचि वेदाँत तथा उपनिषद के अध्ययन की ओर हुई। परमहंस रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं का आपने विशेष अध्ययन किया।

ईस प्रकार निराला जी के विशेष अध्ययन तथा विचार धाराओं का प्रभाव उनके साहित्यिक रचनाओं पर विशेष पड़ा। आप आधुनिक हिन्दी काव्य में मुक्तक-काल के प्रवर्तक हैं। काव्य सम्बन्धी कई ग्रन्थ आपके प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यास और कहानियों के कई ग्रन्थ भी अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी भाषा बड़ी ही प्रांजल आकर्षक और प्रभाव शालिनी होती है। प्रगतिवादी रचनायें भी आपकी सर्वोच्च हैं। निराला जी बड़े सज्जन मिलनसार और महान कलाकार के गुणों से पूर्ण हैं)

श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी

(१)

श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी श्रीमान् पं० गजानन्द शास्त्री की धर्मपत्नी हैं। श्रीमान् शास्त्री जी ने आपके साथ यह चौथी शादी की है, धर्म की रक्षा के लिये। शास्त्रिणी जी के पिता को षोड़शी कन्या के लिये पैंतालीस साल का वर बुरा नहीं लगा, धर्म की रक्षा के लिये। वैद्य का पेशा अख्तियार किये शास्त्री जी ने युवती पत्नी के आने के साथ 'शास्त्रिणी' का साइन-बोर्ड टाँगा, धर्म की रक्षा के लिये। शास्त्रिणी जी उतनी ही उम्र में गहन पातिव्रत्य पर अविराम लेखनी चालना कर चलीं, धर्म की रक्षा के लिये। मुझे यह कहानी लिखनी पड़ रही है, धर्म की रक्षा के लिये।

इससे सिद्ध है, धर्म बहुत ही व्यापक है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने वालों का कहना है कि नश्वर संसार का कोई काम धर्म के दायरे से बाहर नहीं। सन्तान पैदा होने के पहले से मृत्यु के बाद----पिण्डदान तक जीवन के समस्त भविष्य, वर्तमान और भूत को व्याप्त कर धर्म-ही-धर्म है।

जितने देवता हैं चूँकि देवता है, इसलिये धर्मात्मा हैं। मदन को भी देवता कहा है। यह जवानी के देवता हैं। जवानी जीवन भर का शुभ मुहूर्त है। सब से पुष्ट, कर्मठ और तेजस्वी देवता मदन, जो भस्म होकर नहीं मरे; लिहाजा यह काल और काल के देवता सब से ज्यादा से सम्मान्य, फलतः क्रियाएँ भी सब से अधिक महत्वपूर्ण, धार्मिकता लिये हुये। मदन को कोई देवता न माने तो न माने पर यह निश्चय है कि आज तक कोई देवता इन पर प्रभाव नहीं डाल सका। किसी धर्म शास्त्र और अनुशासन को यह मान कर नहीं चले बल्कि धर्म शास्त्र और

अनुशासन के मानने वालों ने ही इनकी अनुवर्तिता की है। यौवन को भी कोई कितना निंद्य कहे, चाहते सब हैं, वृद्ध सर्वस्व भी स्वाहा कर। चिह्न तक लोगों को प्रिय हैं—खिजाब की कितनी खपत है! पौष्टिकता की दवा सब से ज्यादा बिकती है। साबुन, सेंट, पाउडर, क्रीम, हेजलीन, वेसलीन, तेल फुलेल के लाखों कारखाने हैं और इस दरिद्र देश में। जब न थे, तब रामजी और सीताजी उबटन लगाते थे। नाम और प्रसिद्धि कितनी है —संसार की सिनेमा स्टारों को देख जाइये। किसी शहर में गिनिये—कितने सिनेमा-हाउस हैं। भीड़ भी कितनी—आवारागर्द मवेशी काइन्ज़ हाउस में इतने न मिलेंगे। देखिये—हिन्दू मुसलमान, सिख, पारसी जैन, बौद्ध, क्रिस्तान, सभी; साफा, टोपी, पगड़ी,कैप, हैट और पाग से लेकर नंगा सिर—घुटन्ना तक; अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, साम्रज्यवादी, आतङ्कवादी; समाजवादी, काज़ी, नाज़ी, सूफ़ी से लेकर छायावादी तक; खड़े, बेंड़े सीधे, टेढ़े, सब तरह के तिलक त्रिपुण्ड; बुरकेवाली, घूँघटवाली, पूरे और आधे और चौथाई बालवाली खुली, और मुँदी चश्मेवाली आँखें तक देख रही हैं। अर्थात् संसार के जितने धर्मात्मा हैं, सभी यौवन से प्यार करते हैं। इसलिये उसके कार्य को भी धर्म कहना पड़ता है। किसी के न कहने—न मानने से वह अधर्म नहीं होता है।

अस्तु, इस यौवन के धर्म की ओर शास्त्रिणी जी का धावा हुआ, जब वह पन्द्रह साल की थीं अविवाहिता। यह आवश्यक था, इसलिये पाप नहीं। मैं इसे आवश्यकतानुसार ही लिखूँगा! जो लोग विशेष रूप से समझना चाहते हों, वे जितने दिन तक पढ़ सकें, काम-विज्ञान का अध्ययन कर लें। इस शास्त्र पर जितनी पुस्तकें हैं, पूरे अध्ययन के लिये पूरा मनुष्य-जीवन थोड़ा है। हिन्दी में अनेक पुस्तकें इस पर प्रकाशित हैं, बल्कि प्रकाशन को सफल बनाने के लिये इस विषय की पुस्तकें आधार मानी गई हैं। इससे लोगों को मालूम होगा कि यह धर्म किस अवस्था से किस अवस्था तक किस-किस रूप में रहता है।

(२)

शास्त्रिणी जी के पिता जिला बनारस के रहने वाले हैं, देहात के, पयासी, सरयूपारीण ब्राह्मण; मध्यमा तक संस्कृत पढ़े; घर के साधारण जमींदार, इसलिये आचार्य भी विद्वत्ता का लोहा मानते हैं। गाँव में एक बाग कलमी लँगड़े का है। हर साल भारत-सम्राट को आम भेजने का इरादा करते हैं, जब से वायुयान-कम्पनी चली। पर नीचे से ऊपर को देख कर ही रह जाते हैं, साँस छोड़ कर। जिले के अँगरेज हाकिमों को आम पहुँचाने की पितामह के समय से प्रथा है। यह भी सनातन-धर्मानुयायी हैं। नाम पं० रामखेलावन है।

रामखेलावन जी के जीवन में एक सुधार मिलता है। अपनी कन्या का, जिन्हें हम शास्त्रिणी जी लिखते हैं, नाम उन्होंने सुपर्णा रक्खा है। गाँव की जीभ में इसका यह रूप नहीं रह सका; प्रोग्रेसिव राइटर्स की साहित्यिकता की तरह 'पन्ना' बन गया है। इस सुधार के लिये हम पं० रामखेलावन जी को धन्यवाद देते हैं। पंडित जी समय काटने के विचार से आप ही कन्या को शिक्षा देते थे; फलस्वरूप कन्या भी उनके साथ समय काटती गई और पन्द्रह साल की अवस्था तक सारस्वत में हिलती रही। फिर भी गाँव की वधू-वनिताओं पर, उसकी विद्वत्ता का पूरा प्रभाव पड़ा। दूसरों पर प्रभाव डालने का उसका जमींदार स्वभाव था, फिर संस्कृत पढ़ी लोग मानने लगे। गति में चापल्य उसकी प्रतिभा का सब से बड़ा लक्षण था।

उन दिनों छायावाद का बोलबाला था, खास तौर से इलाहाबाद में। लड़के पंत के नाम की माला जपते थे, ध्यान लगाये। कितनी लड़ाइयाँ लड़ीं प्रसाद, पंत और मखनलाल के विवेचन में। भगवती-चरण वायरन से आगे हैं, पीछे रामकुमार, कितनी ताकत से सामने आते हुये। महादेवी कितना खींचती हैं।

मोहन उसी गाँव का, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० (पहले साल) में पढ़ता था। यह रंग उस पर भी चढ़ा और दूसरों से अधिक। उसे पंत की प्रकृति प्रिय थी, और इस प्रियता से जैसे पंत में बदल जाना चाहता था। सङ्कोच, लज्जा, मार्जित मधुर उच्चारण, निर्भीक नम्रता, शिष्ट आलाप, सज धज उसी तरह। रचनाओं से रच गया। साधना करते सधो रचना करने लगा। पर सम्मेलन शरीफ अब तक नहीं गया। पिता हाईकोर्ट में क्लर्क थे। गर्मी की छुट्टियों में गाँव आया हुआ है।

सुपर्णा से परिचय है जैसे पर्ण और सुमन का। सुमन पर्ण के ऊपर है, सुपर्णा नहीं समझो। जमींदार की लड़की जिस तरह वहाँ की समस्त डालों के ऊपर अपने को समझती थी, उसके लिये भी समझी। ज्यों-ज्यों समय की हवा से हिलती थी; सुमन की रेणु से रंग जाती थी; समझती थी, वह उसी का रंग है। मोहन शिष्ट था, पर अपना आसन न छोड़ता था।

सुपर्णा एक दिन बाग में थी। मोहन लौटा हुआ घर आ रहा था। सुपर्णा रँग गई। बुलाया। मोहन फिर भी घर की तरफ चला।

'मोहन! ये आम बाबूजी दे गये हैं, ले जाओ। तकवाहा बाजार गया है।'

मोहन बाग की ओर चला। नजदीक गया तो सुपर्णा हँसने लगी—'कैसा धोका देकर बुलाया है? आम बाबूजी ने तुम्हारे यहाँ कभी और भी भिजवाये हैं?' मोहन लजाकर हँसने लगा।

'लेकिन तुम्हरे लिये कुछ आम चुन कर मैंने रक्खे हैं। चलो।'

मोहन ने एक बार संयत दृष्टि से उसे देखा। सुपर्णा साथ लिये बीच बाग की तरफ चली—मैंने तुम्हें आते देखा था, तुमसे मिलने को छिप कर चली आई। तकवाहे को सौदा लेने बाजार (दूसरे गाँव) भेज दिया है। याद है मोहन?

'क्या ?'

'मेरी गुइँयों ने तुम्हारे साथ, खेल में।'

'वह तो खेल था।'

'नहीं, वह सही था। मैं अब भी तुम्हें वही समझती हूँ।'

'लेकिन तुम पयासी हो। शादी तुम्हारे पिता को मंजूर न होगी।'

'तो तुम मुझे कहीं ले चलो। मैं तुम से कहने आई हूँ। दूसरे से ब्याह करना मैं नहीं चाहती।'

मोहन की सुन्दरता गाँव की रहने वाली सुपर्णा ने दूसरे युवक में नहीं देखी। उसका आकर्षण उसकी माँ को मालूम हो चुका था। उसका मोहन के घर आना बन्द था आज पूरी शक्ति लड़ा कर मौका देख कर मोहन से मिलने आई है। मोहन खिंचा। उसे यहाँ वह प्रेम न दिखा वह जिसका भक्त था, कहा—

'लेकिन मैं कहाँ ले चलूँ ?'

'जहाँ रहते हो।'

'वहाँ तो पिताजी हैं।'

'तो और कहीं।'

'खायेंगे क्या ?'

खाना पड़ता है, यह सुपर्णा को याद न था। मोहन से लिपटी जा रही थी।

इसी समय तकवाहा बाजार से आ गया। देर का गया था देख कर सचेत करने के लिये आवाज दी! सुपर्णा घबराई। मोहन खड़ा हो गया।

तकवाहा बाग आ सौदा देकर मोहन को जमींदार की ही दृष्टि से घूरता रहा। मतलब समझ कर मोहन धीरे-धीरे बाग से बाहर निकला और घर की ओर चला।

तकवाहा धार्मिक था जैसे देखा था, पं० रामखेलावन जी से व्याख्या समेत कहा। साथ ही इतना उपदेश भी दिया कि मालिक ! पानी की भरी खाल है, कब क्या हो जाय ! बिटिया रानी का जल्द ब्याह कर देना चाहिये।

पं० रामखेलावन जी भी धार्मिक थे। धर्म की सूक्ष्मतम दृष्टि से देखने लगे तो मालूम पड़ा कि वे पृथ्वी के गर्भ में हैं, नौ-दस महीने में क्या होगा फिर ? इस महीने लगन है—व्याह हो जाना चाहिये।

जल्दी में बनारस चले।

(३)

प० गजानन्द शास्त्री बनारस के वैद्य हैं। वैदकी साधारण चलती है, बड़े दाँव-पेंच करते हैं तब। पर आशा बहुत बड़ी-बड़ी है। सदा बड़े-बड़े आदमियों की तारीफ करते हैं और ऐसे स्वर से, जैसे उन्हीं में से एक हों। वैदकी चले इस अभिप्राय से शामको रामायण पढ़ते-पढ़वाते हैं, तुलसी-कृत, अर्थ स्वयं कहते हैं। गोस्वामी जी के साहित्य का उनसे बड़ा जानकार—विशेषकर रामायण का भारतवर्ष में नहीं, यह श्रद्धापूर्वक मानते हैं। सुननेवाले ज्यादातर विद्यार्थी हैं जो भरसक गुरु के यहाँ भोजन करके विद्याध्ययन करने काशी आते हैं। कुछ साधारण जन हैं जिन्हें असमय पर मुफ़ दवा की जरूरत पड़ती है। दो-चार ऐसे भी आदमी जो काम तो साधारण करते हैं पर असाधारण आदमियों में गप लड़ाने के आदी हैं। मजे की महफिल लगती है। कुछ महीने हुये शास्त्रीजी की तीसरी पत्नी का असच्चिकित्सा के कारण देहान्त हो गया है। बड़े आदमी की तलाश में मिलनेवाले अपने मित्रों से शास्त्री जी बिना पत्नी वाली अड़चनों का बयान करते हैं और उतनी बड़ी

गृहस्थी आठाबाठा जाती है—इसके लिये विलाप। सुपात्र सरयूपारीण ब्रह्मण हैं, मामखोर सुकुल।

पं० रामखेलावन जी बनारस में एक ऐसे मित्र के यहाँ आकर ठहरे जो वैद्यजी के पूर्वोक्त प्रकार के मित्र हैं। रामखेलावन जी लड़की के व्याह के लिये आये हैं सुन कर मित्र ने उन्हें ऊपर ही लिया और शास्त्री जी की तारीफ करते हुये कहा ऐसा सुपात्र बनारस शहर में न मिलेगा। शास्त्री जी की तीसरी पत्नी अभी गुजरी है फिर भी उम्र अधिक नहीं—जवान हैं। शास्त्री वैद्य सुपात्र और उम्र अधिक नहीं—सुनकर पं० रामखेलावन जी ने मन-ही-मन बाबा विश्वनाथ को दण्ड-वत् की और बाबा विश्वनाथ ने हिन्दू-धर्म के लिये क्या-क्या किया है, इसका उन्हें स्मरण दिलाया। वह भक्तवत्सल आशुतोष हैं यह यहीं से विदित हो रहा है—मर्यादा की रक्षा के लिये अपनी पुरी में पहले से वर लिये बैठे हैं—आने के साथ मिला दिया। अब यह बंधान न उखड़े इसकी बाबा विश्वनाथ को याद दिलाई।

पं० रामखेलावन जी के मित्र पं० गजानन्द शास्त्री के यहाँ उन्हें लेकर चले। जमींदार पर एक धाक जमाने की सोची। कहा—लेकिन बड़े आदमी हैं कुछ लेन-देनवाली पहले से कह दीजिये, आखिर उनकी बराबरी के लिये कहना ही पड़ेगा कि जमीन्दार हैं।

'जैसा आप कहें।'

'कुल मिलाकर तीन हजार तो दीजिये, नहीं तो अच्छा न लगेगा।'

'इतना तो बहुत है।'

'ढाई हजार ? इतने से कम में न होगा। यह दहेज की बात नहीं बनाव की बात है।'

'अच्छा, इतना कर दिया जायगा। लेकिन विवाह इसी लगन में हो जाना चाहिये।'

मित्र चौंका। सन्देह मिटाने के लिये कहा—भाई, इस साल तो नहीं हो सकता।

पं० रामखेलावन जी घबरा कर बोले---आप जानते ही हैं, ग्यारह साल के बाद लड़की जितना ही पिता के यहाँ रहती है, पिता पर पाप चढ़ता है। पन्द्रह साल की है। सुन्दर जोड़ी है। लड़की अपने घर जाय, चिन्ता कटे। जमाना दूसरा है।

मित्र की आशा बँधी। सहानुभूतिपूर्वक बोले—बड़ा जोर लगाना पड़ेगा, अगले साल हो तो बुरा तो नहीं ?

पं० रामखेलावन जी चलते हुये रुक कर बोले—अब इतना सहारा दिया है, तो खेवा पार ही कर दीजिये। बड़े आदमी ठहरे, कोई हमसे भी अच्छा तब तक आ जायगा।

मित्र को मजबूती हुई। बोले—उनकी स्त्री का देहान्त हुआ है, अभी साल भी पूरा नहीं हुआ। बरखी से पहले तो मंजूर न करेंगे लेकिन एक उपाय है, अगर आप करें।

'आप जो भी कहें हम करने को तैयार हैं, भला हमें ऐसा दामाद कहाँ मिलेगा ?'

'बात यह कि कुल सराधें एक ही महीने में करानी पड़ेंगी और फिर ब्रह्म-भोज भी तो है, और बड़ा। कम-सेकम तीन हजार खर्च होंगे। फिर तत्काल विवाह। आप हजार रुपये भी दीजिये। पर उन्हें नहीं। अरे रे इसे वह अपमान समझेंगे। हम दें। इससे आपकी इज्जत बढ़ेगी, आखिर हमें बढ़कर उनसे कहना भी तो है कि बराबर का जगह है ? हजार जब उनके हाथ पर रक्खेंगे कि आपके ससुरजी ने बरखी के खर्च के लिये दिये हैं, तब यह दस हजार के इतना होगा, यही तो बात थी। वह भी समझेंगे।'

पं० रामखेलावन जी दिल से कसमसाये, पर चारा न था उतरे गले से कहा— अच्छी बात है। मित्र ने कहा—तो रुपये कब तक भेजियेगा? अच्छा, अभी चलिये; देख तो लीजिये, लेकिन विवाह की बतचीत न कीजियेगा, नहीं तो निकाल ही देंगे। समझिये—पत्नी मरी हैं।

रामखेलावन दबे। धीरे-धीरे चलते गये। लड़की कुछ पढ़ी भी है? पढ़ती तो थी—तीन साल हुये, जब मैं गया था गवाही थी—मौका देखने के लिये?—मित्र ने पूछा।

लड़की तो सरस्वती है। आपने देखा ही है। संस्कृत पढ़ो है।

ठीक है। देखिये, बाबा विश्वनाथ हैं।—मित्र कीतरह पर उतरे गले से कहा।

रामखेलवान जी डरे कि बिगाड़ न दे। दिल से जानते थे, बदमाश है, उनकी तरफ से झूठ गवाही दे चुका है रुपये लेकर; लेकिन लाचार थे; कहा—हम तो आप में बाबा विश्वनाथ को ही देखते हैं यह काम आपका बनाया बनेगा।

मित्र हँसा। बोला—कह तो चुके। गाढ़े में काम न दे, वह मित्र नहीं—दुश्मन है। सामने देख कर—वह देखिये, वह शास्त्रीजी का ही मकान है, सामने। था वह किराये का मकान। अच्छी तरह देखकर कहा—हैं नहीं बैठक में; शायद पूजा में हैं।

दोनों बैठक में गये। मित्र ने पं० रामखेलावन जी को आश्वासन देकर कहा—आप बैठिये। मैं बुलाये लाता हूँ।

पं० रामखेलावन जी एक कुर्सी पर बैठे। मित्रवर आवाज देते हुये जीने पर चढ़े।

जिस तरह मित्र ने यहाँ रोब गाँठा था उसी तरह शास्त्री जी पर गाँठना चाहा। वह देख चुका था, शास्त्रीजी खिजाब लगाते हैं, अर्थ विवाह के सिवा दूसरा नहीं। शास्त्रीजी बढ़-बढ़ कर बातें करते हैं, यह मौका बढ़ कर बातें करने का है। उसका मंत्र है, काम निकल जाने पर

बेटा बाप का नहीं होता। उसे काम निकालना है।

शास्त्रीजी ऊपर एकान्त में दवा कूट रहे थे। आवाज़ पहचान कर बुलाया। मित्र ने पहुँचने के साथ देखा—खिजाब ताज़ा है। प्रसन्नहोकर बोला—मेरी मानिये, तो वह ब्याह कराऊँ, जैसा कभी किया न हो, और बहू अप्सरा, संस्कृत पढ़ी, रुपया भी दिलाऊँ।

शास्त्रीजी पुलकित हो उठे। कहा—आप हमें दूसरा समझते हैं! इतनी मित्रता—रोज की उठक-बैठक, आप मित्र ही नहीं—हमारे सर्वस्व है। आपकी बात न मानेंगे तो क्या रास्ता चलते की मानेंगे? आप भी।

'आपने अभी स्नान नहीं किया शायद? नहा कर चन्दन लगाकर, अच्छे कपड़े पहन कर नीचे आइये। विवाह करने वाले जमींदार साहब हैं। वहीं परिचय कराऊँगा! लेकिन अपनी तरफ से कुछ कहियेगा मत। नहीं तो, बड़ा आदमी है, भड़क जायगा। घर की शेखी में मत भूलियेगा। आप-जैसे उसके नौकर हैं। हाँ, जन्म-पत्र अपना हर्गिज न दीजियेगा। उम्र का पता चला तो न करेगा। मैं सब ठीक कर दूँगा। चुपचाप बैठे रहिएगा। नौकर कहाँ है?'

'बाजार गया है।'

'आने पर मिठाई मँगवाइयेगा। हालाँकि खायगा नहीं। मिठाई से इनकार करने पर नमस्कार करके सीधे ऊपर का रास्ता नापियेगा। मैं भी यह कह दूँगा, शास्त्री जी ने आधे घण्टे का समय दिया है।'

शास्त्री गजानन्द जी गद्गद् हो गये। ऐसा सच्चा आदमी यह पहला मिला है, उनका दिल कहने लगा! मित्र नीचे उतरा और मित्र से गम्भीर होकर बोला—पूजा में हैं, मैं तो पहले ही समझ गया था। दस मिनट के बाद आँख खोली, जब मैंने घंटी टिनटिनाई। जब से स्त्री का देहान्त हुआ है, पूजा में ही तो रहते हैं। सिर हिला कर कहा—चलो।

देखिये, बाबा विश्वनाथ ही हैं—हे प्रभो। शरणागत, शरण! तुम्हीं हो—बाबाविश्वनाथ!—कहते हुये मित्र ने पलकें मूँद लीं।

इसी समय पैरों की आहट मालूम दी। देखा, नौकर आ रहा था। डाँटकर कहा—पंखा झल। शास्त्री जी अभी आते हैं।

नौकर पंखा झलने लगा। वैद्य का बैठका था ही पं० रामखेलावन जी प्रभाव में आ गये। आधे घण्टे बाद, जीने में खड़ाऊँ की खटक सुन पड़ी। मित्र उठ कर हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया, उँगली के इशारे पं० रामखेलावन जी को खड़ा हो जाने के लिये कहकर। मित्र की देखा-देखी पंडितजी ने भी भक्तिपूर्वक हाथ जोड़ लिये। नौकर अचम्भे से देख रहा था ऐसा पहले नहीं देखा था।

शास्त्री जी के आने पर मित्र ने घुटने तक झुक कर प्रणाम किया। पं० रामखेलावनजी ने भी मित्र का अनुसरण किया।

'बैठिये, गदाधरजी,' कोमल सभ्य कंठ से कह कर गजानन्दजी अपनी कुर्सी पर बैठ गये। वैद्यजी की बढ़िया गद्दीदार कुर्सी बीच में थी। पं० रामखेलावनजी आश्चर्य और हर्ष से देख रहे थे। आश्चर्य इसलिये कि शास्त्री जी बड़े आदमी तो हैं ही, उम्र भी अधिक नहीं, २५ से ३० की कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।

शास्त्री जी ने नौकर को पान और मिठाई ले आने के लिये भेजा और स्वाभाविक बनावटी विनम्रता के साथ मित्रवर गदाधर से आगन्तुक अपरिचित महाशय का परिचय पूछने लगे। पं० गदाधरजी बड़े उदात्त कण्ठ से पं० रामखेलावनजी की प्रशंसा कर चले, पर किस अभिप्राय से वह गये थे, यह न कहा। कहा—महाराज। आप एक अत्यन्त आवश्यक गृह धर्म से मुक्त होना चाहते हैं।

पलकें मूँदते हुये, भावावेश में, शास्त्री जी ने कहा—काशी तो मुक्ति के लिये प्रसिद्ध है।

हाँ, महाराज!—मित्र ने और आविष्ट होते हुये कहा—वह तो सब से बड़ी मुक्ति है, पर यह साधारण मुक्ति ही है, आप जैसे बाबा विश्व-

नाथ के परमसिद्ध भक्त स्वीकार मात्र से इस भव-बंधन से मुक्ति दे सकते हैं।—कहकर हाथ जोड़ दिये। पं० रामखेलावन जी ने भी साथ दिया। हाँ, नहीं, कुछ न कह कर एकान्त धार्मिक दृष्टि को परमसिद्ध पं० गजानन्दजी शास्त्री पलकों के अन्दर करके बैठे रहे।

इस समय नौकर पान और मिठाई ले आया। शास्त्रीजी ने खटक से आँखें खोल कर देखा, नौकर को शुद्ध जल ले आने के लिये कह कर बड़ी नम्रता से पं० रामखेलावन जी को जलपान करने के लिये पूछा। पं० रामखेलावन जी दोनों हाथ उठा कर जीभ काट कर, सिर हिलाते हुये बोले – नहीं-नहीं, महाराज, यह तो अधर्म है। चाहिये तो हमें कि हम आपकी सेवा करें, बल्कि आपके सेवा-सम्बन्ध में सदा के लिये...

अहाहा! क्या कही! क्या कही!—कह कर, पूरा दोना उठा कर एक रसगुल्ला मुँह में छोड़ते हुये मित्र ने कहा—बाबा विश्वनाथजी के बर से काशी का एक-एक बालक अन्तर्यामी होता है, फिर उनकी सभा के परिषद् शास्त्रीजी तो...

शास्त्रीजी अभिन्न स्नेह की दृष्टि से प्रिय मित्र को देखते रहे। मित्र ने, स्वल्पकाल में रामभवन का प्रसिद्ध मिष्ठान्न उदरस्थ कर जलपान के पश्चात मगही बीड़ों की एक नत्थी मुखव्यादान कर यथास्थान रक्खी। शास्त्रीजी विनयपूर्वक नमस्कार कर जीना तै करने को चले। उनके पीठ फेरने पर मित्र ने रामखेलावन जी को पंजा दिखा कर हिलाते हुये आश्वासन दिया। शास्त्रीजी के अदृश्य होने पर इशारे से पं० रामखेलावनजी को साथ लेकर वासस्थल की ओर प्रस्थान किया।

रामखेलावनजी के मौन पर शास्त्रीजी का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ चुका था। कहा—अब हमें इधर से जाने दीजिये; कल रुपये लेकर आयेंगे। लेकिन इसी महीने विवाह हो जाय।

इसी महीने,—इसी महीने—गंभीर भाव से मित्र ने कहा—जन्मपत्र लड़की का लेते आइयेगा। हाँ, एक बात और है। बाकी डेढ़ हजार में

बारह सौ का जेवर होना चाहिये, नया; आइयेगा, हम खरीदवा देंगे।---दल्लाली की सोचते हुये कहा---आपको ठग लेगा। आप इतना तो समझ गये होंगे कि इतने के बिना बनता नहीं, तीन सौ रुपये रह जायँगे। खिलाने-पिलाने और परजों को देने को बहुत हैं। बल्कि कुछ बच जायगा आपके पास। फिजूल खर्च हो,यह मैं नही चाहता। इसीलिये ठोस-ठोस काम वाला खर्च कहा। अच्छा, नमस्कार।

(४)

शास्त्रीजी का ब्याह हो गया। सुपर्णा पति के साथ है; शास्त्रीजी ब्याह करते-करते कोमल हो गये थे। नवीना सुपर्णा को यथाभ्यास सब प्रकार प्रीत रखने लगे।

बाग से लौटने पर सुपर्णा के हृदय में मोहन के लिये क्रोध पैदा हुआ। घरवालों ने सख्त निगरानी रखने के अलावा, डर के मारे उससे कुछ नहीं कहा। उसने भी विरोध किये बिना विवाह के बहाव में अपने को बहा दिया। मन में यह प्रतिहिंसा लिये हुये कि मोहन इस बहते में मिलेगा और उसे हो सकेगा तो उचित शिक्षा देगी। शास्त्रीजी को एकान्त भक्त देखकर मन में मुस्कुराई।

सुपर्णा का जीवन शास्त्रीजी के लिये भी जीवन सिद्ध हुआ। शास्त्रीजी अपना कारोबार बढ़ाने लगे। सुपर्णा को वैदक की अनुवादित हिंदी-पुस्तकें देने लगे, नाड़ी-विचार चर्चा आदि करने लगे। उस आग में तृण की तरह जल-जलकर जो प्रकाश देखने लगे, वह मर्त्य में उन्हें दुर्लभ मालूम दिया। एक दिन श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी के नाम से स्त्रियों के लिये बिना फीसवाला रोग-परीक्षणालय खोल दिया---इस विचार से कि दवा के दाम मिलेंगे, फिर प्रसिद्धि होने पर फीस भी मिलेगी।

लेकिन ध्यान से सुपर्णा के पढ़ने का कारण कुछ और है। शास्त्रीजी अपनी मेज की सजावट तथा प्रतीक्षा करते रोगियों के समय काटने

के विचार से 'तारा' के ग्राहक थे। एक दिन सुपर्णा 'तारा' के पन्ने उलटने लगी। मोहन की एक रचना छपी थी। यह उसकी पहली प्रकाशित कविता थी विषय था व्यर्थ प्रणय। बात बहुत कुछ मिलती थी। लेकिन कुछ निन्दा थी---जिस प्रेम से कवि स्वर्ग से गिर जाता है---उसकी। काव्य की प्रेमिका का उसमें वही प्रेम दर्शाया गया था। सुपर्णा चौंकी। फिर संयत हुई और नियमित रूप में 'तारा' पढ़ने लगी।

एक साल बीत गया। अब सुपर्णा हिन्दी में मजे में लिख लेती है। मोहन से उसका हाड़-हाड़ जल रहा था। एक दिन उसने पातिव्रत्य पर एक लेख लिखा। आजकल के छायावाद के सम्बन्ध में भी पढ़ चुकी थी और बहुत कुछ अपने पति से सुन चुकी थी। काशी हिन्दी के सभी वादों की भूमि है। प्रसाद काशी के ही हैं। उनके युवक पाठक शिष्य अनेक शास्त्रियों को बना चुके हैं। पं० गजानन्द शास्त्री गंगा नहाते समय कई बार तर्क कर चुके हैं, उत्तर भी भिन्न मुनि के भिन्न मत की तरह अनेक मिल चुके हैं। एक दिन शास्त्रीजी के पूछने पर एक ने कहा---छायावाद का अर्थ है शिष्टतावाद; छायावादी का अर्थ है सुन्दर साफ़ वस्त्र और शिष्ट भाषा धारण करने वाला; जो छायावादी है, वह सुवेश और मधुर-भाषी है, जो छायावादी नहीं है वह काशी के शास्त्रियों की तरह अंगौछा पहनने वाला है या नंगा है।---दूसरे दिन दो थे। नहा रहे थे। शास्त्री जी भी नहा रहे थे। छायावाद क्या है?---शास्त्रीजी ने पूछा। उन्होंने शास्त्रीजी को गंगा में गहरे ले जाकर डुबाना शुरू किया, जब कई कल्ले पानी पी गये, तब छोड़ा, शिथिल होकर शास्त्रीजी किनारे आये, तब लड़कों ने कहा---यही है छायावाद! फलतः शास्त्रीजी छायावाद और छायावादी से मौलिक घृणा करने लगे थे, और जिज्ञासु षोड़शी प्रिया को समझाते रहे कि छायावाद वह है, जिसमें कला के साथ व्यभिचार किया जाता है तरह-तरह से। आइडिया के रूप में, सुपर्णा-जैसी ओजस्विनी लेखिका के लिये इतना बहुत था। आदि से अन्त तक उसके लेख में प्राचीन पातिव्रत-धर्म और नवीन छायावादी व्यभिचार प्रचारक के कण्ठ

से बोल रहा था। शास्त्रीजी ने कई बार पढ़ा और पत्नी को सती समझ कर मन ही मन प्रसन्न हुये। वह लेख सम्पादक जी के पास भेजा गया। सम्पादक जी लेखिका-मात्र को प्रोत्साहित करते हैं, ताकि हिंदी की मरु-भूमि सरस होकर आबाद हो, इसलिये लेख या कविता के साथ चित्र भी छापते हैं। शास्त्रिणी जी को लिखा। प्रसिद्धि के विचार से शास्त्री जी ने एक अच्छा-सा चित्र उतरवा कर भेज दिया। शास्त्रिणीजी का दिल बढ़ गया, साथ उपदेश देने वाली प्रवृत्ति भी।

इसी समय देश में आन्दोलन शुरू हुआ। पिकेटिंग के लिये देवियों की आवश्यकता हुई----पुरुषों का साथ देने के लिये भी। शास्त्रिणीजी की मारफत शास्त्रीजी का व्यवसाय अब तक भी न चमका था। शास्त्रीजी ने पिकेटिङ्ग में जाने की आज्ञा दे दी। इसी समय महात्माजी बनारस होते हुये कहीं जा रहे थे, कुछ घण्टों के लिये उतरे। शास्त्रीजी की सलाह से एक जेवर बेचकर, शास्त्रिणीजी ने दो सौ रुपये की थैली उन्हें भेंट की। तन, मन और धन से देश के लिये हुई इस सेवा का साधारण जनता पर असाधारण प्रभाव पड़ा। सब धन्य-धन्य कहने लगे। शास्त्रिणीजी पूरी तत्परता से पिकेटिङ्ग करती रहीं। एक दिन पुलिस ने दूसरी स्त्रियों के साथ उन्हें भी लेकर एकान्त में, कुछ मील शहर से दूर, सन्ध्या समय, छोड़ दिया। वहाँ से उनका मायका नजदीक था। रास्ता जाना हुआ। लड़कपन में वहाँ तक वह खेलने जाती थीं। पैदल मायके चली गईं। दूसरी देवियों से नहीं कहा, इस-लिये कि ले जाना होगा और सबके लिये वहाँ सुविधा न होगी। प्रातःकाल देवियों की गिनती में यह एक घटीं, सम्बादपत्रों ने हल्ला मचाया। ये तीन दिन बाद विश्राम लेकर मायके से लौटीं, और शोकसंतप्त पतिदेव को और उच्छृङ्खल रूप से बड़बड़ाते हुये सम्वादपत्रों को शान्त किया---प्रतिवाद लिखा कि सम्पादकों को इस प्रकार अधीर नहीं होना चाहिये।

आन्दोलन के बाद इनकी प्रैक्टिस चमक गई। बड़ी देवियाँ आने लगीं। बुलावा भी होने लगा। चिकित्सा के साथ लेख लिखना भी जारी रहा। यह बिलकुल समय के साथ थीं। एक बार लिखा---देश को छायावाद से जितना नुकसान पहुँचा है, उतना गुलामी से नहीं। इनके विचारों का आदर-नीम-राजनीतिज्ञों में क्रमशः जोर पकड़ता गया। प्रोग्रेसिव राइटर्स ने भी बधाइयाँ दीं और इनकी हिन्दी को आदर्श मान कर अपनी सभा में सम्मिलित होने के लिये पूछा। अस्तु, शास्त्रिणीजी दिन पर दिन उन्नति करती गईं। इसी समय नया चुनाव शुरू हुआ। राष्ट्रपति ने कांग्रेस को वोट देने के लिये आवाज उठाई। हर जिले से कांग्रेसी उम्मीदवार खड़े हुये देवियाँ भी। वे मर्दों के बराबर हैं। शास्त्रीणीजी भी जौनपुर से खड़ी होकर सफल हुईं। अब उनके सम्मान की सीमा न रही। एम० एल० ए० हैं। 'कौशल' में उनके निबन्ध प्रकाशित होते थे। लखनऊ आने पर, 'कौशल' के प्रधान सम्पादक एक दिन उनसे मिले और 'कौशल'-कार्यालय पधारने के लिये प्रार्थना की। शास्त्रीणी जी ने गर्वित स्वीकाररोक्ति दी।

'कौशल'-कर्यालय सजाया गया। शास्त्रिणीजी पधारीं। मोहन एम० ए० होकर यहाँ सहकारी है, लेकिन लिखने में हिन्दी में अकेला। शास्त्रिणीजी ने देखा। मोहन ने उठ कर नमस्कार किया। आप यहाँ?---शास्त्रिणीजी ने प्रश्न किया। जी हाँ,---मोहन ने नम्रता से उत्तर दिया---यहाँ सहायक हूँ। शास्त्रिणीजी उद्धत भाव से हँसी। उपदेश के स्वर में बोलीं---आप गलत रास्ते पर थे!

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

जन्मकाल रचनाकाल

१६४२ वि० १६६६ वि०

[श्री वृन्दावनलाल वर्मा, झाँसी के प्रसिद्ध वकील और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हैं। पहले आप हास्यरस की रचनायें लिखा करते थे। किन्तु पिछले १५ वर्ष से आप उपन्यास और कहानियाँ लिखने लगे हैं। वर्मा जी ने 'गढ़कुँडार, 'कुँडलिनी चक्र' आदि उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना की है। आप हिन्दी के 'स्काट' माने जाते हैं, प्राचीन एतिहासिक घटनाओं के आधार पर लिखे गये आपके उपन्यास सर्व श्रेष्ठ हैं। प्रकृति वर्णन अत्यन्त रोचक और प्रभावोत्पादक होता है। आप आधुनिक हिन्दी में उपन्यास लेखन की एक नई शैली के जन्मदाता हैं। पात्रों का चरित्र-चित्रण बडी बारीकी से किया जाता है। कहानियाँ भी आपकी बड़ी सुन्दर और हृदय पर प्रभाव डालने वाली हैं वास्तविक मनोभावों और अनुभूतियों का चित्रण लेखन शैली सुन्दर, परिमार्जित और आकर्षक होती है ! आप बड़े मिलनसार और हास्य प्रिय हैं]

——

गजरा

(१)

सुजान और महिम मित्र थे, एक दूसरे के लिये सभी कुछ।

सुजान का विवाह रजनी के साथ निश्चित हुआ। बारात शिवगढ़ जानी थी। रेल की यात्रा थी। निश्चित समय एक दिन पहले महिम को एक बहुत आवश्यक कार्य लग गया। महिम ने बारात में शरीक होने से अपनी विवशता प्रकट की। सुजान मन में बड़ी आशा बाँधे था। महिम के हँसोड़ स्वभाव के आधार पर बारात के दिनों के हास-परिहास की उसने अनेक मन गढ़ंतें रच डाली थीं। आशा के टूटने से उसको बड़ा परिताप हुआ। महिम को उस आवश्यक कार्य से मोड़ने की बहुतेरी चेष्टा की, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। महिम ने कहा "आखिर वर-वधू निकलेंगे तो उसी नूराबाद स्टेशन पर होकर जहाँ मैं जा रहा हूँ। फूलों का जगरा भेंट करूँगा।"

सुजान अनमने ढंग से बोला, "इससे क्या होता है? वह तो तुमको हर हालत में भेंट करना ही पड़ता। एक ही दिन के लिये शिवगढ़ आ जाना।"

महिम—"असम्भव है, भाई। बारात में मुझको अपने साथ ही समझना।"

सुजान—"तब तो और भी जी जलेगा। तुमको भूल जाऊँगा तो ज्यादा अच्छा होगा।"

महिम—"यही सही।"

(२)

बारात ठीक समय पर रेल द्वारा शिवगढ़ के लिये चल दी। सुजान को महिम का साथ न रहना बार बार याद आ रहा था, और वह याद

कर करके खिन्न हो उठता था। भुलाने की चेष्टा आने से जी में और जलन हो उठती थी।

नूराबाद स्टेशन मार्ग में पड़ता था। गाड़ी खड़ी हुई। तुरन्त ही बारात के डिब्बे में सामने महिम एक मजदूर के सिर पर घड़ा लदवाये हुये दिखलाई पड़ा। सुजान ने दूर से ही पहिचान लिया। मन जगमगा उठा। परन्तु चेहरे को बिगाड़ कर सुजान ने महिम से कहा, "मिट्टी के ठीकरे में क्या भर लाये हो?"

"अमृत" महिम ने उत्तर दिया। सुजान को बरबस हँसना पड़ा। बोला, "शकर का शर्बत भर लाये होगे, उसी को अमृत का नाम दे दिया!"

महिम ने पहले बिगड़े हुये चेहरे को और फिर तुरन्त हँसती हुई आकृति को देख लेने में गलती नहीं की। गलती सम्भव भी न थी। महिम ने कहा "घड़े में ठण्डा जल है," महिम ने मुस्किराहट के साथ कहा, "ठंडा जल किस अमृत से कम है?"

शर्बत के वैचित्र्य की समाप्ति पर सुजान ने सहज, सरल वार्तालाप आरम्भ किया। अन्य बाराती अपनी अपनी उलझनों के सुलझाव ढूँढ़ने लगे।

सुजान—"हम लोग परसों।लौट आवेंगे। कल के लिये चले चलो।"

महिम—"स्टेशन पर तो बड़ी कठिनाई से कुछ मिनटों के लिये आ पाया हूँ। मैं किसी प्रकार भी शिवगढ़ नहीं जा सकता।"

सुजान—"तब हम लोग लौटते में दूसरे मार्ग से निकल जावेंगे। तुमको मिलेंगे ही नहीं।"

महिम—"क्या केवल मुझको चिढ़ाने के लिये? ऐसा मत करना मैं तो विवश हूँ कार्यवश, और तुम दूसरा मार्ग पकड़ोगे केवल शरारत के लिये। मुझको कष्ट होगा।"

सुजान—"मुझको क्या कम कष्ट है ? जी चाहता है कि विवाह का मुहूर्त टल जाय। ब्राह्मणों के पत्रे अटल तो हैं नहीं।"

इतने में गाड़ी ने चल देने के लक्षण दिखलाये। सुजान अपनी जगह पर जा बैठा। मज़दूर जिसके सिर पर घड़ा रक्खा हुआ था, चिल्ला उठा—"बाबू जी, खीर की गर्मी के कारण मेरा खोपड़ा गरम हो गया है, और गाड़ी जाने वाली है; इसको शीघ्र डिब्बे में रख लीजिये !"

"खीर" ? सुजान ने पूछा, "महिम, यह क्या ले आये हो ?"

महिम ने मजदूर के सिर से घड़े को दोनों हाथों से साधकर उतारा और उसकी पेंदी को अपनी गदेलियों पर रखकर सुजान से कहा, "खिड़की में से ही ले लो।" सुजान ने हाथ बढ़ाते हुये कहा, "वास्तव में हम तो ठंडा जल ही चाहते थे। यह खीरवीर किसलिये लाते फिरे ?" घड़ा आगे बढ़ाकर महिम ने हँसते हुये कहा, "तुम्हारा मुँह मीठा करने को और पेट भरने को।"

गाड़ी के चल देने में पल आध पल का ही विलम्ब था। सुजान ने घड़े के होंठ पकड़े, महिम की गदेली घड़े की पेंदी के नीचे ढीली हुई। सुजान ने झटका देकर घड़े को डिब्बे के भीतर खींचा। घड़े का होंठ टूट गया ! गरम-गरम खीर कुछ तो महिम पर गिरी, कुछ डिब्बे की खिड़की में, कुछ सीट पर। घड़े का निचला भाग प्लेटफार्म पर जा टकराया और उसके होंठ सुजान के हाथ में रह गये। प्लेटफार्म पर के यात्री हँस पड़े बारात के लोग अट्टहास करने लगे। महिम पीड़ित हो गया और सुजान सन्न। गाड़ी चल दी। महिम ने प्लेटफार्म पर दौड़ते दौड़ते कहा, "परसों गाड़ी पर मिलूँगा। इस फूटे हुये घड़े का बदला लूँगा। पूरा प्रतिशोध। यहीं दुलहिन का मुँह भी देखूँगा।"

सुजान ने क्या उत्तर दिया उसको महिम ने स्पष्ट तौर पर नहीं सुन पाया।

(३)

बारात एक दिन के अन्तर से लौटी। नियुक्त समय पर नूराबाद स्टेशन पर पहुँचने को थी। एक छोटे डिब्बे में सुज़ान और उसकी दुलहिन बैठे हुये थे। सामान से यह डिब्बा खचाखच भरा हुआ था, फिर भी उन दोनों को बैठने लायक स्थान मिल गया था। पास के एक डिब्बे में बारात ऊँघती झीमती हुई चली जा रही थी। सुजान और उसकी दुलहिन में बातचीत हो रही थी।

सुजान—"नूराबाद स्टेशन पहुँचने के लिये अभी आध घंटे की देर है। परन्तु महिम शायद इसी समय से प्लेटफार्म पर आ डटे होंगे।"

रजनी—"संध्या होने को है। मन-बहलाने का सुभीता है

सुजान—"रजनी। वह मन बहलाने के लिये रेल के स्टेशनों पर नहीं दौड़ते फिरते हैं। तुम्हारे और मेरे लिये फूलों के गजरे लावेंगे और अपने हाथों पहिनावेंगे। तुम्हारा मुँह भी देखेंगे।"

रजनी—"मेरा मुँह! स्टेशन पर!"

सुजान—"नहीं तो क्या अँधेरी कोठरी में? स्टेशन पर बिजली का प्रकाश होगा। तुम्हारे मुख, सुगन्धिमय पुष्प और बिजली के प्रकाश में होड़ लगेगी, और फल का निर्णय महिम करेंगे।"

रजनी घूँघट को और निकाल कर चुप रही।

सुजान कहता गया, "उस दिन महिम खीर का घड़ा लाया। मेरी मूर्खता से घड़ा टूट गया। गरम खीर महिम के सीने और मुँह पर जा पड़ी।"

रजनी—"आज तो ना लाएँगे गरम खीर?"

सुजान—"तुम चाहो तो अगले स्टेशन से तार दे दूँ।"

रजनी—"राम, राम मुझको तो खीर वैसे भी पसन्द नहीं हैं। यों ही कहा।"

सुजान—"तुमको क्या पसन्द है ?"

रजनी—"आपकी बातें।"

सुजान—"और मेरे मित्र की ?"

रजनी—"उनको तो मैं जानती भी नहीं।"

सुजान—"मैं बतलाये देता हूँ उनमें और मुझमें किसी बात का भेदभाव नहीं है। वह मेरे अनन्य हैं। मैं उनके बिना कुछ नहीं और वह मेरे बिना कुछ नहीं।"

रजनी—"यह सब ठीक है, परन्तु इससे मुझको क्या। मैं स्टेशन पर अपना मुँह नहीं खोलूँगी।"

सुजान—"परन्तु महिम हठ करेंगे।"

रजनी—"मेरे साथ हठ नहीं करेंगे।"

सुजान—"तुमको वह कुछ खिलावेंगे भी।"

रजनी—"मुझको तो भूख ही नहीं है।"

सुजान—"परन्तु मेरे मित्र का मन रखने के लिये तुमको कुछ खाना पड़ेगा।"

रजनी जरा हँसकर बोली, "और खाते-खाते मुँह भी दिखलाना पड़ेगा।"

सुजान को भी हँसी आगई। कहने लगा, "महिम मसखरे हैं। वह तुम्हारा मुँह देखेंगे, गज़रे पहिनाएंगे और तुमको कुछ मीठा भी खिलाएँगे।"

रजनी—"और प्लेटफ़ार्म पर लोग खड़े-खड़े सब तमाशा देखेंगे।"

सुजान गम्भीर हो गया। कुछ देर सोचता रहा। इतने में एक स्टेशन आया। नूराबाद इसके आगे था। गाड़ी खड़ी हो गई। स्टेशन पर फौज के दो तीन सिपाही इधर उधर टहल रहे थे। रजनी और

सुजान को अनोखे रूप में बैठे हुये देखकर इनके पास आ निकले। सुजान पीले कपड़े पहने था। उसकी पगड़ी रंग-बिरंगी थी। रजनी की ओढ़नी भी गहरे और हलके पीले रंगों से भरी हुई सी थी। सिपाही निकलकर दूसरी ओर चले गये। सुजान प्लेटफ़ार्म पर उतरा और बारात के डिब्बे के पास जा खड़ा हुआ।

एक सिपाही रजनी वाले डिब्बे के पास फिर आया। रजनी घूँघट डाले हुये थी। सिपाही उत्सुकतावश वहीं खड़ा हो गया और भौचक्का सा होकर कभी डिब्बे में भरे हुए सामान को और कभी अवगुंठनवती रजनी को देखने लगा। रजनी ने समझ लिया। वह चिन्तित होकर बारातवाले डिब्बे की ओर सुजान को देखने लगी। सुजान की दृष्टि पड़ गई। सुजान डपटकर रजनीवाले डिब्बे के पास आगया। सिपाही से कड़े होकर बोला, "क्यों खड़े हो?"

सिपाही लज्जित होकर वहाँ से चला गया।

सुजान अपने डिब्बे में आ बैठा। रजनी के चित्त पर अब भी चिन्ता की छाप थी।

सुजान ने कहा, "क्या घबरा गईं? बात तो कुछ थी नहीं।"

रजनी ने उत्तर दिया, "हाँ, बात तो कुछ नहीं थी, परन्तु मैं घबरा अवश्य गई थी। न जानें क्यों खड़ा हो गया था।"

सुजान—"यदि तुम मुँह खोले होतीं तो उसका साहस न होता घूँघट रहस्यमय है। वही उपद्रवों को आकृष्ट करता है।"

रजनी—"अपने सबके यहाँ घूँघट की रीत है।"

सुजान—"सबके यहाँ तो नहीं है। महाराष्ट्र, बंगाल पञ्जाब इत्यादि प्रांतों में यह रीत नहीं है।"

रजनी ने हँसकर कहा, "आपसे बहस में शायद आपके वह मित्र ही जीत सकते हों, मैं तो नहीं जीत सकती।"

सुजान—"मेरे मित्र को किसी बहाने स्मरण तो किया।"

रजनी—"वह आपसे बड़े हैं या छोटे?"

सुजान—'न बड़े न छोटे, ।।

रजनी—"मित्र तो हैं, परन्तु आयु में तो बड़े या छोटे होंगे।"

सुजान—"क्यों?"

रजनी—"छोटे होंगे तो उनके सामने मुँह खोला करूँगी, अन्यथा नहीं।"

सुजान—"बड़े होने से क्या होगा?"

रजनी—"वह मेरे जेठ होंगे।"

सुजान—"भाई वाह! महिम तुम्हारा जेठ या देवर कुछ भी न हो सकेगा। मेरा मित्र है। मित्रता के नाते ने आयु के अन्तर को और सब प्रकार के भेदों का समूल नष्ट कर दिया है। उसको तो ऐसा समझो जैसे हम दोनों जुड़वाँ उत्पन्न हुये हों।"

रजनी चुप हो गई। गाड़ी ने सीटी दी और चल दी।

(४)

नूराबाद स्टेशन पर गाड़ी के पहुँचने के बहुत पहले ही महिम ने एक मालिन से तीन गजरे बनाने को कह दिया। ताक़ीद कर दी कि गजरे एक हों और सुन्दर हों। परन्तु उसको यह न बतलाया कि किन फूलों के हों। गाड़ी के आने का समय हो गया, परन्तु गजरे बनकर न आ पाये। महिम छटपटा रहा था। निदान ताँगा लेकर स्टेशन चल पड़ा और साइकिल पर एक आदमी को गजरे लाने के लिये भेज दिया। महिम स्टेशन पहुँच गया। गाड़ी के आने में कुछ बिलम्ब था। साइकिलवाला एक तौलिये में गजरे लपेटे आ गया। महिम बहुत प्रसन्न हुआ। धीरे-धीरे गाने लगा।

"गजरा गूँधे री मालिनियाँ,
मेरा मन है बहुत अधीर।"

तौलिया खोलकर गजरे देखे तो जी गिर गया। गजरे गेंदा और अन्य निर्गन्ध फूलों के थे। गाड़ी के आने में कुछ विलम्ब देखकर साइकिलवाले से कहा, "तुम तुरन्त लौटकर जाओ। नगर दूर नहीं है। गुलाब और चमेली के तीन गजरे तुरन्त बनाकर ले आओ। बीच-बीच में गेंदी के दो-चार फूल हों तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु गेंदे के न हों।

साइकिल वाला उन गजरों को वापिस लेकर जाते-जाते बोला, "आपने क्या पहले से मालिन से नहीं कह दिया था कि गुलाब और चमेली के गजरे गूँथे जाने चाहिये।"

महिम ने साँस लेकर उत्तर दिया, "मैं भूल गया था परन्तु उससे कहा था कि सुन्दर गजरे बनाना।"

साइकिलवाला चला गया। महिम का मन चंचल था, उद्विग्न। प्लेटफ़ार्म का टिकिट लेकर गाड़ी की बाट जोहने लगा। भटक-भटक कर चित्त उसी गीत पर जाता था—

"गजरा गोंदे री मालिनियाँ,
मेरा मन है बहुत अधीर।"

कुछ क्षण पश्चात् गाड़ी को सिंगनल दिया गया। महिम की आँख कभी उस दिशा की ओर जाती थी जिस दिशा से गाड़ी आने को थी और कभी नगर की ओर बाइसिकिलवाले की खोज में। चिन्ता में त्रस्त होते-होते अन्त में गाड़ी तो आ गई, परन्तु साइकिलवाले का कोई पता न था।

गाड़ी प्लेटफ़ार्म की ओर बढ़ती चली आती थी और महिम का कलेजा धक-धक होता चला जाता था। गाड़ी खड़ी हुई। लोगों के सिर खिड़कियों में से निकले, दरवाज़े खुले और यात्री उतरे तथा चढ़े। परन्तु महिम के पैर जकड़ से गये थे। कभी तो वह खिड़की से बाहर निकले हुये सुजान के मुँह को देखता था और कभी नगर की ओर साइ-किलवाले को। इस दशा में वह अधिक समय तक न रह सका। सुजान की ओर बढ़ा। सुजान प्लेटफ़ार्म पर उतर आया। महिम से लिपट गया। महिम को उदास देखकर धक से रह गया। पूछने लगा, "क्यों जी क्या बात है ? मैंने तो रास्ते भर बड़ी प्रशंसा की है। हँसोड़ है, मसखरा है। हंसी के तूफ़ान उठा डालता है। क़ह-क़हों के समुद्र हिंडोल डालता है। यह क्या मरघट जैसी शकल बना रक्खी है ?"

महिम ने नई बहू को नमस्कार करके बरबस होंठों पर मुस्किराहट को दौड़या। महिम से कहने लगा, "आज मेरे लिये आनन्द का और डूब मरने का, दोनों का अवसर है।"

सुजान—"इसलिये कि हम लोग दो से तीन हो गये हैं ?"

महिम—"आनन्द इसीलिये, परन्तु डूब मरने की बात यह है कि इस आनन्द के अवसर के लिये मैंने जो गजरे बनवाये थे वे अभी तक यहाँ नहीं आ पाये हैं।"

सुजान—"अजी घर तो कभी न कभी पहुँचोगे। तब सही। कितने गजरे बनवाये थे ?"

महिम—"अब क्या यह बतलाने की बात है ? आँखों के सामने गजरे होते तो गिन लेते।"

सुजान—"क्या बारात भरके लिये गजरे बनवाये थे ?"

इधर-उधर देखकर महिम ने धीरे से उत्तर दिया, "मुझको सारी बारात से क्या मतलब है ? मेरे लिये तो तुम दोनों ही बारात हो।"

सुजान ने कहा, "और मेरे लिये तुम अकेले बाराती, परन्तु तुम तो शिवगढ़ गये ही नहीं। अच्छा इधर आओ।"

सुजान महिम को हाथ पकड़कर अपने डिब्बे के पास ले गया। रजनी ने ज़रा सा घूँघट में होकर देखकर और लंबा खींच लिया। महिम बोला, "सुजान मैं तो निस्सहाय हूँ। उन गजरों के लिये इस समय मैं सर्वस्व दे डालने को तैयार हूँ। न मालूम इन दिनों किन-किन कल्पनाओं के साथ खेल खिलवाड़ करता रहा और उन पर रीझता रहा। इस समय उन सब पर पानी पड़ गया है।"

सुजान—"फिर वही बात। ज़रा इधर आओ।"

झटका देकर सुजान ने महिम को डिब्बे के पास घसीटा। अपनी दयनीता पर महिम को तरस आ रहा था। सुजान ने धीरे से रजनी से कहा, "यही मेरा अनन्य और अभिन्न महिम है। बिचारे ने गजरे बनवाये थे, परन्तु माली अभी ला ही नहीं पाया है।"

रजनी ने घूँघट ज़रा और लंबा खींच लिया।

गाड़ी के चलने के लिये सिगनल नीचा हुआ और एन्जिन ने सीटी दी। यात्री अपनी-अपनी जगह दौड़ दौड़कर बैठने लगे। प्लेटफ़ार्म की भीड़ एक क्षण में छँट गई। महिम की आँख फिर नगर की ओर साइ-किलवाले की खोज में गई। सुजान को महिम की खिन्नता का कारण मालूम था। वह दिल्लगी में टालने लगा। गाड़ी चली। सुजान अपनी जगह जा बैठा। इतने में साइकिलवाला दौड़ता हुआ प्लेटफ़ार्म पर आया। महिम उसकी ओर लपका। गाड़ी और तेज़ हुई। महिम ने तौलिये में लिपटे हुये गजरों को झपटकर ले लिया। गजरे हाथ में आ गये। तौलिया साइकिलवाले के ऊपर फेंक दी। फिर सुजान के डिब्बे की ओर दौड़ा। गाड़ी और तेज़ हुई। महिम ने एक गजरा डिब्बे में फेंककर, डाल देने की चेष्टा की, परन्तु गजरा प्लेटफ़ार्म पर गिर गया।

उसने उठा लिया। गाड़ी काफ़ी तेज़ हो चुकी थी एक गजरे को उसने अपनी कलाई में डाल लिया, और दो गजरे सुजान के डिब्बे की ओर दोनों हाथों से झुला झुलाकर खड़े होकर दिखलाने लगा। सुजान बहुत प्रसन्न होकर डिब्बे के बाहर अपना हाथ फेंक रहा था। और रजनी ने अपना घूँघट बिलकुल खोल दिया था, एकटक महिम और गजरों को देखती चली गई। गाड़ी के दूर निकल जाने पर भी महिम उसी प्रकार हाथ ऊँचे किये गजरों को हिलाता रहा। उसी प्रकार सुजान डिब्बे में से हाथ लम्बा निकालकर हिलाता रहा, और उसी प्रकार रजनी मुँह खोले उस ओर देखती रही। परन्तु गाड़ी के अदृष्ट हो जाने पर एक आँसू महिम की आँख से क्यों छलक पड़ा था?

श्री इलाचन्द्र जोशी

जन्मकाल रचनाकाल

१९५६ वि० १९८० वि०

[अल्मोड़े के प्रतिष्ठित जोशी परिवार में जोशी जी का जन्म हुआ। वैधानिक शिक्षा तो आपकी केवल हाई स्कूल तक ही हुई पर आपने संस्कृत, अँग्रेजी और बँगला का काफी अध्ययन और मनन किया। आपको फ्रेन्च और जर्मन भाषाओं का भी परियाप्त ज्ञान है। इस प्रकार जोशी जी का अध्ययन बहुत विस्तृत है।

आपने कविता, उपन्यास, निबन्ध तथा आलोचनायें उच्चकोटि की लिखी हैं। आप सम्पादन कला में भी ख्याति पा चुके हैं। आप का कथा साहित्य जनता में बहुत लोक प्रिय है।

आजकल आप लीडर प्रेस के 'भारत' विभाग में कार्य करते हैं। जोशी जी की चिन्तन प्रणाली तथा सर्जनाशक्ति बहुत ही उद्दात्त और यथार्थोन्मुखी है। आप काव्य मर्मज्ञ और कलाकार दोनो हैं। आप बड़े निश्छल और सरल स्वभाव के व्यक्ति हैं।]

——

रेल की रात

गाड़ी आने के समय सेबहुत पहले ही महेन्द्र स्टेशन पर जा पहुँचा था। उसे गाड़ी के पहुँचने का ठीक समय मालूम न हो यह बात नहीं कही जा सकती! पर जिस छोटे शहर में वह आया हुआ था वहाँ से जल्दी भागने के लिये वह ऐसा उत्सुक हो उठा था कि जान-बूझ कर भी अज्ञात मन ने शायद किसी अबोध बालक की तरह यह समझा था कि उसके जल्दी स्टेशन पर पहुँचने से सम्भवतः गाड़ी भी नियत समय से पहले ही आ जायगी।

होल्ड-आल में बन्धे हुये बिस्तरे और चमड़े के एक पुराने सूटकेस को प्लेटफार्म के एक कोने पर रखवा कर वह चिन्तित तथा अस्थिर-सा अन्यमनस्क भाव से टहलते हुये टिकट-घर की खिड़की के खुलने का इन्तजार करने लगा।

महेन्द्र की आयु बत्तीस-तैंतीस वर्ष के लगभग होगी। उसके कद की ऊँचाई साढ़े पाँच फीट से कम नहीं मालूम होती थी। उसके शरीर का गठन देखने से उसे दुबला तो नहीं कहा जा सकता, तथापि मोटा वह नाम को भी न था। रंग उसका गेहुँआ था। कपाल कुछ चौड़ा भवें कुछ मोटी किन्तु तनी हुईं, आँखें छोटी पर लम्बी, काली मूँछें घनी पर पतली और दोनों सिरों पर कुछ ऊपर को उठी थीं। वह खद्दर का एक लम्बा कुरता और खद्दर की धोती पहने था। मर पर टोपी नहीं थी। पाँवों में घड़ियाल के चमड़े के बने हुये चप्पल थे। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण अवश्य था, पर वह आकर्षण सब समय सब व्यक्तियों की दृष्टि को अपनी ओर नहीं खींचता था।

सूरज बहुत पहले डूब चुका था और शुक्ल पक्ष का अपूर्ण गोलाकार चन्द्रमा अपने किरण-जाल से दिग-दिगन्त को स्निग्ध आलोक छटा से विभासित करने लगा था। स्टेशन में अधिक भीड न थी। प्लेटफार्म

पर टहलते-टहलते पूर्व की ओर चार कदम निकल जाने पर ऐसा मालूम होने लगता था कि चाँदनी दीर्घ-विस्तृत समतल-भूमि पर अलस क्लान्ति की तरह पड़ी हुई है। झिल्ला-झनकार का एकान्तिक मर्मर-स्वर इस अलसता की वेदना को निर्मम भाव से जगा रहा था, जिसके महेन्द्र के हृदय की सुप्त व्याकुलता तिलमिला उठती थी।

सिगनल डाउन हो गया था। टिकट घर खुल गया था। थर्ड क्लास का टिकट खरीद कर महेन्द्र गाड़ी का इन्तजार करने लगा। थोड़ी देर में दूर से ही सर्चलाइट के प्रखर प्रकाश से तिमिर विदारण करती हुई गाड़ी दिखाई दी और भकभक करती हुई स्टेशन पर आ खड़ी हुई।

सामने के कम्पार्टमेण्ट में केवल दो व्यक्ति बैठे थे और वे भी उतरने की तैयारी कर रहे थे। महेन्द्र एक हाथ में बिस्तर की गठरी और दूसरे हाथ में सूटकेस पकड़ कर उसी में जा घुसा। जो दो व्यक्ति कम्पार्टमेण्ट में उनके उतरते ही एक चश्माधारी सज्जन ने दो महिलाओं के साथ भीतर प्रवेश किया। कुली ने आकर नवागन्तुक महाशय का सामान भीतर रख दिया और मंजूरी के सम्बन्ध में काफी हुज्जत करने के बाद पैसे लेकर चला गया। चश्माधारी सज्जन महिलाओं के साथ महेन्द्र के सामने वाले बेञ्च पर बड़े आराम से बैठ गये। मालूम होता था कि वह बड़ी हड़बड़ी के साथ गाड़ी आने के कुछ ही समय पहले स्टेशन पहुँचे थे और इस घबराहट में थे कि महिलाओं को साथ लेकर यदि किसी कम्पार्टमेण्ट में जगह न मिली तो क्या होगा। वह अभी तक हाँफ रहे थे, जिससे उनकी अब तक की परेशानी स्पष्ट व्यक्ति होती थी। अब जब आराम से बैठने को खाली जगह मिल गई तो एक लम्बी साँस लेकर चश्मा उतार कर रूमाल से मुँह का पसीना पोंछने लगे। पसीना पोंछते-पोंछते महेन्द्र की ओर देखकर उन्होंने प्रश्न किया—शिकोहाबाद कै बजे गाड़ी पहुँचेगी, आप बता सकते हैं?

महेन्द्र ने उत्तर दिया—जहाँ तक मेरा ख्याल है, बारह बजे के करीब पहुँचेगी।

महेन्द्र कनखियों से महिलाओं की ओर देख रहा था। महिलाएँ उसके एक दम सामने बैठी थीं और यदि वह दृष्टि सीधी करके स्वाभाविक रूप से उन्हें देखता रहता तो भी शायद न तो चश्माधारी सज्जन को और न महिलाओं को कोई आपत्ति होती, पर उसे अपनी स्वाभाविक संकोचशीलता के कारण उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखने का साहस नहीं होता था। दोनों महिलाएँ बेपर्दा बैठीं थीं। उनमें एक की अवस्था प्रायः पैंतीस वर्ष की होगी, वह एक सफेद चादर ओढ़े थी। दूसरी बाईस-तेईस वर्ष की जान पड़ती थी। वह एक गुलाबी रंग की सुन्दर, सुरुचिपूर्ण साड़ी पहने थी। दोनों यथेष्ट सभ्य और सुशील जान पड़ती थीं। ज्येष्ठा को देखने से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता था कि किसी समय वह सुन्दरी रही होगी, पर अब अस्वस्थता के कारण उनका मुखमण्डल बिलकुल निस्तेज जान पड़ता था। कनिष्ठा यद्यपि सौन्दर्य-कला की दृष्टि से सुन्दरी नहीं थीं तथापि उनके मुख की व्यञ्जना में एक ऐसी सरस मधुरिमा वर्तमान थी जो बरबस आँखों को आकर्षित कर लेती थी।

आज कई कारणों से महेन्द्र का जी दिन भर अच्छा नहीं रहा। गाड़ी में बैठने तक वह चिन्तित, अन्यमनस्क तथा उदास था। पर गाड़ी में बैठते ही शिष्ट, सुशील तथा सुन्दरी महिलाओं के साहचर्य से उसके खिन्न मन में एक सुखद सरसता छा गई। यद्यपि वह संकोच के कारण कुछ कम घबराया हुआ न था, तथापि चश्माधारी सज्जन की भोली आकृति-प्रकृति तथा सरल भाव-भंगियों से और महिलाओं की शालीनता से उसे इस बात पर धीरे-धीरे विश्वास होने लगा था कि उन के बीच किसी प्रकार का संकोच अनावश्यक ही नहीं बल्कि अशोभन भी है।

चश्माधारी सज्जन ने चश्मा उतारकर एक रूमाल से उसे पोंछते हुये पूछा—आप क्या शिकोहाबाद जा रहे हैं ?

जी नहीं, मैं दिल्ली जा रहा हूँ। आप क्या शिकोहाबाद में ही रहते हैं ?

जी नहीं, मुझे टूँडला जाना है। मैं वहाँ कोर्ट में प्रेक्टिस करता हूँ। इधर कुछ दिनों के लिये घर आया हुआ था। अब अपनी 'वाइफ, को और 'सिस्टर' को लेकर वापस जा रहा हूँ। 'सिस्टर' की तबीयत ठीक नहीं रहती, इसलिये उसे हवा बदली के लिये ले जा रहा हूँ।

एक साधारण से प्रश्न के उत्तर में इतनी बातों से परिचित होने पर महेन्द्र को नव-परिचित सज्जन की बेतकल्लुफी पर आश्चर्य हुआ और वह मन ही मन मुस्कराने लगा। उसने अनुमान लगाया कि ज्येष्ठ महिला उनकी 'सिस्टर' होंगी और कनिष्ठा 'वाइफ।'

थोड़ी देर में गाड़ी चलने लगी। कोई दूसरा यात्री उस डिब्बे में न आया। चश्माधारी महाशय गाड़ी चलने के कुछ ही देर बाद ऊंघने लगे। वे रह न सके और बँधे हुये बिस्तर को तकिया बना कर एक दूसरे बेञ्च पर लेट गये और लेटते ही खर्राटे लेने लगे। न जाने क्यों, महेन्द्र के मन में यह विश्वास जम गया कि इन नव-परिचित महाशय का जीवन सुखी है। उनकी बेतकल्लुफी तथा उनके मुख का आत्मसंतोषपूर्ण भाव देख कर उसके मन में यह विश्वास जमने लगा था और जब उसने उन्हें निश्चिन्त सोते हुये तथा खर्राटे भरते देखा तो उसकी यह धारणा दृढ़ हो गई।

ज्येष्ठा महिला ने भी थोड़ी देर में ऊंघना शुरू कर दिया। वह ऊघती जाती थी और बीच-बीच में जब जबर्दस्त हिचकोला खाती थी तो वह जाग पड़ती थीं। केवल कनिष्ठा महिला पूर्णतः सजग थी। वह कभी खिड़की से बाहर झाँक कर चाँदनी के उज्जवल आलोक में शायद 'पल-पल-परिवर्तित' प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेती थी, कभी, ऊँघने

वाली महिला की ओर देखती थी, कभी खर्राटे भरने वाले महाशय (शायद अपने पति) को एक बार सरसरी निगाह से देख लेती थी और कभी महेन्द्र को स्निग्ध किन्तु विस्मय की उत्सुकता से पूर्ण आँखों से देखने लगती थी। उन आँखों की स्थिर दृष्टि जब महेन्द्र पर आकर पड़ती थी। तो उसे ऐसा मालूम होने लगता कि वह मोहाविष्ट हुआ जा रहा है और उसकी सारी आत्मा, यहाँ तक कि सारा शरीर भी अपना रूप बदल रहा है और वह किसी अव्यक्त तथा अतीन्द्रिय मायावी स्पर्श से कुछ का कुछ हुआ जा रहा है। वह उस स्थिर दृष्टि का तेज सहन न कर सकने के कारण आँखें फिरा लेता था।

गाड़ी टटर-टट्ट टटर-टट्ट शब्द से चली जा रही थी। जाग्रत महिला की गुलाबी साड़ी का अञ्चल हवा के झोंके से सर से नीचे खिसक कर उनके लहराते हुये घनकुञ्चित काले केशों की बहार दिखा रहा था। गुलाबी साड़ी भी हवा के जोर से फर-फर फहरा रही थी। महेन्द्र पूर्ण जाग्रत अवस्था में स्वप्न देखने लगा। उसे यह भ्रम होने लगा कि यह महिला, जो इस समय के पहले उसके लिये एक दम अज्ञात थी और निश्चय ही सदा अज्ञात रहेगी, न जाने किस चिदानन्दमय उल्कालोक से अकस्मात् आविर्भूत होकर उस के पास आ बैठी है और गुलाबी रंग की पताका फहरा कर विश्व-विजय को निकली है और वह उसका सारथी-बन कर उस अनन्त गामी रेल रूपी रथ पर चला जा रहा है। सारा विश्व, समस्त मानवी तथा मानसी सृष्टि उसके लिये उस कम्पार्टमेंट के भीतर समा गई थी, जिसमें ऊँघने वाली महिला तथा सोये हुये सज्जन का कोई अस्तित्व नहीं था, और उसके बाहर क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाले अस्थिर माया जगत् का चिर-चञ्चल रूप एक दम असत्य तथा सत्ताहीन-सा लगता था।

महेन्द्र सोचने लगा कि उसने जीवन में कितनी ही स्त्रियों को विभिन्न रूपों तथा विचित्र परिस्थितियों में देखा है, पर आज का यह

बिलकुल साधारण सा अनुभव उसे क्यों ऐसा अपूर्व तथा अनुपम लग रहा है ? वह सोच ही रहा था कि फिर उस विश्व-विजयिनी ने अपनी सुन्दर विस्मित आँखों की रहस्यमयी उत्सुकता से भरी स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह मन ही मन उसे सम्बोधित करते हुये कहने लगा—चिर-अज्ञाता, चिर-अपरिचिता देवी ! तुम मुझसे क्या चाहती हो ? तुम्हारी इस मर्मभेदिनी दृष्टि का क्या अर्थ है ? दैवयोग से महाकाल के इस नगण्यतम क्षण में, जिसकी सत्ता महासागर में एक क्षुद्रतम बुद्बुद् के बराबर भी नहीं है, हम दोनों का आकस्मिक मिलन घटित हुआ है, और महासागर में बुद्बुद् की तरह ही यह क्षण सदा के लिये विलीन हो जायगा। तथापि इतने ही अर्से में क्या तुम हम दोनों के जन्मान्तर के सम्बन्ध से परिचित हो गई ? अथवा यह सब कुछ नहीं है ? तुम्हारी आँखों की उत्सुकता का कोई मूल्य नहीं है, मेरी विह्वल भावुकता का कोई महत्व नहीं है ? महत्वपूर्ण जो कुछ है वह है तुम्हारे पास लेटे हुये व्यक्ति का खर्राटे भरना ?

शिकोहाबाद पहुँचने तक चश्माधारी सज्जन की नींद न टूटी और ज्येष्ठा महिला ऊँघती रही। पर महेन्द्र की विश्व-विजयिनी की आँखों में एक क्षण के लिये भी निद्रा-रसावेश का लेश नहीं दिखाई दिया। वह बीच बीच में अपनी मर्म-भेदिनी दृष्टि की प्रखर उत्सुकता से उसके हृदय को अकारण निर्मम रूप से विद्ध करती चली जाती थी। फल स्वरूप महेन्द्र की गुलाबी मोहकता भी शिकोहाबाद पहुँचने तक अखण्ड बनी रही।

शिकोहाबाद पहुँचने पर विश्वविजयिनी ने चश्माधारी सज्जन के किञ्चित स्थूल शरीर को हाथ से हिलाते हुये जगाया। ऊँघती हुई महिला भी सँभल कर बैठ गई। कुलियों से सामान उतरवा कर चारों व्यक्ति उतर पड़े। दिल्ली वाली गाड़ी जिस प्लेटफार्म पर लगने वाली थी वहाँ को जाने के लिये पुल पार करना पड़ा। पुल पार करके वे

लोग जिस प्लेटफार्म पर आये वहाँ कहीं एक भी बत्ती जली हुई नहीं थी। पर चूंकि सर्वत्र निर्मल चाँदनी छिटक रही थी, इसीलिए बत्ती की कोई आवश्यकता न जान पड़ी। गाड़ी के आने में अभी डेढ़-घंटे की देर थी। चश्माधारी महाशय एक बेञ्च पर बिस्तर फैला कर लेट गये। दोनों महिलाएँ भी नीचे रखे हुये सामान के ऊपर बैठ गई।

चश्माधारी सज्जन ने महेन्द्र से कहा—आप भी किसी बेञ्च पर बिस्तर बिछा कर लेट जाइये।

पर कोई बेञ्च खाली नहीं थी और न महेन्द्र सोने के लिये ही उत्सुक था। आज की रेलवे यात्रा की चन्द्रोज्ज्वल रात्रि उसे चिर-जाग्रत तथा चिर जीवित स्वप्न-लोक में विचरण करा रही थी। वह प्लेटफ़ार्म पर टहलता हुआ अपने अन्तर्पट में नव-उद्घाटित जीवन-वैचित्र्य की चहल-पहल देख कर विस्मित हो रहा था। उसे ऐसा अनुभव हो रहा था कि वह जीवन की मधुरिमा से आज प्रथम बार परिचित हो रहा है। रेलवे लाइन के उस पार दिगन्त-विस्तृत ज्योत्स्ना-राशि अपने आवेश में स्वयं पुलकित हो रही थी और सामने काफी दूरी पर दो रक्त रञ्जित गोलाकार प्रकाश चिह्न आकाश-दीप की तरह मानो आनन्दोज्वल रंगीन जीवन का मार्ग उसके लिये इंगित कर रहे थे। रेलगाड़ी से होकर वह अनेक बार आया था और गया था और कितने ही बार उसे रात के समय स्टेशनों पर गाड़ी के इन्तजार में ठहरना पड़ा था, पर आज की ऐन्द्रजालिक उल्लासपूर्ण अनुभूति उसके लिये एकदम नई थी। इस बार इन्द्रजाल के उद्घाटन का श्रेय जिस को था वह मायाविनी इस समय टीन की छत के नीचे की छाया में बैठी हुई थी और अंधकार में उसकी आँखों के जादू का चलना बन्द हो गया था। पर वहाँ पर केवल मात्र उसका अस्तित्व ही महेन्द्र की आत्मा में मायालोक की मोहकता का सृजन करने के लिये पर्याप्त था।

वह टहलते-टहलते न मालूम किन निरुद्देश्य स्वप्नों की माया के फेर में पड़ा हुआ था कि अचानक चश्माधारी महाशय ने बेंच पर से पुकारते हुये कहा— अरे जनाब, कब तक टहलियेगा! अगर लेटना नहीं चाहते तो यहाँ पर बैठ तो जाइये। नींद तो अब आवेगी नहीं इसलिये गाड़ी के आने तक गपशप ही रहे।—महाशय जी पहले ही काफी सो चुके थे, इसलिये अब नींद नहीं आती थी। महेन्द्र मुस्कराता हुआ उनके पास ही अपने सूटकेस के ऊपर बैठ गया।

महाशयजी ने कहा—आप क्या दिल्ली में कहीं मुलाजिम हैं?

'जी नहीं।'

'तब आप क्या करते हैं?'

'यों ही आवारा फिरा करता हूँ।'

'आप खद्दर पहने हैं, क्या आप काँग्रेसमैन हैं?'

'पहले था, अब नहीं के बराबर हूँ।'

'अब नहीं के बराबर क्यों? काँग्रेस ने अपना मंत्रित्व कायम किया है, क्या इसलिये आप उसके विरोधी हो उठे हैं?'

'जी नहीं, मैं काँग्रेस का विरोधी नहीं हुआ हूँ, बल्कि काँग्रेस ही मेरे विरुद्ध हो गई है।'

'वह कैसे?'

इस प्रश्न के उत्तर में महेन्द्र ने परम क्लान्ति का भाव दिखाते हुये कहा—अरे साहब, सुन के क्या कीजियेगा! व्यर्थ में आपके संस्कारों को आघात पहुँचेगा। इस चर्चा को हटाइये। और किसी अच्छे विषय की चर्चा चलाइये।

स्वभावतः चश्माधारी सज्जन का कौतूहल बढ़ा। उन्होंने आग्रह के साथ कहा—फिर भी जरा सुनें तो सही। आखिर कौन सी ऐसी बात हो गई।

महेन्द्र की सुप्त स्मृतियाँ तिलमिला उठी थीं। कनखियों से उसने देखा, प्रायान्धकार में बैठी हुई मायाविनी महिला का ध्यान उसी की ओर था। पल में उनके मानसिक चक्षुओं के आगे उसके सारे विगत जीवन की व्यर्थता के दुःखद संस्मरणों की झाँकी चित्रपट पर क्रम से परिवर्तित होने वाले चित्रों की तरह भासमान होने लगी। भाव के आवेश में आकर उसने कहा—अच्छा, तो सुनिये! ग्यारह वर्ष की उम्र से लेकर तीस वर्ष की अवस्था तक काँग्रेस के सिद्धान्तों के पीछे पागल होकर उसकी खातिर अपने जीवन और यौवन की बलि देकर भी मैं काँग्रेस के देवताओं को कभी प्रसन्न न कर सका, यह मेरे भाग्य का दोष है। फिर मैं भी सोचता हूँ कि क्या इन देवताओं को इतना निर्मम होना चाहिये था! मैंने काँग्रेस के लिये क्या नहीं किया! भूखों रह कर, पग-पग पर ठोकरें खाकर, समाज तथा परिवार की फटकारें सह कर, जीवन के सब सुखों को अपने ध्येय के लिये तिलाञ्जलि देकर, राष्ट्रीय आदर्श को ब्रह्मातत्व से भी अधिक महत्व देकर सच्ची लगन से अपनी सारी आत्मा को निमज्जित करके काँग्रेस का साथ दिया। तीन बार काफी अवधि के लिये जेल में सड़ता रहा, बार-बार पुलिस के डण्डे सर पर पड़ते रहे, जमीन-जायदाद कुर्क हो गई, माता-पिता अपने कपूत सन्तान के कारण तबाह होकर मानसिक और शारीरिक पीड़न की पराकाष्ठा भोग कर चल बसे, पत्नी-तड़प कर, घुल-घुल अपने भाग्य को कोसती हुई मर गई। फिर भी मैं राष्ट्र के कल्याण के परम ध्येय को स्त्री, परिवार, आत्मा और परमात्मा से बहुत ऊँचा मानता हुआ सच्ची लगन से काँग्रेस का अनुयायी बना रहा। मेरी आँखें तब खुलीं जब अन्तिम बार जेलखाने में लम्बी मियाद पूरी करने के बाद थका-मांदा, मन से तथा शरीर से क्लिष्ट और क्लान्त हो कर मैं बाहर आया और देखा कि जिन नेताओं के नीचे मैंने अपनी सारी आत्मा का रस निचोड़-निचोड़ कर देशहित के व्रत को कठोर साधना की थी, वे मेरे प्रति एकदम उदा-

सीन से हो गये थे और स्वयं अपने सांसारिक स्वार्थ तथा परमार्थ की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करते हुये, सच्चे कार्यकर्ताओं के रक्त और पसीने से अर्जित यश को लूट कर, त्यागी महात्मा की पदवी प्राप्त करके परम प्रसन्न थे। अपने विगत जीवन की भयंकर भूल मुझे निर्मम रूप से दग्ध करने लगी। पर अब उसके प्रतीकार का कोई उपाय नहीं था। एक-एक करके उन स्नेही जनों की स्मृतियाँ मेरे मन में उदित हो-हो कर व्यथित करने लगीं जिनकी मैं सदा अवज्ञा करता आया था। अपनी पत्नी से मैंने जीवन में शायद दो दिन भी घनिष्टता से बातें न की होंगी। जब मैं बाहर रहता था तो उसके पत्र बराबर मेरे पास आते रहते थे और मैं सरसरी दृष्टि से उन्हें पढ़ कर अवज्ञा से फाड़ कर फेंक देता था। एक या दो बार से अधिक मैंने उसके पत्रों का उत्तर नहीं दिया और दो बार जो उत्तर दिया था वह भी चार पंक्तियों में बिलकुल रूखे-सूखे ढंग से। अब जब मैं अपने को सारे संसार में अकेला, स्नेह तथा समवेदना से वंचित, असहाय तथा निरुपाय मालूम करने लगा तो उसकी भोली-भाली सकरुण, स्नेह की वेदना से भरी, सहज सलोनी मूर्ति प्रति पल मेरी आँखों के आगे भासित होने लगी। उसके पत्रों में सरल शब्दों में वर्णित कातर व्याकुलता के हाहाकार की पुकार मानो मेरी स्मृति के अतुल गह्वर में दीर्घ सुप्ति की घोर जड़ता के बाद अकस्मात् जागरित होकर मेरे हृदय पर जलते हुये अंगारों के गोलों से आघात करने लगी। अपने जीवन में मैं कभी किसी बात पर नहीं रोया था। माता-पिता तथा पत्नी, किसी की मृत्यु पर एक बूँद आँसू की मेरी आँखों से न निकली थी। पर अब रह-रह कर उन लोगों की याद में बिलख-बिलख कर मैं बार-बार रो पड़ता। मुझे ऐसा भास होने लगा कि आज तक मैं वास्तविक सुख-दुःखमय संसार में रहते हुये किसी भौतिक जगत् में विचरण किया करता था अध्यात्मवादी वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं कि इस दृश्य जगत् के भीतर ही ऐसे अनेक अदृश्य स्तर वर्तमान हैं जिनमें विभिन्न योनियों के

जीव निवास करते हैं। ये अदृश्य जीव रात-दिन हमारे ही बीच में विचरण करते रहते हैं और उनके शरीर भी हाड़-मांस से बने हुये हैं, फिर भी वे हमारे स्पर्श-संघर्ष में इसलिये नहीं आते कि उनके और हमारे स्तरों में विभिन्नता है। पहले मुझे भी ऐसा जान पड़ता था कि मैं जिस स्तर में निवास करता हूँ वह मेरे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के स्तर से बिलकुल अलग है और वहाँ के जीवों से मेरा बिलकुल भी सरोकार नहीं है। पर जब कारावास की अन्तिम अवधि के बाद मैं बाहर निकला तो मुझे ऐस जान पड़ने लगा कि किसी ने मुझे अत्यन्त निर्ममता से उस चिर- विस्मृति स्तर में ढकेल दिया है और अपने पारिवारिक जीवन की सब स्मृतियाँ पूर्वजन्म की सी स्मृतियों की तरह जागरित हो कर मुझे एक निराले ही पीड़न का अनुभव कराने लगी हैं। राष्ट्रगत जीवन के अस्पष्ट तथा धुँधले नीहारिका-पुञ्ज का रहस्यमय आवरण भेद कर मेरी स्नेहशीला पति-परायणा पत्नी की सकरुण पुण्यच्छवि उज्ज्वल नक्षत्र की तरह मेरी आँखों के आगे स्पष्ट भासमान होने लगी। रह-रह कर मेरा जी विकल हो उठता था और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता जैसे मेरे हृदय में किसी के निष्कलंक सुकुमार प्राणों की पैशाचिक हत्या का अपराध पाषाण भार की तरह पड़ा हो। बहुत दिनों तक इस नृशंस अपराध की भयंकर अनुभूति का भूत मेरी आत्मा को अत्यन्त निष्ठुरता से दबाता रहा। अब भी यह भौतिक आतंक कभी-कभी मेरे मन में जागरित हो उठता है। फिर भी अब मैंने अपने मन को बहुत-कुछ समझ लिया है और जीवन को मैं एक नई दृष्टि से नये रूप में देखने लगा हूँ और साधारण से साधारण घटना भी कभी-कभी मेरे मन में एक अलौकिक आनन्द का आश्चर्य उत्पन्न करने लगती है। किसी स्त्री को देखते ही अब मेरे हृदय में एक श्रद्धापूर्ण उत्सुकता का भाव जग पड़ता है—ऐसा मालूम होने लगता हैं जैसे मैंने जीवन में पहले कभी स्त्री को देखा

भी न हो और अब पहली बार इस आनन्ददायिनी रहस्यमयी जाति के अस्तित्व का अनुभव मुझे हुआ हो।

महेन्द्र का लम्बा लेक्चर समाप्त होते ही चश्माधारी सज्जन 'हाःहाः' करके ठठा कर हँसते हुये बोले—आप भी बड़े मजे के आदमी हैं। खूब!—यह कह कर वह बेंच पर आराम से लेट गये और उन्होंने आँखे बन्द कर लीं। थोड़ी देर बाद वह जोरों से खर्राटे लेने लगे।

एक लम्बी साँस लेते हुये महेन्द्र ने प्रायान्धकार में अस्पष्ट झलकती हुई गुलाबी साड़ी की ओर देखा। दो आँखों की मार्मिक दृष्टि की तीव्र मोहकता उस अर्द्ध-अन्धकार में भी विस्मित वेदना की उत्सुक उज्ज्वल रेखाओं को विकीरित कर रही थीं। महेन्द्र पुलक-विह्वल होकर मन्त्र-मुग्ध-सा बैठा रहा।

घण्टी बजी, दिल्ली को जाने वाली गाड़ी के आने की सूचना देते हुये सिगनल डाउन हुआ। सामने रक्त-आकाश दीप के बदले हरे रंग का प्रकाश जल उठा। यह हरित् आलोक महेन्द्र के मानस-पट में साड़ी के गुलावी रंग के साथ मिल कर एक स्निग्ध शुचि सौन्दर्य-लोक का सृजन करने लगा।

थोड़ी देर में दूर ही से गाड़ी का सर्च-लाइट दिखाई दिया। चश्माधारी महाशय महेन्द के जगाने पर फड़फड़ाते हुये उठे। कुलियों ने सामान सँभाल लिया। भक-भक करती हुई गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आ लगी। बड़ी भीड़ थी। चश्माधारी सज्जन को महिलाओं के साथ कुली लोग इंजिन की उल्टी ओर बहुत दूर तक ले गये। कहीं स्थान न पाकर अन्त में एक डिब्बे में जबरदस्ती घुस गये। महेन्द्र भी उन लोगों के साथ-साथ जा रहा था। पर जिस डिब्बे में वे लोग घुसे उस डिब्बे में स्थान का निपट अभाव देख कर वह विवश होकर एक दूसरे डिब्बे में चला गया। वहाँ भी काफी भीड़ थी। किसी प्रकार उसने अपने बैठने के लिये थोड़ा सा स्थान बनाया।

गाड ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी। महेन्द्र के मस्तिष्क में नाना अस्पष्ट भावनाएं चक्कर लगाने लगीं। दो दिन से उसे नींद नहीं आई थी। आज भी वह अभी तक सो नहीं पाया। इसलिये सोचते-सोचते वह ऊँघने लगा। ऊँघते हुये उसने देखा कि गुलाबी रंग की साड़ी द्रौपदी के चीर की तरह फैलती हुई अकारण सारे आकाश में छा गई है। सहसा दो स्थानों पर वह गगनव्यापी साड़ी फटी और उन दो छिद्रों से होकर दो वेदनाशील, तीक्ष्ण, उज्ज्वल आँखें तीर की तरह प्रखर वेग से उसकी ओर धावित होकर एक रूप में मिल कर एक बड़ी आँख के आकार में परिणत हो गई। वह बड़ी आँख उसके शरीर को छेद कर उसके हृतपिण्ड को छूकर फिर ऊपर आकाश की ओर तीर की तरह छूटी और आकाश में फैली हुई गुलाबी साड़ी में जा लगी और फट कर फिर से दो सुन्दर, किन्तु करुणा-विकल आँखों के आकार में विभक्त हो गईं।

टूँडला स्टेशन पर गाड़ी ठहरने पर महेन्द्र पूर्णतःसचेत हो कर बैठ गया। चश्माधारी महाशय दोनों महिलाओं को साथ लेकर कम्पार्टमेण्ट से बाहर उतरे और सामान को कुलियों के हवाले करके उनके साथ बाहर फाटक की ओर चले। महेन्द्र ने अपने कम्पार्टमेण्ट से अपनी विश्व-विजयिनी को देखा। वह इस उत्सुकता में था कि एक बार अन्तिम समय के लिये दोनों की चार आँखें हो जावें, पर न हुईं और गुलाबी साड़ी से आवृत सजीव प्रतिमा व्यस्त विह्वलता से आगे को निकल गई।

टूँडला से गाड़ी छूटने पर महेन्द्र के कानों में चश्माधारी सज्जन के ठठा कर हँसने का शब्द गूँजने लगा। उससे अदृष्ट की चिर-व्यंग पुकार मानो बार-बार कहती थी — हाःहाः! आप भी बड़े मजे के आदमी हैं। खूब!

———

श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी

जन्मकाल	रचनाकाल
१९५६ वि०	१९७९ वि०

[श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी जी का जन्म मंगलपुर जिला कानपुर में हुआ। आजकल आप प्रयाग में रहते हैं। प्रारंभ में आप अध्यापन कार्य करते रहे किन्तु हिन्दी सेवा की ओर विशेष रुचि होने के कारण अध्यापकी छोड़ देनी पड़ी। आप कानपुर में आकर 'संसार' नामक मासिकपत्र का सम्पादन करने लगे। तभी से आपकी प्रतिभा का विकास प्रारंभ हुआ इसी समय से आपने कहानियाँ लिखनी प्रारंभ की और आज २५ वर्ष से अधिक समय से आप हिन्दी-साहित्य की बड़ी लगन और श्रम से सेवा करते आ रहे हैं। आपके एक दर्जन से अधिक उपन्यास और एक दर्जन से अधिक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं वाजपेयी जी आजकल के कहानी तथा उपन्यास लेखकों में अपनी विशेषता रखते हैं। जीवन में व्याप्त भावनाओं तथा मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण आपकी कला की विशेषता है। कहानी के द्वितीय युग के लेखकों में आपका उच्च-स्थान है। आप बड़े सहृदय, हँसमुख और मिलनसार व्यक्ति हैं। इस वक्त फिल्म-कम्पनी में कार्य कर रहे हैं। आप कवि भी बड़े सुन्दर हैं।]

——

मिठाईवाला

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता— "बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किन्तु मादक मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुननेवाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके स्नेहाभिषिक्त कण्ठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिये हुये युवतियाँ चिकों को उठा कर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और उनके अन्तर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुये चोंब का झुण्ड उसे घेर लेता। और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठ कर खिलौने की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों का मोल-भाव करने लगते। पूछते—"इछका दाम क्या है, और इछका, औल इछका?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्ही-नन्हीं अँगुलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर चल देता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।" सागर की हिलोर की भाँति उसका वह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आये। वे दो बच्चे थे—चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला—"मेला घोला कैछा छुन्दल ऐ!"

मुन्नू बोला—"औल देखो मेला आती कैसा छुन्दल ऐ!"

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की माँ रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अन्त में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने पूछा—"अरे ओ चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिये हैं?"

मुन्नू बोला—"दो पैछे में। खिलौनेवाला दे गआ ऐ!"

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है?

कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

जरा-सी बात ठहरी, रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता भला क्यों पड़ती।

(२)

छै महीने बाद—

नगर भर में दो-ही-चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—भई वाह! मुरली बजाने में यह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर, वह मुरली बेचता भी है। सो भी दो-दो पैसे। भला इसमें उसे क्या मिलता होगा। मेहनत भी तो न आती होगी।

एक व्यक्ति ने पूछ दिया—"कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा।"

उत्तर मिला—"उमर तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तिस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफ़ा बाँधता है।"

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था ?"

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचा करता था ?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक मृदुल स्वर सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलानेवाला मुरलियावाला !"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौने-वाला भी इसी तरह गा गाकर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजयबाबू के पास गई। बोली—"जरा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो चुन्नू-मुन्नू के लिये ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आवे, न आवे। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गये हैं।"

विजयबाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिये हुये वे दरवाजे पर आकर मुरलीवाले से बोले—"क्यों भई, किस तरह देते हो मुरली ?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया और किसी की सोथनी (पायजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुये बच्चों का झुण्ड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, औल अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्गद् हो उठा। बोला—"सबको देंगे भैया, जरा रुको, ज़रा ठहरो, एक-एक को लेने दो अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट

थोड़े हो जायँगे। बेचने तो आये ही हैं। और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन।...हाँ बाबू जी, क्या पूछा था आपने, कितने में दीं!...दीं तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से हैं, पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूँगा।"

विजयबाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुसकरा दिये। मन ही-मन कहने लगे—"कैसा ठग है! देता सब को इसी भाव से है, पर मुझपर उल्टा एहसान लाद रहा है। फिर बोले—"तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत होती है। देते होगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझ मेरे ऊपर लाद रहे हो।"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा। बोला—"आपको क्या पता बाबू कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज़ क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है।...आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिये तो बाबूजी, इनका असली दाम दो ही पैसे हैं। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हज़ार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं।"

विजयबाबू बोले—"अच्छा-अच्छा, मुझे ज्यादा वक्त नहीं है, जल्दी से दो ठो निकाल दो।"

दो मुरलियाँ लेकर विजयबाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गये।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुण्ड में मुरलियाँ बेचता रहा। उसके पास कई रङ्ग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रङ्ग पसन्द करते, मुरली-वाला उसी रङ्ग की मुरली निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू राजाबाबू, तुम्हारे लायक़ तो बस यह है।...हाँ भैये, तुमको वही देंगे। यह लो।...तुमको वैसी न चाहिये, ऐसी चाहिये?—यह नारङ्गी रङ्ग की?—अच्छा यही

लो।...पैसे नहीं हैं? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हूँ। ...तुम ले आये पैसे?... अच्छा, यह लो तुम्हारे लिये मैंने पहले ही से निकाल रक्खी थी।...तुमको पैसे नहीं मिले! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे? धोती पकड़ के, पैरों में लिपट के, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं, बाबू।...हाँ, फिर जाओ। अबकी बार मिल जायँगे।... दुअन्नी है? तो क्या हुआ ये छै पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब?...मिल गये पैसे! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है?—सब ले चुके? तुम्हारी माँ के पास पैसे नहीं हैं! अच्छा, तुम भी यह लो।...अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

(३)

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला पहले कभी नहीं आया—फिर, वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है और आदमी कैसा भला जान पड़ता है! समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो कराये सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर निकट की दूसरी गली से सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!

रोहिणी इसे सुनकर मन-ही-मन कहने लगी—"स्वर कैसा मीठा है इसका!"

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का यह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के महीने

आये और चले गये, पर मुरलीवाला न आया। फिर धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण होती गई।

(४)

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर आजानुविलम्बित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला।

मिठाईवाले का यह स्वर परिचित था, झट से रोहिणी नीचे उतर आई। इस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ, उसकी वृद्धा दादी थी। रोहिणी उनके निकट आकर बोली—"दादी, चुन्नू मुन्नू के लिये मिठाई लेनी है। जरा कमरे में चलकर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। जरा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।"

दादी उठकर कमरे में आकर बोली—"ए मिठाईवाले, इधर आना।"

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—"माँ, कितनी मिठाई दूँ? नयी तरह की मिठाईयाँ हैं; रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी और जायकेदार। बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खाँसी को भी दूर करती हैं। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।

दादी बोली—"सोलह तो बहुत कम होती हैं; भला पचीस तो देते।"

मिठाईवाला---"नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं आपको क्या·········। खैर, मैं अधिक तो न दे सकूँगा।"

रोहिणी दादी के पास ही बैठे थी। बोली—"दादी, फिर भी काफ़ी सस्ता दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार पैसे की दे दो। अच्छा, पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव मुझे तो अब ज्यादा कर भी नहीं आता।"—कहते हुये दादी के पोपले मुँह की ज़रा-सी-मुसकराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—"दादी इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आये थे, या पहली ही बार आये हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया---" पहली बार नहीं; और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—पहले यही मिठाई बेचते हुये आये थे या और कोई चीज़ लेकर ?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—"इससे पहले मुरली लेकर आया था; और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिये अस्थिर-अधीर हो उठी। वह बोली---"इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा ?"

वह बोला—"मिलता तो क्या है, यही खाने-भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, सन्तोष और धीरज और कभी-कभी असीम सुख जरूर मिलता है। और यही मैं चाहता भी हूँ।"

"सो कैसे ? वह भी बताओ ।"

"अब व्यर्थ में उन बातों की चर्चा क्यों करूँ । उन्हें आप जाने ही दें उन बातों को सुनकर आपको दुःख होगा ।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो । मैं बहुत उत्सुक हूँ । तुम्हारा हर्जा न होगा । और भी मिठाई मैं ले लूँगी ।"

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—

"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था । मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर सभी कुछ था । स्त्री थी, छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे । मेरा वह सोने का संसार था । बाहर सम्पत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख का । स्त्री सुन्दर थी, मेरा प्राण थी । बच्चे ऐसे सुन्दर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने । उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था । समय की गति—विधाता की लीला ! अब कोई नहीं है । दादी, प्राण निकाले नहीं निकले । इसीलिये अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ वे सब अन्त में होंगे तो यहीं कहीं । आखिर कहीं-न-कहीं तो जन्मे ही होंगे । उस तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता । इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूँगा । इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है । ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हँस-खेल रहे हैं । पैसों की कमी थोड़े ही है । आपकी दया से पैसे तो काफ़ी हैं । जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा । देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं ।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गये । रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—"अम्मा, मिठाई ।"

"मुझसे लो"—कहकर तत्काल काग़ज़ की दो पुड़ियों में मिठाइयाँ भरकर मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिये।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई और कहा—"अब इस बार ये पैसे न लूँगा।"

दादी बोली—"अरे अरे, न-न, अपने पैसे लिये जा भाई!"

किन्तु तब तक आगे सुनाई पड़ा, उसी प्रकार मादक मृदुल स्वर में—"बच्चों को बहलानेवाला मिठाईवाला।"

——

श्री विनोदशङ्कर व्यास

जन्मकाल रचनाकाल

१९५८ वि० १९७८ वि०

[श्री विनोदशंकर व्यास काशी के पुराने रईस हैं। आपके पितामह पण्डित रामशंकर व्यास हिन्दी के प्राचीन और प्रसिद्ध लेखक माने जाते हैं। स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद के प्रोत्साहन से आप हिन्दी सेवा की ओर अग्रसर हुये। आपकी पहली कहानी सन् १९२५ में 'माधुरी' में प्रकाशित हुई। इसके बाद आप तेजी से हिन्दी के क्षेत्र में आये और अनेक सुन्दर कहानियों की रचना करके साहित्य की श्रीवृद्धि की। आप की कहानियों का एक संग्रह 'पचास कहानियों' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। 'अशान्त' नाम का उपन्यास भी आपका प्रकाशित हो चुका है। श्री विनोदशंकर व्यास की कहानियाँ हिन्दी में अपना एक महत्व रखती हैं! कहानियों की घटनायें तथा पात्र-पात्री का चुनाव जीवित और जाग्रत संसार की होती हैं। आपकी प्रायः कहानियाँ मानव हृदय की मर्मस्पर्शी और वास्तविक भावना का चित्रण होता है और अनुभूति की मात्रा की अधिकता होती है। व्यास जी बड़े हृदयवान, विचारशील, भावुक और हँसमुख व्यक्ति हैं, कहानियाँ अत्यन्त रोचक और सुन्दर होती हैं।]

विधाता

'चीनी के खिलौने, पैसे में दो; खेल लो, खिला लो, टूट जाय तो खा लो—पैसे में दो।'

सुरीली आवाज में यह कहता हुआ खिलौनेवाला एक छोटी-सी घण्टी बजा रहा था।

उसकी आवाज सुनते ही त्रिवेणी बोल उठी—

'माँ, पैसा दो खिलौना लूँगी।'

'आज पैसा नहीं है बेटी।'

'एक पैसा माँ हाथ जोड़ती हूँ।'

'नहीं है त्रिवेणी, दूसरे दिन ले लेना।'

'त्रिवेणी के मुख पर सन्तोष की झलक दिखलाई दी।'

उसने खिड़की से पुकार कर कहा—ऐ खिलौनेवाले, आज पैसा नहीं है; कल आना।

चुप रह, ऐसी बात भी कहीं कही जाती है?—उसकी माँ ने झुन-झुनाते हुए कहा।

तीन वर्ष की त्रिवेणी की समझ में न आया। किन्तु उसकी माँ अपने जीवन के अभाव का पर्दा दुनिया के सामने खोलने से हिचकती थी। कारण, ऐसा सूखा विषय केवल लोगों के हँसने के लिये ही होता है।

और सचमुच—वह खिलौनेवाला मुस्कुराता हुआ, अपनी घण्टी बजाकर, चला गया।

* * *

सन्ध्या हो चली थी।

लज्जावती रसोईघर में भोजन बना रही थी। दफ़्तर से उसके पति के लौटने का समय था। आज घर में कोई तरकारी न थी, पैसे भी न थे। विजयकृष्ण को सूखा भोजन ही मिलेगा! लज्जा रोटी बना रही थी और त्रिवेणी अपने बाबू जी की प्रतीक्षा कर रही थी।

माँ, बड़ी तेज भूख लगी है।—कातर वाणी में त्रिवेणी ने कहा।

बाबूजी को आने दो, उन्हीं के साथ भोजन करना, अब आते ही होंगे।—लज्जा ने समझाते हुये कहा। कारण, एक ही थाली में त्रिवेणी और विजयकृष्ण साथ बैठकर नित्य भोजन करते थे और उन दोनों के भोजन कर लेने पर उसी थाली में लज्जावती टुकड़ों पर जीनेवाले अपने पेट की ज्वाला को शान्त करती थी। जूठन ही उसका सोहाग था।

लज्जावती ने दीपक जलाया। त्रिवेणी ने आँख बन्द कर दीपक को नमस्कार किया; क्योंकि उसकी माता ने प्रतिदिन उसे ऐसा करना सिखाया था।

द्वार पर खटका हुआ। विजय दिन-भर का थका लौटा था। त्रिवेणी ने उछलते हुये कहा—माँ, बाबूजी आ गये।

विजय कमरे के कोने में अपना पुराना छाता रख कर खूँटी पर कुर्ता और टोपी टाँग रहा था।

लज्जा ने पूछा—महीने का वेतन आज मिला न?

नहीं मिला, कल बँटेगा। साहब ने बिल पास कर दिया है।—हताश स्वर में विजयकृष्ण ने कहा।

लज्जावती चिन्तित भाव से थाली परोसने लगी। भोजन करते समय, सूखी रोटी और दाल की कटोरी की ओर देखकर विजय न-जाने क्या सोच रहा था। सोचने दो; क्योंकि चिन्ता ही दरिद्रों का जीवन है और आशा ही उनका प्राण।

* * *

किसी तरह दिन कट रहे थे।

रात्रि का समय था! त्रिवेणी सो गई थी, लज्जा बैठी थी।

देखता हूँ, इस नौकरी का भी कोई ठिकाना नहीं है।—गम्भीर आकृति बनाते हुये विजयकृष्ण ने कहा।

क्यों! क्या कोई नई बात है?—लज्जावती ने अपनी झुकी आँखें ऊपर उठाकर, एक बार विजय की ओर देखते हुये, पूछा।

'बड़ा साहब मुझसे अप्रसन्न रहता है। मेरे प्रति उसकी आँखें सदैव चढ़ी रहती हैं।'

'किसलिये?'

'हो सकता है, मेरी निरीहता ही इसका कारण हो।

लज्जा चुप थी।

'पन्द्रह रुपये मासिक पर दिन-भर परिश्रम करना पड़ता है। इतने पर भी.........'

ओह, बड़ा भयानक समय आ गया है!......लज्जावती ने दुःख की एक लम्बी साँस खींचते हुये कहा।

'मकान वाले का दो मास का किराया बाकी है, इस बार वह नहीं मानेगा।

इस बार न मिलने से वह बड़ी आफत मचायेगा।—लज्जा ने भयभीत होकर कहा।

'क्या करूँ ? जान देकर भी इस जीवन से छुटकारा होता...।'

'ऐसा सोचना व्यर्थ है। घबड़ाने से क्या लाभ ? कभी दिन फिरेंगे ही।'

कल रविवार है, छुट्टी का दिन है, एक जगह दूकान पर चिट्ठी-पत्री लिखने का काम है। पाँच रुपये महीना देने को कहता था! घण्टे दो-घण्टे उसका काम करना पड़ेगा। मैं आठ माँगता था। अब मैं सोचता हूँ, कल उससे मिलकर स्वीकार कर लूँ। दफ्तर से लौटने पर उसके यहाँ जाया करूँगा,—कहते हुये विजयकृष्ण के हृदय में हल्की रेखा दौड़ पड़ी।

जैसा ठीक समझो।—कह कर लज्जा विचार में पड़ गई। वह जानती थी कि विजय का स्वास्थ्य परिश्रम करने से दिन-दिन खराब होता जा रहा है।

मगर रोटी का प्रश्न था!

❀ ❀ ❀

दिन, सप्ताह और महीने उलझते गये।

विजय प्रति दिन दफ्तर जाता। वह सब से बहुत कम बोलता। उसकी इस नीरसता पर प्रायः दफ़्र के कर्मचारी उस पर व्यंग करते।

उसका पीला चेहरा और धँसी हुई आँखें लोगों को विनोद करने के लिये उत्साहित करतीं थीं। लेकिन वह चुपचाप ऐसी बातों को अनसुनी कर जाता, कभी उत्तर न देता। इस पर भी लोग उससे असन्तुष्ट रहते थे।

विजय के जीवन में आज एक अनहोनी घटना हुई वह कुछ समझ न सका। मार्ग में उसके पैर आगे न बढ़ते। उसकी आँखों के सामने चिनगारियाँ झलमलाने लगीं। मुझसे क्या अपराध हुआ ?...कई बार उसने मन ही में प्रश्न किये।

घर से दफ्तर जाते समय बिल्ली ने रास्ता काटा था। आगे चलकर खाली घड़ा दिखाई पड़ा था। इसलिये तो सब अपशकुनों ने मिल कर आज उसके भाग्य का फैसला कर दिया था!

साहब बड़ा अत्याचारी है क्या गरीबों का पेट काटने के लिये ही पूँजीपतियों का आविष्कार हुआ है? नाश हो इनका...वह कौन-सा दिन होगा जब रुपयों का अस्तित्व संसार से मिट जायगा? भूखा मनुष्य दूसरे के सामने हाथ न फैला सकेगा?—सोचते हुये विजय का माथा घूमने लगा। वह मार्ग में गिरते-गिरते सम्हल गया।

सहसा उसने आँख उठाकर देखा, वह अपने घर के सामने आ गया था; बड़ी कठिनाई से वह घर में घुसा। कमरे में आकर धम से बैठ गया।

लज्जावती ने घबराकर पूछा—तबीयत कैसी है।

'जो कहा था वही हुआ।'

'क्या हुआ?'

नौकरी छूट गई। साहब ने जवाब दे दिया।— कहते-कहते उसकी आँखें छलछला गईं।

विजय की दशा पर लज्जा को रुलाई आ गई। उसकी आँखें बरस पड़ीं; उन दोनों को रोते देखकर त्रिवेणी भी सिसकने लगी।

संध्या की मलिन छाया में तीनों बैठकर रोते थे।

इसके बाद शान्त होकर विजय ने अपनी आँखें पोछीं; लज्जावती ने अपनी और त्रिवेणी की—।

क्योंकि संसार में एक और बड़ी शक्ति है, जो इन सब शासन करने वाली चीजों से कहीं ऊँची है—जिसके भरोसे बैठा हुआ मनुष्य आँख फाड़ कर अपने भाग्य की रेखा को देखा करता है।

श्री वाचस्पति पाठक

जन्मकाल रचनाकाल

१९६३ वि० १९८३ वि०

[श्री वाचस्पति का जन्म नवाबगंज काशी में हुआ। आप प्रारंभ ही से बड़े कुशाग्र बुद्धी के हैं। आपकी कहानियाँ भी स्वर्गीय प्रसाद जी की रचनाओं से प्रभावित हैं और उन्हीं की प्रेरणा से आपने हिन्दी क्षेत्र में पदार्पण किया। अब तक आपकी कहानियों के दो संग्रह 'द्वादशी' और 'प्रदीप' प्रकाशित हो चुके हैं। पाठक जी की कहानियाँ वास्तविकता पूर्ण तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मार्मिक होती हैं। साधारण घटना को भी अपनी रचना कौशल, तथा कला से प्रभावित बना देना आपकी लेखनी का सुन्दर चमत्कार है। इधर आपने कहानियाँ लिखना स्थगित कर दिया है। क्योंकि आपको हिन्दी-सम्बन्धी सार्वजनिक तथा स्वयं के कार्यों से अवकाश नहीं मिलता। आप बड़े उद्योग शील, चतुर और साहित्य के सुन्दर पारखी हैं। काशी-वासी होने के कारण विनोदी, सहृदय और हँसमुख व्यक्ति हैं।]

कागज की टोपी

एक छोटी-सी झोपड़ी है। रात के आठ बज गये हैं। उसमें दीपक नहीं जला है। आकाश में जो चाँद उगा है, उसी का धूमिल प्रकाश, इस झोपड़ी में दो प्राणियों के मलिन चित्र दीवारों पर अंकित कर रहा है एक तो बुढ़िया, जिसकी उमर ५० से कम नहीं है दूसरा जो सोया हुआ है, वह पाँच-छ वर्ष का बच्चा है। वह उस बुढ़िया के जवान बेटे का बेटा है। यही—ठीक इस झोपड़ी के मलिन चित्र की तरह—उस बुढ़िया का आधार है। इस झोपड़ी में बस यही दो, चित्र और ये प्राणी—शेष और सब, जो होना चाहिये, कुछ भी नहीं दीखता है। सब जैसे अन्धकार में लुप्त हैं; पर सच तो यह है कि उनके पास कुछ है ही नहीं। काल ने ठीक उन्हें वैसे ही विचित्र कर दिया है।

बुढ़िया शाम ही को गाँव के कई घरों में घूम कर अपने बच्चे को खिला आई है। अपने खाने के लिये भी उसके आंचल में कुछ भुना हुआ दाना बँधा है; पर इस शीत की रात में वह पहले बच्चे को सुला देना चाहती है। उसके गल कर सिमटे हुये पेट में भूख न भी हो; तो कुछ आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वह उधर कुछ भी ध्यान न देकर बड़ी तल्लीनता से लोरियाँ गुनगुना रही है। बच्चा अभी सोया नहीं है। उसकी स्निग्ध उज्ज्वल दो बड़ी आँखें अपनी गम्भीर नीरवता में स्तब्ध हैं।

वह बच्चा शाम को जितने भी घरों में दादी के साथ घूमा है, सभी जगह उसने एक ही चर्चा सुनी है। सब ने उसकी दादी से चन्द्रग्रहण में चलने के लिये बातें की हैं। जब वह अपनी दादी की गोद से अलग होकर खेलने के लिये लड़कों की पंगति में गया, तब उनमें से कोई भी उसके साथ प्रति दिन का चिर-परिचित खेल नहीं खेल पाया है। उन सब ने उससे अनजानी ही बातें की हैं। सब अपने उत्साह में रहे हैं कौन खिलौने, बाजा, कपड़े और टोपियाँ लेगा इसी की सूचना से सबने उसे

निहाल कर दिया है। इस बालक के मन में ऐसी चिन्ता कभी उदय नहीं हुई है। वह विकल हो गया है।

बुढ़िया लोरियों की मधुरता में और लड़का अपने विचारों में लीन है। वे एक दूसरे से अपने में एक दम अलग हो रहे हैं; पर, बच्चा अपने विचारों की गुत्थियों को अकेले नहीं सुलझा पाता है। वह दादी को पुकारता है......दादी !......ओरी दादी !

दादी लोरी बन्द कर देती है, वह उत्सुकता से पूछती है,—हाँ, क्या है बेटा ?

कहाँ ग्रहण लगेगा दादी ?—वह पूछता है, —लल्लू, छैल, मिन्नी और वह छोटी भी कहती है कि वहाँ जायँगे ?

बुढ़िया के मुँह पर स्नेह चमक रहा है। वह उसकी बातें सुन कर घबरा जाती है। वह निराश स्वर में कहती है।—बनारस में। यहाँ से बड़ी दूर पर ग्रहण लगेगा।

लड़के को इतने से सन्तोष नहीं होता है। वह बड़े आश्चर्य से पूछता है—तो फिर मिन्नी और छोटी कैसे जायँगी ! वह कहती हैं—हम वहाँ खिलौने लेंगे—कपड़े लेंगे।—कह कर वह बुढ़िया की ओर बड़ी उत्सुकता से देखता है। वह चुप रहती है। उससे लड़के का कुतूहल बढ़ता है। फिर वह पूछता है—तो क्यों दादी, सचमुच वहाँ खिलौने मिलते हैं ?

मिलते होंगे बेटा !—उसकी उत्सुकता से वह निराश हो रही है। उसके मन में एक अस्पष्ट चित्र उदय हो रहा है। वह खीझ कर बोलती है—वहाँ बड़ी भीड़ होती है जाड़े के इस रात में वहाँ सब नहाते हैं, बस और कुछ नहीं होता।—वह अपना विरोध प्रकट करने के लिये एक दीर्घ श्वाँस छोड़ कर चुप हो जाती है।

लड़के का आश्चर्य और बढ़ जाता है। वह और आतुरता से पूछता है—बड़ी भीड़ होती है ?

और क्या !---वह क्षोभ से भर कर कहती है---ऐसी भीड़ होती है, कि कितने दब जाते हैं ! एक दूसरे पर गिर कर मर जाते हैं ! और बेटा एक दूसरे से छुट कर उस भीड़ में भूल जाते हैं !—बुढ़िया की आँखों में आँसू भर आते हैं, वह भरे हुये कण्ठ से कहती है—फिर भला हम वहाँ कहाँ जायँगे ? मेरे बच्चे, तू मेरी गोद से छूट जायगा ! तुझे कैसे सँभालूँगी ?—वह उसे गोद में उठा लेती है, चूमती है। उसकी आँख से आँसू की दो बूँदें बालक के सिर पर गिर जाती हैं। वह उसे अपने आलिंगन में चिपटा लेती है।

बालक के चिपकने से उसके प्रेम में उफान आ रहा है। वह जैसे लय हुई जा रही है। वह बच्चा इसे जैसे उसके प्यार का बन्दी होकर समझ रहा है। उसे राह नहीं मिल रही है। वह जैसे मुक्त होने के लिये पूछता है—तब, हम न चलेंगे दादी ?

उसकी इस निराश वाणी में बुढ़िया का हृदय कसक उठता है। अब उसके हृदय की इच्छा का दमन उससे नहीं हो सकता, उसके लिये वह सब कुछ कर सकती है। वह एक नवीन उत्साह से पूछती है—तू चलेगा बेटा ?.........अच्छा मैं जरूर चलूँगी; और सब जायँगे तू ही न जायगा ! मैं तुझे जरूर लिवा ले चलूँगी। मेरा राजा !.........मेरा बेटा !---वह उसे चूमती है। दोनों हँसते हैं। दोनों प्रसन्न हैं। फिर दोनों, परस्पर विश्वास रख कर सो जाते हैं।

(२)

बालक अब उसे दिन-भर में तंग कर रहा है। हर बार, प्रत्येक समय वह एक ही बात करता है, उसे आश्वासन मिलता है, विश्वास होता है; पर फिर वह उसी की गाँठ बाँध लेना चाहता है। उसकी रट कम पड़ती ही नहीं है। गाँव के चलने वाले और बालकों के पास भी

वह दौड़-दौड़ कर जाता है। वह अब किसी से कम नहीं है। इसी विश्वास से वह सब को देखता है।

उसकी दादी संकोच में गड़ी हुई है। वह पहले अपने आप ही चलने की नितांत अनिच्छा प्रकट करती रही है। अपनी गरीबी में, जीवन-यापन से अधिक के लिये उसे किसी के सिर बोझ बनना कभी पसन्द नहीं हुआ है। और फिर काशी में—पुण्यकार्य में......! अपनी इच्छा को मसल कर वह इसी से अपने को बचाती गई। पर, अब वह वैसा नहीं कर सकती है। वह उद्विग्न है। सब से विनय कर रही है। एक बुढ़िया को काशी नहलाने का पुण्य लाभ!—हाथ जोड़ कर—वह गाँव भर को बता आई है। उन्हीं लोगों के विश्वास पर वह जा रही है। अब मरने के पहले उसकी जैसे यही साध है। सब के साथ वह भी उत्साह दिखा रही है। उसके भी मन में उमंग है।

सब के साथ वह भी तैयार हो गई है। उसने अपनी पोटली सिर पर रख ली है और बच्चे की अँगुलियाँ उसके हाथ में हैं। अपने सब साथियों के पीछे उसने अपना मार्ग पाया है। उसकी निरीहता में जैसे उसका यही स्थान है। ।उस लड़के ने जैसे और सब उसका खो दिया है। वह अब जैसे एक धुन है। वह अपने ही मन में लीन, मौन और निर्विकार बन गई है। साथ की स्त्रियाँ गीत का स्वर निकाल रही हैं, पर लड़का मानता नहीं है। वह रह-रह कर उसे खींचता है, बढ़ता है। वह एक से दूसरे लड़के के पास पहुँच जाना चाहता है। सब देखें—वह भी चल रहा है। उसकी दादी नहीं पहुँच रही है! अच्छा......! वह लल्लू को पुकारता है, छैल से बातें करता है।—छोटी! छोटी......! लो सब चीखने लगे हैं। मातायें घबरा उठती हैं। डाँट पड़ती है। मार की नौबत आ गई है। कितने डर दिखाये गये हैं। थोड़ी सी शान्ति होती है, फिर वही—सब जैसे गीत के प्रवाह में कल कल कर बह रहे हैं।

(३)

लड़के ने जैसे बड़ी प्रतीक्षा की है। अब उससे होने की नहीं है। इस विशाल नगर में आकर उसका धैर्य्य वृक्ष के कोमल पत्ते की तरह काँपने लगा है। उसका लोभ सर्वग्रासी मुँह फाड़ कर खड़ा है। उसकी बुद्धि काम नहीं दे रही है। वह रह-रह कर चिल्लाता है, अनुनय करता है—दादी तूने मुझे कुछ नहीं ले दिया,—ऊँ, ऊँ, ऊँ।

वह कहती है----अब तू दिन भर रोयेगा ?

वह तनिक ही चुप होता है। फिर कहता है—दादी, मुझे भी मिठाई दिला दे !

आह, तूने गजब कर डाला रे !—दादी उसकी बात सुन कर चीख उठती है—यह नई आदत सीखी है ?

बालक डर जाता है। उसने अपनी दादी से कभी फटकार तो पाई नहीं है। उसकी डाँट से वह जैसे अपमानित होता है। लज्जा से अभिभूत होकर वह दादी की गोद में छिप जाता है। वह अब जैसे कुछ नहीं बोलेगा।

बुढ़िया इसे समझ रही है, वह कहती है—बेटा ! अभी तू ने गुड़ खाया है न ? वही तो मिठाई है, तू नाहक जिद करता है। इतने पैसे मेरे पास कहाँ हैं ? ले यही तो मेरे पास पैसे हैं, इनसे जो चाहे तू ले।--कहकर बुढ़िया अपनी गाँठ खोल रही है; ।पर बच्चा उसे रोकता है।----ना-ना, तू ही ले देना।—वह अभी अपने को उसकी गोद में ही छिपाये रखना चाहता है।

उसी समय शहर चलने की तैयारी हो गई है। लाल, पीली और काली बूटियों की चादरें ओढ़े उन औरतों का गरोह, जैसे रंग बिरंगी तितलियों का झुण्ड है। उसके पीछे बुढ़िया भी किसी सूखे वृक्ष के ठूँठ की तरह लगी है। ।जिसे छोड़ कर वे उड़ी जा रही हैं। उसकी आँखें विस्मय से विमुग्ध हैं। नगर उनके लिये अलौकिक सत्ता है। जिसको

उनको कल्पना इन्द्रलोक बना देती है। बच्चे और भी प्रसन्न हैं। घोड़ा, गाड़ी, मोटर और साइकिलें—इनकी पों-पों और टुन-टुन कितने गजब हैं। वह उछल रहे हैं। मोटर से कीचड़ उछल कर पड़ने पर भी सब हँस रहे हैं! कैसा अच्छा यह उनका आश्चर्य और भाग्य है!!

बाजार में पहुँचकर खरीददारी शुरू हो गई है। वे कुछ इधर, कुछ उधर दुकानों पर हो रही हैं। शहर की चीजें, ला-जवाब चीजें, वे ले रही हैं। बच्चे अलग अपने मन की चीजें देख कर शोर कर रहे हैं। तब तक एक एक बच्चा चिल्लाता है—देख-देख मेरी टोपी!—उसकी सुनहले तारों से चमचम चमकती हुई टोपी है।

बुढ़िया की गोद में लड़का अप्रतिभ हो गया है। उसकी आँखों में आँसू भर आये हैं। वह दादी की गोद से शून्य दृष्टि से देखता है, भय से कुछ कहना नहीं चाहता है। दादी के मुख की पीड़ा को वह जैसे समझता है! इसीलिये वह अपनी आह को दबा कर दूसरी ओर देखने लगता है। एक ओर देख कर कहता है—अहा.........ओ दादी! वह देख! कैसी अच्छी लाल हरी टोपी!

दादी देखती है। एक आदमी लाल-हरी कागज की टोपियों को छतरी-सी लिये खड़ा है। वह रह-रह कर बोल रहा है----ले लो, ये लाल हरी टोपियाँ, तीन-तीन पैसे में। बुढ़िया यह सुन जैसे उत्साह में आ गई है। वह उसे ले रही है। बच्चा मुग्ध हो रहा है। दादी ने अपनी-छोटी सी गाँठ खाली कर दी है। उसे टोपी पिन्हा कर वह जैसे उससे अधिक पा गई है। बहुत अधिक लाभ में जैसे प्रसन्न है। वह चुप है। आनन्द-विभोर है। वह केवल प्रसन्न दृष्टि से उसे देख रही है, बच्चा जैसे श्रीमान् है। वह जैसे आज उसका नहीं है। बहुत दूर से----बहुत चाहने, प्यार करने पर, आज उसका बनकर आया है। ऐसा प्यार! वह अकिं-चन कुछ न बोलेगी। केवल अभी दृष्टि भर देख तो ले। वह उसे प्रसन्न कर सकी है। वह गर्व-स्फीत है।

बच्चा कैसा सच का राजा है। अभिमान से भरा है अब वह किसी की ओर नहीं देख रहा है। वह अपनी कागज की टोपी लगाता है, उतारता है, देखता है, छाती से चिपकाता है, हँसता है। वह अपने ही में प्रसन्न हो रहा है। वह लाल-हरी टोपी उसकी आखों को रंगीन कर रही है। रोशनी के प्रकाश में उसके कपड़े को रंगीन कर रही है। वह देखता नहीं है, उसके मुख को भी रंगीन कर रही है। वह वैसा ही प्रसन्न है। अब वह अपने में ही चीखता है, हँसता है और बातें करता है। वह उसी में भूल गया----रम गया है।

(४)

बुढ़िया सब से अलग पड़ गई है। उसका साथ छूट गया है। वह स्तम्भित हो गई है। इस अपरिचित जन-समूह में अब वह अकेली है। अब, आह......आँधी-सी चलने लगी है। ऊपर आकाश में बादल धीरे-धीरे गुडुम-कुडुम कर रहे हैं। उसका मन भीतर-बाहर हो रहा है। उसे बच्चे को बचाना है। उसकी व्याकुलता उसी के लिये बढ़ रही है। उसे कहीं स्थान नहीं है। वे ऊँचे-ऊँचे महल, उनके आदमी, उसकी कहीं पहुँच नहीं है। आशा नहीं है। वह विपद में फँसी है। वह 'अस्सी' की ओर बढ़ रही है। वहीं वह ठहरी थी। अब भी वहीं जाकर रुकेगी, वह बच्चे को छिपा कर भाग रही है।

वह भाग रही है। जल्दी में है। बच्चे को सँभाल रही है। बच्चा उसकी उद्विग्नता नहीं समझता है। वह रह-रह कर अपनी टोपी उसे दिखा देना चाहता है। उसकी ऐसी अच्छा टोपी, उसकी दादी मजे में देख तो ले; वह व्याकुल है। उसकी तृप्ति असन्तोष में ढल रही है। वह अधीर होकर पुकार उठता है----दादी !......

दादी बोलती नहीं है। उसे चिपकाये जा रही है। सर्दी की रात है। हवा है। बादल है। इन सब का रूप उसके मन में एक दुनिया

बन गई है। जिसमें वह अकेली भाग रही है। और सब जैसे उससे मुक्त हैं। उसकी आँखों के सामने का सारा दृश्य जैसे उस दुनिया के बाहर है' जहाँ से उसके लिये कोई आशा, सहानुभूति, प्रेम और करुणा नहीं है। वह सब से अलग है। है झर...झर...झर...बड़ी बूँदों की झड़ी लग गई है। वह भींग उठी है। बच्चे के कपड़े गीले हो गये हैं।

बच्चा भींग गया है। दादी की छाती में छिपे रहने पर भी उसके सिर मे पानी चू रहा है, उसके लटीले बालों से फिसल कर छोटी छोटी बून्दे चू रही हैं, जिनमें टोपी का रंग धुल रहा है। टोपी भींग कर लत्ता हो चली है। बालक उसे सिर पर और दबाये जा रहा है; जैसे अपनी चिर संचित साध को उस झड़ी से बचा रहा है।

'अस्सी' का घाट सूना पड़ा है। पानी आकर निकल गया है; पर बादल अब भी आकाश में छिटके हैं उनके बड़े-बड़े टुकड़े घूम-घूम कर चाँद को घेर रहे हैं। उस अन्धकार में गैस की बत्ती अपनी रोशनी चुप चाप जमीन पर गिरा रही है। सारा मैदान विधवा के हृदय की भाँति शून्य और धूमिल है। उसके सब साथी दूर न जाने किस कोने में पड़े हैं उस मैदान के एक असहाय छोर में मलिन, निरीह और टूटी-स्मृति-सी बुढ़िया पड़ी है। उस पर एक पेड़ की छाया है। वह वहाँ अपने को अकेले देख रही है। बच्चे का शरीर भींगने पर भी उसे गर्म मालूम पड़ रहा है। उसका मन और भी बैठ रहा है। घरों में---छायाओं में न जाने कितने आदमी भरे पड़े हैं। सबकी साँस उसे जैसे स्पर्श कर जाती है। वह अपने मन में समझती और कानों से सुनती भी है; पर वह उन तक जा नहीं पाती है। उसकी निरीहता को कहीं शरण नहीं है। साहस के अभाव ही में वह मौन है।

पीपल के पेड का सहारा लिये वह पड़ी है। वह थक गई है। अपने शरीर को उसने एकदम छोड़ दिया है। उस गीले में वह सो भी नहीं सकती। वह शिथिल होकर और भी अवसाद में बही जा रही है।

हवा नहीं चल रही है, फिर भी पीपल के घने पत्ते हिल रहे हैं----चमक रहे हैं। उनका शीतल स्पर्श उसके मन को कँपा जाता है।

बच्चे की देह जलते तवे-सी लाल है। सम्पूर्ण शरीर में खून के रवे जैसे फूट पड़े हैं। वह अपने उत्साह की दौड़ में शिथिल हो गया है। वह वहाँ से बढ़ भी नहीं पाता है। दादी उसे जकड़े हुये पड़ी है। इसी से जैसे क्षोभ में अवसन्न है। उसके हृदय पर वह बन्धन जैसे पहाड़ बन कर भार दे रहा है। वह ऊब रहा है। एक कांपती आवाज निकलती है----दा...दी !

हाँ----वह आह भर कर कहती है----क्या है लाल !—वह अपने गीले कपड़ों के घेरे के भीतर झाँक कर बड़े कातर स्नेह से उसे देखने लगती है।

बच्चे को जैसे सहारा मिल जाता है। वह अपनी मन की गाँठ खोल कर धीरे से कहता है----मेरी अच्छी टोपी, दादी !----उसने अपनी टोपी सिर पर दबा ली है।

बुढ़िया के मुँह से 'हाँ' भी नहीं निकल पाता है। उसका हृदय जैसे चिर गया है। बालक के काले हो रहे होठों पर बिखरी हँसी उसके कलेजे में और भी तीर बन कर धँस गई है। वह उसी पीड़ा में एक क्षण उसे देखती है, फिर उत्तर में केवल सिर हिला देती है, और-और भी जकड़ कर उसे अपनी गोद में छिपा लेती है।

बुढ़िया अपने क्लान्त शरीर में बेसुध हुई पड़ी है। उसकी पीड़ा में एक ही कल्पना सिसक रही है—मेरी अच्छी टोपी.........! अभी दो क्षण पहले की देखी, सिकुड़ी, धुले हुये रंग की पिचकी-पिचकी टोपी, पहले-सी नई बन कर उसके भावों में रंग भर रही है। सचमुच वह उसी नशे में पड़ी है। उसके हाड़ों की ठठरी को पवन हिला देता है। वह जग जाती है। फिर भी बच्चे की प्रसन्नता की निधि, वह लाल-हरी टोपी, उसे ढँक लेती है।

बच्चे का प्यार लुट गया है, इसी से वह लुट गई है। वह पीड़ा में डूब गया है इसी से वह डूब गई है। वह बेहाल है, अशक्त है, असहाय है, मौन है, जल रहा है।—काँप रहा है; इसी से उसकी दादी बेहोश है, निरीह है, निरवलम्ब है, चुप है, मर रही है—हिल रही है। वह अपने में नहीं है—खो गई है। रात भींगे पैरों भगी जा रही है।

पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। उस प्रशान्त नीरवता के हृदय की धड़कन जैसे बढ़ रही है। 'ठक' की आवाज होती है। कोई सामने आकर जैसे खड़ा हो जाता है। ओह.........वह लम्बे लबादे में काली झब्बेदार पगड़ी से लैस हाथ की लम्बी मोटी लकड़ी पर अकड़ दिये एक सिपाही खड़ा है। उसे इस सुन-सान रात में भगती हुई नदी की जलधारा को देख कर जैसे 'ठक' मार गया है। वह निश्चिन्त और सुखी है। उसने बुढ़िया की ओर देखा भी नहीं; पर वह एक बार फिर काँप गई है।

अब रात छिप चली है। ऊषा की राह में बादलों की लाल पहाड़ियों को बेध कर, सुनहली किरणें जल पर निकल आई हैं। उसकी गोद में उसका बच्चा काला पड़ गया है। बुढ़िया की पलकें जैसे गिरने लगी हैं, पर वह स्वयं लुढ़क जाती है, जैसे—प्रभात के लिये पाँवड़े बिछा गई है।

——

श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह

जन्मकाल रचनाकाल

१९६० वि० १९८१ वि०

[श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह प्रयाग निवासी हैं। आप में कहानी लिखने की सुन्दर कला है। पिछले २० वर्ष से आप कहानियाँ हिन्दी में लिख रहे हैं। आपने स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी की शैली को अपनाया है। संसार में जीवित प्राणियों, घटनाओं तथा समस्यायों को चित्रित करने में आप में अद्भुत और आकर्षक प्रतिभा है। कल्पना तथा भावुकता से पूर्ण कहानियाँ आपने नहीं लिखी। सब से पहले आपका 'मंच' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की लेखन शैली और चरित्र-चित्रण से आपकी प्रतिभा का पता हिन्दी-संसार को चला। तब से आप बराबर साहित्य के इस अंग की पूर्ति में लगे हैं। आप अंग्रेजी के भी सुन्दर लेखक हैं। कहानियाँ अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती रहती हैं। कई वर्ष तक आप 'लीडर' तथा 'माया' के सम्पादन विभाग में काम करते रहे हैं। आप बड़े शिष्ट और गम्भीर हैं तथा चुपचाप साहित्य सेवा करने वाले व्यक्ति हैं।]

अन्तर्द्वन्द

अनन्त दिशाओं में विचरण करनेवाला पक्षी जब पिंजड़े की परिमित सीमा में क़ैद कर दिया जाता है, तो उसे कुछ दिनों तक तो अपने गये-बीते समय की याद सताती ही रहती है। वह हर समय तड़पता रहता है, पर मारता है, सिर पटकता है; किन्तु लोहे की तीलियाँ जैसी की तैसी निश्चल खड़ी रहती हैं। दाने और पानी की कुल्हियाँ हर समय भरी रहती हैं, वह उनकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं। फिर शनैःशनैः दिन बीतने लगते हैं, स्मृतियाँ विस्मृति में विलीन होने लगती हैं। धीरे-धीरे वह उसी पिंजड़े को अपना घर समझने लगता है। उसे अन्न-जल आकृष्ट करते हैं, और शरीर में शक्ति का सञ्चार होते ही, मुर्झाया हुआ हृदय फिर लहलहा उठता है। तब उसके गानों से पिंजड़े के तार हिल उठते हैं।

कमला के साथ भी ठीक यही बात हुई। विवाह होते ही पहले कमला दाम्पत्य-जीवन के सुखद स्वप्न देखा करती थी। उसके कल्पना-सम्पन्न मन में जिस भव्य भवन का निर्माण हुआ था, वह ऐश्वर्य-पूरित था, उसकी सभी बातें अनोखी थीं। उसमें रहनेवाले जीव संसार के साधारण प्राणी न थे। कमला ने सोचा था, वह उस भवन की स्वामिनी होगी, और स्वामी के अगाध स्नेह और आदर की अधिकारिणी। किन्तु विवाह के बाद ससुराल आकर उसे ज्ञात हुआ कि संसार को नव-यौवन की रँगीली आँखें जैसा देखती हैं, वास्तव में वह वैसा नहीं। उसकी आशाओं और उमङ्गों पर पानी फिर गया। ससुराल की कोई बात उन स्वप्नों से न मिलती थी, जिनकी सृष्टि में उसने अपनी सारी कल्पना-शक्ति खर्च कर दी थी। उसका घर एक साधारण घर था, और उसका स्वामी वह था, जिससे मिलने के विचार ही से उसका हृदय घृणा से भर जाता था यह बात न थी कि बाबू हृदयनारायण दरिद्री हों। नहीं,

आपकी गणना जिले के सुप्रसिद्ध वकीलों में थी, और आप कमाते भी यथेष्ट थे। किन्तु आपके और कमला के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर था। कमला जिन संस्कारों में पल कर बड़ी हुई थी, बाबू साहब पर उनकी छाया भी न पड़ी थी। कमला ने मायके में एक बात सीखी थी—धन मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधनमात्र है। किन्तु बाबू साहब इस सिद्धान्त से सहमत न थे। वह धन को आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन ही नहीं, उपासना की वस्तु भी समझते थे।

मायका विशेष सम्पन्न तो न था, किन्तु वहाँ कमला को वे सभी सुख थे, जो साधारणतया लड़कियों को माता-पिता के घर प्राप्त होते हैं। अपने माता-पिता की अकेली बेटी होने के कारण मायके में कमला का विशेष मान था। उसे पूर्ण स्वतन्त्रता थी, उसकी इच्छा-शक्ति पर किसी दूसरे का आधिपत्य न था। किन्तु ससुराल में परिस्थिति और थी। यहाँ स्वतन्त्रता नहीं, पराधीनता थी!

एक स्त्री को किसी दूसरी स्त्री के आधिपत्य में रहने से जितना कष्ट होता है, उतना कदाचित् किसी दूसरी बात से नहीं। ससुराल में कमला के अतिरिक्त कोई दूसरी स्त्री न थी। फिर भी वह घर की स्वामिनी न थी। पतिदेव की राय के बिना उसे कोई काम करने का अधिकार न था। हृदयनारायण अपने स्वामित्व के अधिकारों से पूरा-पूरा लाभ उठाये बिना कैसे रह सकते थे? उनकी शास्त्र-नीति में 'कुछ ले, कुछ दे' के सिद्धान्त के लिये स्थान न था। वह ले सब कुछ सकते थे, दे कुछ नहीं।

हृदयनारायण के स्वभाव में सुरुचि का अभाव था, एक वेश-भूषा की ही बात ले लीजिये। आपका कोई वस्त्र ऐसा न था, जो अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ न गिन रहा हो। पुराने कपड़े यदि साफ़ हों, तो इतने बुरे नहीं लगते। किन्तु विधि-वाम ने कपड़ों के भाग्य में सुख न लिखा था। वे पसीने से तर हो जाते, उनसे दुर्गन्ध निकलने लगती;

किन्तु धोबी का घर देखने का अलभ्भ सौभाग्य प्राप्त होने में विलम्ब होता ही रहता। जब हृदयनारायण की स्वयं अपनी दशा यह थी तो फिर स्त्री का 'सँवार-सिङ्गार' आप किन आँखों देखते ? 'सँवार-सिङ्गार' में क्या फ़िजूल-खर्चों नहीं होती ? सादगी क्या अवगुण है ? फिर हृदय-नारायण अपनी स्त्री को उस मार्ग पर कैसे चलने देते, जिसमें तबाही थी—केवल तबाही थी ! माना, कि वह मायके से यथेष्ट ग ने-कपड़े लेकर आई थी। लेकिन रोज-रोज पहनने से क्या वे खराब नहीं होते ? फिर उन्हें दुरुस्त कराने में क्या कुछ खर्च नहीं होता ?

अपने (चिर-सञ्चित) स्वप्नों का इस प्रकार खून होता देख कर कमला रो पड़ी। घर काटे खाता था। उसका चित्त हर समय मुर्झाया हुआ सा रहता, किसी से बात-चीत करना अच्छा न लगता। अन्न-जल से अरुचि होने लगी। जीवन से भी अरुचि होने लगी।

शनैः शनैः दिन बीतने लगे। जब कमला का स्वभाव पति के स्वभाव से लड़ते-लड़ते पूर्णतया शिथिल हो गया, तो प्रति-क्रिया का आरम्भ हुआ। घर की काट खानेवाली प्रवृत्ति स्वत मन्द पड़ने लगी। धीरे-धीरे वह उस घर से हिल-मिल गई और वहाँ के जीवन से भी। नारी-सुलभ समर्पण की सद्वृत्ति ने पुरुष के रौद्र-रूप के सम्मुख सिर झुका दिया।

(२)

दिन का तीसरा पहर था। एक मैली सी साड़ी पहने हुये कमला शयनागार में पलँग पर लेटी हुई, गा गाकर रामायण पढ़ रही थी। खुली हुई खिड़की से आती हुई मधुर समीर उसके खुले हुये बालों से खेल रही थी।

करत बतकही अनुज सन, मन सियरूप लुभान।
मुख सरोज मकरन्द छबि, करै मधुर इव पान।

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गये नृपकिशोर मनु चिंता॥
....
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥

अन्तिम दोनों पंक्तियों को कमला बार-बार दोहराने लगी—हाँ, इस तरह दोहराने लगी, जैसे आध्यात्मिक आह्लाद से विभोर होकर क़व्वाल ग़ज़लों के एक एक शेर को सौ-सौ बार दुहराते हैं। हाँ—

"लोचन मग रामहिं उर आनी,
दीन्हें पलक-कपाट सयानी।
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी,
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥"

अनिर्वचनीय आनन्द से कमला का रोम-रोम थर्राने लगा। हृदय का टिमटिमाता हुआ दीपक फड़कने लगा,—हाँ, सैकड़ों लपटें इधर-उधर फेंकने लगा। भावावेग से कमला की आँखों में आँसू छलक आये।

हाँ,—

"लोचन मग रामहिं............

इसी समय सहसा किसी ने बाहरी बैठक का दरवाजा खटखटाया। कमला ने आँखें पोंछ डाली, रामायण बन्द कर के एक ओर रख दी, पलँग से उतर कर खड़ी हो गई, साड़ी ठीक की, फिर सीढ़ियों से नीचे उतर कर दरवाजा खोलने चली। दरवाजे के समीप पहुँचने पर उसे दो आदमियों के बात-चीत करने की आवाज सुनाई दी। उसमें से एक आवाज तो उसके पति की थी, किन्तु दूसरी किसी अपरिचित की। दो-

तीन क्षण कमला उस अपरिचित आवाज को पहचानने की कोशिश करती रह गई, फिर कुछ निराश होकर उसने दरवाजा खोला, और शीघ्रता से भीतर चली गई।

सहन में खड़ी हुई, जमीन की ओर ताकती हुई, कमला उसी अपरिचित की आवाज की बात सोच रही थी। वह कण्ठ-स्वर इस समय भी उसके कानों में गूंज रहा था। वह अपरिचित कौन है?—हाँ, वह कौन है?

सहसा बैठक का दरवाजा खोलकर हृदयनारायण ने सहन में प्रवेश किया, और उनके पीछे उस अपरिचित ने। कमला अपरिचिति की ओर देखने लगी, अपरिचित कमला की ओर। अपरिचिति की आयु २७ या २८ वर्ष की जान पड़ती थी। उसका रंग गेहुँआँ था, और उसके सुगठित शरीर पर अंग्रेजी वस्त्र कसे थे। यों तो उसके मुख-मण्डल पर गाम्भीर्य झलक रहा था, किन्तु यह विचित्र बात थी उसकी आँखों के कोनों में विनोद नृत्य करता दिखाई देता था। कमला उस विचित्र नवागन्तुक के चेहरे की ओर कई क्षण देखती रह गई, फिर उसने आँखें नीचे झुका लीं, और सिर से साड़ी खिसका कर मुख ढाँक लिया।

हृदयनारायण ने छेड़ने की गरज़ से कहा—"यह आपने घूँघट क्यों निकाल लिया?"

अपरिचित—"(हँसकर) और क्या करतीं? भाभी, आप इनके कहने में न आइये, और बड़ा घूँघट निकाल लीजिये। कहीं मेरी नज़र न लग जाय?"

हृदयनारायण ठट्ठा मारकर हँसने लगे। "हाँ, भाई यह डर तो है! हा—हा—हा। तुम्हारी नज़र तो बुरी ज़रूर है! हा—हा—हा!"

जब हँसी का वेग कम हुआ तो हृदयनारायण ने कमला से कहा—"तुम इन्हें नहीं पहचानतीं क्या? यही वह साधू बाबा हैं, जो शादी

नहीं करते, और कई साल से घर-बार छोड़कर देश-विदेश घूमा करते हैं। गोपाल का ज़िक्र तो मैंने तुम से अकसर किया है?"

गोपालबिहारी—"साधू ,बाबा ! हा-हा-हा !"

हृदयनारायण—"और क्या, मैं आपको किसी साधू से कम समझता हूँ।"

"जी हाँ ! मानता हूँ ! हा-हा-हा !"

हृदयनारायण ने कमला से कहा—"इनके वास्ते कुछ नाश्ता-बाश्ता तैयार कर दो।" फिर—अच्छा, आओ गोपाल ऊपर चलें।

ऊपर शयनागार में पहुँचकर हृदयनारायण ने कहा—"बैठो, गोपाल।"

गोपाल ने टोपी और छड़ी एक खूँटी पर टाँग दी, और एक कोने में पड़ी हुई आराम कुर्सी पर जा लेटे।

कपड़े उतारकर हृदयनारायण ने कहा—"अच्छा, गोपाल, तुम यहीं रहो। अभी नाश्ता आता होगा।"

"और आप कहाँ जा रहे हैं?"

"मैं ज़रा नीचे जाता हूँ। अभी फ़ारिग़-वारिग़ होना है। फिर इसके बाद कुछ किताबें-विताबें देखनी हैं। कल एक बड़े मुकदमे के लिये तैयारी करना है"

"तो मैं भी नीचे चलता हूँ।"

"नीचे चलकर क्या करोगे ? यहीं रहो न। डर किस बात का है ! वह तुम्हें काट न खायेंगी !"

"अच्छा—काट न खायेंगी ? आपने फिर फ़िक़रेबाजी शुरू कर दी !"

"अच्छा, मैं जाता हूँ। अगर कोई बात हो, तो बुलाना!"

"अच्छा, जाइये, मेरे साथ भी मेरा खुदा है!"

हसते हुये नीचे उतरकर हृदयनारायण ने देखा, रसोई-घर में बर्तन सामने रक्खे हुये, कमला गम्भीर-भाव से बैठी हुई है। पति को देखते ही कमला ने चिटककर कहा—"कह तो बहुत देते हो—'नाश्ता बना दो, कभी यह भी देखते हो कि घर में कुछ है भी कि नहीं?"

पतिदेव ने नीति से काम लेते हुये कहा—आखिर क्या नहीं है?"

"कुछ भी तो नहीं है। न सूजी है, न चीनी है, न घी है। अब क्या बना दूँ—अपना सिर?"

"लाता तो मैं नित ही रहता हूँ। जब तुमसे सँभाल कर खर्च करते बने तब तो!"

"हाँ, हाँ मनों लाकर रख देते हो न!',

बहस करने की इच्छा अब अधिक न थी, इसलिये बाबू साहब एक कटोरी लेकर घर से बाहर निकले, और पड़ोस के एक आदमी को एक चवन्नी और कटोरी देकर बाज़ार से सामान लाने के लिये भेज दिया। तब जाकर पिण्ड छुटा।

एक दीर्घ निश्वास छोड़कर गोपाल बिहारी कमरे में इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगा। कमरे में सजावट तो विशेष न थी, किन्तु वहाँ की सफ़ाई-सुथराई और सुव्यवस्था देखकर गोपाल मन ही मन कमला की प्रशंसा करने लगा। एक उसका अपना स्थान था—जहाँ निरन्तर प्रयत्न करने पर भी इस सफ़ाई का शताँश भी नहीं दिखाई देता था! ये लोग कैसे सुखी दिखाई देते हैं?

इस तरह हृदयनारायण की ईर्ष्यणीय दशा की अपनी शोचनीय परि-स्थिति से तुलना करते हुये जब बीस-पचीस मिनट बीत गये, तो गोपाल

का जी कुछ ऊबने लगा। वह उठ खड़ा हुआ और पलँग से रामायण उठा कर फिर आराम-कुरसी पर जा लेटा। वन्द पुस्तक में एक स्थान पर बादामी कागज का एक टुकड़ा लगा हुआ देख कर गोपाल ने वहीं खोला! वही पृष्ठ खुल गये जिनके रस-पाश में अभी कुछ ही देर पहले कमला की आँखें उलझी हुई थीं। गोपाल ने पढ़ा—

"लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाय।
निकसे जनु जुग विमलबिधु, जलद-पटल बिलगाय॥"

फिर दो पृष्ठ उलटे, पलट कर पढ़ाः—

"कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि;
कहत लषन सन राम-हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं,
मनसा बिश्व बिजय कहँ कीन्हीं॥"

गोपाल के नेत्रों के सम्मुख उसी स्वर्गीय वाटिका का दृश्य खिंच गया वही पुष्प-राशि थीं, लताओं के स्नेह-पाश से बँधी हुई वृक्षों के झुरमुट में गिरजा का वही भव्य मन्दिर। कुसुम-दलों की वही मनो-मुग्धकारी भीनी-भीनी सुगन्ध, और—हाँ, 'कंकन-किंकिनि-नूपुर' की वही स्वर्गीय ध्वनि! आनन्द में विह्वल होकर, झूम-झूम कर गोपाल गुनगुनाने लगे—

"कंकन-किंकिन-नूपुर········"

इसी समय एक साफ़ धोती पहने, हाथ में हलवे की तश्तरी लिये हुये कमला ने शयनागार में प्रवेश किया। गोपाल का गुनगुनाना बन्द हो गया। रामायण बन्द करके उसने कुरसी के बांये हाथ पर रख दिया, उठ कर खड़ा हो गया और बोला—"यह आपने क्यों तकलीफ़ की, भाभी?"

कमला सिर नीचा किये हुये धीरे से बोली—"इसमें तकलीफ़ की कौन सी बात है, लाला ?"

पलँग पर बैठते हुये गोपाल ने कहा—"तो क्या बिना तकलीफ़ ही किये हलवा बन गया ?

"इसमें मुझे तकलीफ़ तो नहीं, बल्कि खुशी हुई।"

गोपाल का चेहरा खिल उठा। तश्तरी गोपाल के सामने रख कर और फ़र्श पर चटाई बिछाकर, कमला बैठ गई और धीरे से बोली—"खाइये, लाला ?"

गोपाल ने कृत्रिम अनिच्छा से कहा—"मुझे तो भूख नहीं है, भाभी। घर से खाकर चला था।"

"थोड़ा सा खा लेने में क्या हर्ज है ?"

"कुछ हर्ज तो नहीं है। अच्छा भाभी, मैं इस शर्त पर खा सकता हूँ कि आप भी खाइये।"

"नहीं लाला; मैं न खाऊँगी। आप खाइये।"

"तो फिर मैं भी न खाऊँगा।"

"आप क्यों न खायेंगे ?"

"आप क्यों न खायेंगी ?"

"मुझे भूख नहीं है, लाला।"

"मुझे भी तो भूख नहीं है।"

"आप तो इतनी दूर से आये हैं। सब पच गया होगा।"

"नहीं, भाभी, मैं इस तरह नहीं खा सकता। आप भी खाइये, तो खाऊँ।"

"अच्छा, लाला, मैं भी खा लूँगी।"

चुटकी में जरा सा हलवा लेकर कमला ने घूँघट के भीतर ही भीतर मुँह में रख लिया। थोड़ा सा खा चुकने के बाद गोपाल ने कहा—"जरा पानी दीजिये; भाभी।"

उँगलियों में घूँघट पकड़ कर कमला ने तश्तरी की ओर देखा, और आश्चर्य से कहा—"आपने तो कुछ खाया ही नहीं लाला; और खाइये।"

"बस बहुत खा लिया, भाभी, अब बिल्कुल भूख नहीं है।"

"सब तो तश्तरी में धरा है। आपने खाया ही क्या, थोड़ा सा और खा लीजिये, लाला?"

"अच्छा मैं एक शर्त पर खा सकता हूँ। बोलिये, मानियेगा?"

कमला के हृदय में एक अज्ञात आशा जोर मारने लगी। उसने दबी हँसी हँसते हुये कहा—"आप शर्त बहुत लगाते हैं, लाला! अच्छा बताइये तो क्या शर्त है।"

"अच्छा, सुन लीजिये। अगर आप घूँघट खोल दें तो आपकी बात मान सकता हूँ।"

"नहीं, लाला, यह न होगा।"

"तो मैं भी अब न खाऊँगा।

"खा लीजिये, लाला। क्या हर्ज है?"

"तो घूँघट खोलने में ही क्या हर्ज है?"

कमला हँसती हुई उठी, आलमारी से एक शीशे का गिलाश निकाला; फिर एक कोने में रखी हुई सुराही से पानी उँडेला। जल से भरा हुआ गिलास लेकर, जब गोपाल के समीप गई, घूँघट ठुड्डी से खिसक कर आँखों तक आ गया था। हाथ में हलवा लिये हुये, गोपाल चकित

होकर कमला के मुख की ओर कई क्षण देखता रह गया। फिर उसने कहा "भाभी, मुझे इस वक्त बड़ी खुशी हुई!"

कमला के कपोलों पर लाली दौड़ गई। उसने झुक कर गिलास एक ओर रख दिया, और चटाई पर बैठ कर पानदान सामने खींच लिया।

"सच कहता हूँ, भाभी, आप परदे के अन्दर चिराग़ छिपाये हुये थीं!"

कमला ने सरल आश्चर्य से गोपाल के मुख की ओर देखा।

इन वाक्यों में कमला के कानों ने न जाने क्या सुन लिया! उसके हृदय का आन्दोलन फिर बढ़ गया। उसमें अनिर्वचनीय आनन्द था और अविश्वास भी चेहरे पर फिर रंग आने जाने लगे। जल्दी से पान-दान खोलकर पान लगाने लगी।

हलवा खाकर, जल पीकर, पान खाकर, गोपाल रामायण उठा लाया, और पलँग पर बैठते हुये बोला----"मालूम होता है, भाभी, आपको रामायण पढ़ने का बड़ा शौक़ है?"

सिर झुकाये हुये, उँगलियों से अँगूठा दबाते हुये कमला ने कहा----"शौक़ तो जरूर है, लाला! जब मैं छोटी सी थी, उसी समय से रामायण पढ़ती हूँ। हमारी अम्मा को भी रामायण पढ़ने का शौक़ है।"

"शायद, आज आप बाल-काण्ड पढ़ रही थीं।"

"हाँ, जहाँ जानकी जी गौरी पूजा करने जाती हैं, और फुलवारी में रामचन्द्र जी से भेंट होती है।"

"मुझे भी रामायण पढ़ने में बड़ा मजा आता है।"

"लाला! कई जगह मेरी समझ में नहीं आया। जरा किसी दिन समझा दीजियेगा।"

हृदयनारायण ने हँसते हुये कमरे में प्रवेश किया, और बोले—"अच्छा, आप लोग इतनी ही देर में घुल-मिल गये! क्या बातें हो रही हैं? ज़रा मैं भी सुनूँ।"

गोपाल—"आपके सुनने लायक नहीं हैं"

"हा-हा-हा! अच्छा जनाब, न बताइये।"

हृदयनारायण और गोपाल में इधर-उधर की बातें होने लगी। कमला उठकर नीचे चली गई। थोड़ी देर के बाद अपनी सोने की कलाई-घड़ी देखकर गोपाल बोला-"छः बज गये! अच्छा भाई साहब, अब चलता हूँ।"

"बैठो, गोपाल, कहाँ जाओगे?"

"नहीं, एक साहब से मिलना है वादा कर चुका हूँ।"

"अच्छा तो अब जनाब कब तशरीफ़ लावेंगे?"

टोपी लगाकर, छड़ी संभालते हुये, गोपाल ने कहा—"आ जाऊँगा किसी दिन।"

"आखिर कब? दो महीने में—चार महीने में?"

"जिस दिन कहिये, आऊं।"

"मेरा तो कहना ही फ़िज़ूल है। मेरे साथ आपने जब-जब वादा किया, कभी पूरा नहीं किया।"

"अब आइन्दा आपको शिकायत का मौक़ा न मिलेगा।"

"देखिये।"

"अच्छा जाता हूँ भाई साहब। आदाब अर्ज़?"

"आदाब अर्ज़।"

हृदयनारायण ने पुकारकर कहा—"भाई गोपाल! ज़रा जल्दी ही किसी दिन आना।"

सीढ़ी पर खड़े होकर गोपाल ने उत्तर दिया---"अच्छा।"

नीचे रसोई-घर में कमला खाना बनाने की तैयारी कर रही थी। गोपाल ने कहा—"अब जाता हूँ, भाभी।"

"अभी क्यों जाते हो, लाला? खाना खाकर जाइयेगा।"

"नहीं, भाभी, जाता हूँ। एक बड़ा ज़रूरी काम है।"

"फिर कब आइयेगा?"

"जब कहिये, आऊँ।"

"कल आइयेगा?"

"अच्छा कल ही आऊँगा। आदाब अर्ज़।"

"खुस रहिये।"

दरवाज़ा खोलकर गोपाल बाहर चला गया। कमला शीघ्रता से उठकर दरवाज़े के समीप गई और किवाड़ों की आड़ से गली में जाते हुये गोपाल की ओर देखने लगी। जब गोपाल दृष्टि से ओझल हो गया, तो कमला ने एक लम्बी साँस खींचकर दरवाज़ा बन्द कर दिया। फिर वह धीरे-धीरे रसोई-घर में गई, लद-से फ़र्श पर बैठ गई, और घुटनों को करों से बाँधकर सहन की ओर शून्य दृष्टि से ताकने लगी। इस समय कमला की दशा ठीक वैसी ही हो गई थी, जैसी साल-भर पहले उस समय होती थी, जब वह मध्यस्त की ज्योतिर्मयी शांति में रजनी के नीरव अंधकार में, यौवन के स्वप्न देखती थी। ठीक वैसी ही तन्मयता थी, वही मनोन्माद।

(४)

दूसरे दिन गोधूलि के समय जब गोपाल ने हृदयनारायण के घर में फिर प्रवेश किया, तो उसके हाथ में 'कार्ड-बोर्ड, का एक बड़ा बक्स था, जिसमें वह चीज़ें थीं, जिनके विषय में गोपाल बहुत कम जानता था, और जिन्हें खरीदने में उसके कई घंटे खर्च हुए थे। सहन में पलङ्ग पर सामने लालटेन रक्खे हुये मुन्शी हृदयनारायण एक मोटे रजिस्टर में घर

का हिसाब लिख रहे थे। कमला, पलँग पर एक ओर बैठी हुई पतिदेव की सहायता कर रही थी। गोपाल को देखते ही, कमला पलँग से उतरकर एक ओर खड़ी हो गई। हृदयनारायण ने रजिस्टर बन्द करके एक ओर रख दिया, और आँखों से चश्मा उतारते हुये बोले---"आओ, गोपाल, आओ। अच्छे आगये। अभी तुम्हारा ही जिक्र हो रहा था।"

गोपाल ने पलँग पर बैठते हुये कहा —"मैं भी तो हाज़िर हूँ।"

गोपाल की बग़ल में बक्स देखकर हृदयनारायण ने पूछा—"इसमें क्या है यार?"

गोपाल मुसकराते हुये बोला---"आपके देखने की चीज़ नहीं है जनाब, यह भाभी साहबा के लिये है।"

हृदयनारायण ने लपककर बक्स छीन लिया, और खोलकर देखा---एक हल्के नीले रंग की रेशमी साड़ी थी, एक जैकेट, सुगन्धित साबुन की दो-तीन बट्टियाँ, 'यू डि कॉलोन' का एक बड़ी शीशी।

कृत्रिम गम्भीरता के परदे में प्रसन्नता छिपाते हुये हृदयनारायण ने कहा---"गोपाल; तुम्हारी फ़िज़ूल-ख़र्ची कभी न जायगी। आखिर इन चीज़ों की क्या जरूरत थी?"

"आपकी निगाह में ज़रूरत न रही हो, मेरी निगाह में तो थी।"

बक्स बन्द करके कमला के हाथ में देते हुये हृदयनारायण ने कहा---"लीजिये साहब, आपकी तो क़िस्मत खुल गई।"

बक्स लेकर कमला मुस्कराती हुई बोली---"इसकी क्या ज़रूरत थी लाला?"

गोपाल ने कुछ पीड़ित स्वर में कहा---"आपने भी वही सवाल किया भाभी?"

कमला दो तीन क्षण मूर्तिवत् खड़ी रही, फिर बक्स हृदय से लगाये हुये ऊपर शयनागार में चली गई। इस समय उसके आनन्द और संतोष की सीमा न थी। 'लाला को मेरा इतना ख्याल है!' पलँग पर

बैठकर, कमला ने बक्स खोला, और एक-एक चीज़ ध्यान से देखने लगी। साड़ी कितनी अच्छी है! सौ-डेढ़-सौ से कम की न होगी। जैकेट तो ऐसी उसने कभी देखी ही न थी। साबुन की एक बट्टी उठाकर सूँघी: कितनी मनोमुग्धकारी सुगन्ध थी! साबुन को बक्स में रखकर, कमला ने 'यू डि कॉलोन' की शीशी उठाई, और ऊपर की सजावट देखकर, ढक्कन खोलने लगी। बड़ी कोशिश के बाद ढक्कन किसी तरह खुला तो,लेकिन थोड़ा- सा 'लेविडर' छलककर कमला के आँचल पर गिर पड़ा। उस तेज़ खुशबू से उसका दिमाग़ भर गया। शीशी बन्द करके कमला ने बक्स में रख दी, फिर जैकेट देखने लगी। कितनी सजवाट है! लाला कितने उदार-हृदय हैं! एक वह हैं, कि ज़रूरी चीज़ के लिये भी झगड़ना पड़ता है। अगर लाला के साथ मेरा············! छिः कैसी ख़राब बात है! जैकेट हाथ में पकड़े हुये, मनोभावों से आन्दोलित, कमला खिड़की के उस पार देखने लगी। सुनील गगन से ज्योत्स्ना की निर्मल धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। इधर-उधर बिखरी हुई मेघमालाओं के परदों से निकल-निकल कर तारे झिलमिलाते और अदृश्य हो जाते थे। तारों के उसी प्रदेश में कमला के नेत्र विचरण करने लगे। किन्तु वह क्या देख रही है, कदाचित् उसे ज्ञात न था।

सहसा कोई बोल उठा--"भाभी!"

कमला झिझक कर साड़ी सँभालती हुई पलँग पर से उतर कर खड़ी हो गई। उसने देखा—गोपाल दरवाजे के सहारे खड़ा हुआ मुस्करा रहा है। पलँग पर बिखरी हुई चीजें हटाकर कमला ने कहा—"बैठिये, लाला।"

गोपाल कई क्षण, मूर्तिवत् खड़ा हुआ, कमला की ओर देखता रहा—इस तरह देखता रहा, जैसे प्यासा आदमी दूर झिलमिलाती हुई जल-पंक्ति की ओर देखता है; फिर होठों तक आये हुये दीर्घ-निश्वास को

भीतर ही भीतर दबाकर पलँग पर जा बैठा। नीचे चटाई पर बैठकर कमला पान लगाने लगी।

एक हाथ में पान का पत्ता दूसरे में कत्थे की चिमटी पकड़े हुये कमला ने गोपाल के मुख पर दृष्टि जमाकर कहा—"लाला! आपने क्यों फ़जूल रुपया बर्बाद किया?"

नीचे झुकी हुई आँखों को कमला की आँखों से मिलाकर, गोपाल ने कहा—"मैंने रुपया बर्बाद किया है? आप मेरे स्थान पर नहीं हैं, इसीलिये ऐसा समझती हैं।"

एक क्षण तो कमला गोपाल के मुख की ओर प्रश्न सूचक दृष्टि से देखती रह गई, फिर सहसा उसका चेहरा चमक उठा, आँखें नीचे झुक गईं। गोपाल के वाक्यों का अर्थ समझने में कमला का मस्तिष्क तो असमर्थ था, किन्तु ईश्वर ने मनुष्य को एक शक्ति दी है, जिसके द्वारा अकसर मस्तिष्क की सहायता के बिना ही हमारा हृदय गूढ़ से गूढ़ भाव को भी सहज ही में समझ लेता है; यह शक्ति, जो विपत्ति आने के पहले ही हमें चेतावनी देती है—उसी रहस्यमयी शक्ति ने इस समय कमला को भी गोपाल के शब्दों का मर्म समझा दिया। हाँ, उसी शक्ति ने उसे चेतावनी भी दी। लेकिन शराब का छलकता हुआ प्याला सामने पाकर सुधारक की बातें कब अच्छी लगती हैं? कमला खीझ उठी।

पान लगाकर गोपाल की ओर बढ़ाती हुई कमला धीरे से बोली—"लाला, मुझे इन चीजों की जरूरत भी तो नहीं थी। परमात्मा ने जो कुछ भाग्य में लिख दिया है, उसी पर सन्तोष करना चाहिये। मैं तो अच्छी हूँ।"

पान लेकर खड़े होकर गोपाल ने कमला के मुख पर दृष्टि जमा दी। उसके कानों को कमला के शब्दों में जो विनम्र ताड़ना, जो विनयपूर्ण अनुरोध, जो करुण सन्तोष सुनाई दिया, उसकी छाया मुख पर देखकर

गोपाल के हृदय पर गहरी चोट लगी। गोपाल ने कहा—"माफ़ कीजिये, भाभी। मुझसे सचमुच बड़ी ग़लती हुई। इन चीजों की आप को क्या जरूरत थी?"

सशंक होकर गोपाल की ओर देखती हुई कमला जल्दी से बोली—"नाराज़ हो गये लाला?"

"नहीं, भाभी, नाराज़ तो नहीं हूँ।"

"जरूर नाराज़ हो गये। लाला, मेरा मतलब यह था कि जिस आदमी को रूखी-सूखी रोटियाँ ही मिलती हों, उसे एक दिन पकवान खिला देने से उसकी आदत बिगड़ जाने का डर रहता है।"

यह बातें कहने को तो कह गई, लेकिन कमला को दूसरे ही क्षण खेद हुआ।

गोपाल मर्माहत होकर फिर पलँग पर बैठ गया। जिससे बचने के लिये गोपाल के एकान्त-सेवी मन ने कुटी में शरण ली थी, वही छलिनी माया, बाह्य संसार में निकलने पर, आज फिर प्रलोभन देने लगी। उसका हृदय फिर वही आह्लाद, फिर वही पीड़ा अनुभव करने लगा।

गोपाल कुछ समय मूर्तिवत् बैठा रहा, फिर उठ खड़ा हुआ और बोला—"अब जाता हूँ, भाभी।"

"बैठिये न, लाला, अभी क्या जल्दी है?"

"नहीं भाभी, अब जाऊँगा।"

कमला नैराश्यपूर्ण स्वर में बोली—"जाइयेगा, अच्छा, अब फिर कब आइयेगा लाला?"

दीवार के सहारे खड़ी हुई छड़ी लेकर, गोपाल ने कहा—"जल्दी ही किसी दिन आऊँगा।"

"आप कल किसी समय आ सकेंगे लाला?"

"किस वक्त, भाभी ?"

"दोपहर के वक्त आइये।"

"अच्छा भाभी, आजाऊँगा। आदाब अर्ज।"

"खुश रहिये।"

शीघ्रता से नीचे उतर, बिना हृदयनारायण से मिले ही गोपाल घर से बाहर हो गया। इस समय उसे एकान्त की बड़ी आवश्यकता थी। उसे बहुत कुछ सोचना था।

(५)

उपर्युक्त घटना के दूसरे दिन मध्यान्ह के समय जब गोपाल के खट-खटाने पर कमला ने दरवाजा खोला, तो वह उसे देखकर चकित रह गया। आज की कमला कलवाली कमला न थी। कल जो एक वन्य-कुसुम के सदृश दिखाई देती थी, वही आज चतुर माली की सेवाओं में पली हुई अर्ध-विकसित कली सी जान पड़ती थी। आज उसके बाल बिखरे हुये न थे, उसके शरीर पर वही साड़ी और जैकेट थी, जो गोपाल ने कल उसे भेंट की थी, और कपड़ों से उसी 'यू डि कॉलोन' की सुगंधि की लपटें आ रही थीं।

कमला ने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। नमस्कार का उत्तर देकर, गोपाल ने कमला के पीछे-पीछे शयनागार में प्रवेश किया। आज यहाँ विशेष सफ़ाई-सुथराई थी। पलँग पर सफ़ेद बिस्तर बिछा हुआ था।

"कैसे मिज़ाज है, भाभी ?"

"अच्छा है। बैठिये, लाला।"

पलँग पर बैठकर गोपाल ने मुस्कराते हुये कहा—"आज बड़ी सफ़ाई दिखाई देती है, भाभी ! क्या मामला है ?"

कमला झेंपती हुई बोली—"कोई ख़ास सफ़ाई तो नहीं है।"

कमला कई क्षण चुपचाप खड़ी रही, फिर वह मेज़ के समीप गई और 'ड्रार' खोलकर एक नीले रँग का रेशमी रूमाल निकाला। 'ड्रार' बन्द करके कमला पलँग के पास पड़ी हुई चटाई पर जा बैठी, फिर उसने रूमाल गोपाल की ओर बढ़ाया।

रूमाल लेकर गोपाल ने खोलकर देखा, एक कोने पर फूल-पत्तियों से सजा हुआ उसका नाम काढ़ा हुआ था। रूमाल से भी 'यू डि कॉलोन' की सुगन्धि निकल रही थी! प्रसन्नता से गोपाल का चेहरा चमकने लगा।

"धन्यवाद देता हूँ, भाभी।"

कमला सकुचाती हुई बोली—"धन्यवाद की क्या जरूरत है, लाला?"

रूमाल तहाकर कोट की भीतरी जेब में रखते हुये गोपाल ने कहा—"क्यों, आपने तो मेरे लिये इतना कष्ट किया—मैं आपको धन्यवाद भी न दूँ?"

कमला ने कोई उत्तर न दिया। दोनों कई क्षण चुप बैठे रहे। फिर गोपाल ने पूछा—"क्यों भाभी, आपने आज मुझे इस वक्त क्यों बुलाया था?"

कमला समझ न सकी कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दे उसने उन्हें क्यों बुलाया था? हाँ, इस सख्त प्रश्न का वह क्या जवाब दे! कदाचित् वह स्वयं ठीक-ठीक न जानती थी कि उसने क्यों बुलाया था। उसका हृदय लज्जा से भर गया। उसकी विकलता बढ़ गई, सारा शरीर पसीने से तर हो गया।

सहसा इस दुःखद परिस्थिति से निकलने का उसे एक उपाय सूझ गया। वह उठकर मेज़ पर रक्खी हुई रामायण उठा लाई, और अपने

स्थान पर बैठती हुई बोली—"लाला, मैं रामायण में कई जगह समझ नहीं पाई। आपने समझा देने का वायदा किया था, ज़रा बता दीजिये ?"

गोपाल ने कमला के मुख पर आँखें गड़ा दीं। 'क्या सचमुच भाभी ने मुझे इसीलिये बुलाया था ?' आँखों को विश्वास न हुआ। किन्तु अविश्वास करने का उसे अधिकार ही क्या था ? गोपाल ने कुछ निराश होकर कहा—"क्यों नहीं; भाभी ! आप कहाँ नहीं समझ पाई ?"

एक स्थान पर खोलकर, कमला ने काँपते हुये हाथों से, पुस्तक गोपाल की ओर बढ़ा दी। रामायण लेकर गोपाल ने खुले हुये पृष्ठों पर दृष्टि डाली। जनकवाटिका का वही दृश्य है—जहाँ जानकी जी का रामचन्द्र जी से पहले-पहल साक्षात् हुआ था।

दोहे और चौपाइयाँ पढ़कर, अपनी सम्पूर्ण योग्यता खर्च करके, गोपाल के चेहरे पर एकटक आँखें जमाये हुये कमला एक-एक शब्द सुनने लगी। किन्तु यह क्या सुन रही है, यह उसे ज्ञात न था ! वह तन्मयता की दशा में थी। वह केवल स्वर और शब्दों का संगीत सुनने चाहती थी, अर्थ से उसे कोई प्रयोजन न था।

एकाएक रुककर गोपाल ने पूछा—"समझ गई, भाभी।"

आंखें झुकाकर लजाई हुई आवाज में, कमला बोली—"हाँ, लाला समझ गई। एक जगह और नहीं समझी हूँ।"

पुस्तक लेकर एक दूसरे स्थान पर खोलकर कमला ने फिर गोपाल को दे दी। गोपाल फिर अर्थ करने लगा। इस बार कमला ने इरादा कर लिया, कि वह अर्थ समझने की कोशिश करेगी। लेकिन एक क्षण में फिर उसका अपने ऊपर वश न रहा। फिर वही तन्मयता की दशा हो गई। कमला फिर उसी तरह सुनने लगी। फिर वही समाँ बँध गया।

जब इस तरह बड़ी देर हो गई और गोपाल कुछ ऊबता हुआ दिखाई दिया तो कमला ने कहा—"अब रहने दीजिये। लाला, फिर किसी दूसरे दिन पूछ लूँगी।"

गोपाल ने पुस्तक बन्द करदी, एक लम्बी साँस ली, और पलँग पर पैर फैलाकर लेट गया।

कमला पान लगाती हुई बोली—"धन्यवाद देती हूँ, लाला।"

गोपाल ने हँसते हुये कहा—"आखिर आपने बदला ले ही लिया भाभी ?"

कमला ने भी हसने की कोशिश की, लेकिन इस समय हँसने को उसका जी न चाहता था। उसके हृदय-प्रदेश में सहस्त्रों ज्ञात और अज्ञात भावनायें आँधी के वेग से उठ रही थीं। उसके शरीर का एक-एक तार काँप रहा था, एक-एक रोयाँ थर्रा रहा था। काँपते हुये हाथ से कमला ने गोपाल की ओर पान बढ़ाया। पान लेते समय गोपाल की आँखें कमला की आँखों से मिल गई। आँखों का भाव देखकर गोपाल सहम गया। वह भावों का आन्दोलन—वह उन्मत्तकारी आन्दोलन ! गोपाल सिहर उठा उसके हृदय का भी एक-एक तार हिलने लगा,—रोयाँ-रोयाँ थर्राने लगा।

भावावेग से कमला की आँखें नीचे झुक गई। पान के बीड़े मुख में रखकर गोपाल उठ खड़ा हुआ।

"भाभी !" इस पुकार में कितना उन्माद था, कितनी दीनता थी, कितनी विनय थी !

ज़मीन पर आँखें गाड़े, घुटनों को करों से कसकर बाँधे हुये, कमला जैसी की तैसी निश्चल बैठी रही।

गोपाल कई क्षण मूर्तिवत खड़ा रहा, फिर टोपी और छड़ी लेकर अवरुद्ध कण्ठ से बोला—"जाता हूँ,भाभी।"

क्षीण, लड़खड़ाती हुई आवाज़ में, कमला ने पूछा—"फिर कब आइयेगा लाला ?"

"कह नहीं सकता। आदाब अर्ज़।" उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही गोपाल जल्दी-जल्दी सीढ़ियों से नीचे उतरने लगा।

कमला अपने स्थान से उठकर पलङ्ग पर गिर पड़ी और लोटने लगी —जैसे जल से बाहर निकलकर मछली तड़पती है! वह रेशमी साड़ी, वह जैकेट, 'यू डि कॉलेन, की वे लपटें उसके शरीर में सहस्त्रों बिच्छुओं के समान डंक मारने लगीं, आँखों से आंसुओं की झड़ी लग गई, और कमरे के उस पार मेघाच्छादित आकाश श्रावण की काली-काली घटायें गरज-गरजकर कमला के हृदय में हूक पैदा करने लगीं।

श्री ऋषभचरण जैन

जन्मकाल — रचनाकाल

१९६८ वि० — १९८४ वि०

[श्री ऋषभचरण जैन का जन्म दिल्ली में हुआ। आपमें बाल्यकाल से ही हिन्दी के प्रति प्रेम और रुचि रही है। आपने हिन्दी में नये ढंग की कहानियाँ लिखना प्रारंभ किया जो अत्यन्त लोकप्रिय हुईं साथ ही उनका प्रचार भी भली-भाँति हुआ। आपने इसी दृष्टिकोण से कई छोटे किन्तु सुन्दर उपन्यासों की रचना की। रोमांचक, जासूसी तथा सामाजिक क्राँति की भावनाओं से ओत-प्रोत रचनायें आपकी हिन्दी में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। भाषा स्पष्ट और सुन्दर होती है। घटनाचक्र को इतने मनोरंजक और आकर्षक ढंग से आप अंकित करते हैं कि पाठकों का ध्यान बरबस आकर्षित हो जाता है। आजकल आप दिल्ली से कई पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित करते हैं। राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक मामलों में भी आपके सुलझे हुये विचार हैं आप बड़े मिलनसार, विनोद प्रिय और सज्जन व्यक्ति हैं।]

दान

चन्दूलाल, रामचन्द, ज्योतिप्रसाद और हुकुमतराय चार आदमियों के नाम हैं।

चन्दूलाल एक घड़ी की दूकान में बीस रुपये का नौकर है। स्त्री है, एक बच्ची है। गुजर-बसर मुश्किल से होती है। कोट बरसों में बदलता है, जूता टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, टोपी का खर्च बचाने के लिये नंगे-सिर नौकरी पर जाता है। रामचन्द, साधारण गृहस्थ हैं। जाति के वैश्य हैं। कृष्ण के सच्चे भक्त हैं। गीता का नियमित पाठ करते और माथे पर चन्दन पोत कर घर से बाहर निकलते हैं। अनाज की मंडी में दलाली करते हैं। कृष्ण की कृपा से खासी प्राप्ति हो जाती है। घर के लोग खुशहाल हैं। ज्योतिप्रसाद, किसी अर्द्ध-सरकारी दफ्तर में हेड क्लर्क हैं। वेतन तीन सौ रुपया है! कपड़े रेशमी पहनते हैं। टोपी फेल्ट लगाते हैं। 'अबदुल्ला' का सिगरेट पीते हैं। अक्सर इन्टर में और कभी-कभी सेकिंड क्लास में सफ़र करते और बीसों रुपया अपने और बच्चों के स्वास्थ्य की खोज में डाक्टर वैद्यों को अर्पण करते हैं। हुकुमतराय, मोटी तोंदवाले, क्षत्रिय के अपभ्रंश खत्री हैं। छज्जेदार पगड़ी लगाते हैं। मक्खन-जीन का कोट या रफ़ल का अँगरखा पहनते हैं। दोनों हाथों की उँगलियों में कई-कई अंगूठियाँ भरे रहते हैं। चूड़ीदार पायजामा पहनते हैं। रेशमी कमरबन्द हमेशा लटकता दिखाई देता है, और सलीम-शाही जूते या पप-शू धारण करते हैं। अक्सर मोजों का इस्तेमाल भी होता है, आँखों में सुर्मा और मुँह में पान चौबीस घण्टे रमा रहता है। रायसाहब की पदवी प्राप्त कर चुके हैं, और···'साहब' की जगह '···बहादुर' बनने की मन में बड़ी लालसा है।

एक दिन ये चारों आदमी शहर के भिन्न-भिन्न भागों से अपने-अपने घर की तरफ़ चले।

(२)

रमजू एक भिखारी का नाम है। फटी सी, सर्व-परिचित गूदड़ी ओढ़ सड़क के किनारे बैठा है। हाथ-पैर काँप रहे हैं, या कँपाये जा रहे हैं। शरीर जगह-जगह से ज़ख्मी हो गया है। मुँह पर घोर दीनता का भाव है। नीचे का होठ फैल गया है। दाँत निकले पड़ते हैं।

चन्दूलाल सामने से निकला, तो रमजू ओठ फैलाकर दाँत निकाल कर चिल्ला उठा—"बाबा, एक पैसा !...तेरे बच्चों की खैर...!"

इस आर्त स्वर ने या इस शुभ कामना ने चन्दूलाल के पैर बाँध दिये। जेब में एक ही पैसा था। सोचा था, लड़की के लिये दाल-सेब लेते चलेंगे। अब वह इरादा बदल गया, और पैसा जेब में न रह सका। उसने जेब में हाथ डाला, और पैसा रमजू की तरफ फेंक दिया।

कँपकँपी क्षण-भर को रुक गई, ओठ सिकुड़ गये, दाँत भीतर चले गये। पैसा उठाकर माथे से लगाया गया, और कृतज्ञ कण्ठ से रमजू ने कहा—"दाता तेरा भला करेगा।"

चन्दूलाल आगे बढ़ गया।

'छन्न, आवाज़ हुई, और इस पैसे ने रमजू की थैली में पहुँच कर अपने जाति-भाइयों से मिलने की सूचना दी।

(३)

यह आवाज़ विलीन हुई थी कि रामचन्द्र आ पहुँचे। माथे पर अब तक चन्दन पुता हुआ था। मुँह से कृष्ण का नाम निकल रहा था, और मन अनाज की मण्डी में घूम रहा था।

रमजू का भाव झट बदल गया। ओठ फैल गये, दाँत निकल आये, शरीर काँपने लगा, और स्वर में वही कातरता आ फूट निकली। हाथ फैलाकर चीख पड़ा—"बाबा, एक पैसा !...तेरे बच्चों की खैर......!"

रामचन्द्र के कृष्ण-नाम और अनाज की मंडी के चिंतन में कोई व्याघात न हुआ, और वह बिना उधर देखे आगे बढ़ गया।

रमजू ने सतृष्ण नेत्रों से देखा, और धीरे से कहा—"दाता तेरा भला करेगा।"

यह वाक्य अभ्यास-वश मुँह से निकल गया था, या सचमुच उसकी ऐसी इच्छा थी, इसे हम नहीं जानते।

रामचन्द्र थोड़ी दूर आगे बढ़ा था कि किसी ने रोक दिया। नज़र उठाकर देखा, तो एक जटाधारी संन्यासी! रामचन्द्र ने अवाक होकर उन्हें ताका, और फिर दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम किया।

संन्यासी कर्कश स्वर में बोला—"बोल, साधू की इच्छा पूरी करेगा?"

रामचन्द्र सहम कर बोला—"कहिये क्या है महाराज?"

संन्यासी ने इधर-उधर देखा। सड़क पर कोई न था फिर वैसे ही कर्कश स्वर में बोला—"तेरे मुँह में कृष्ण का नाम है। संन्यासी की इच्छा तू ही पूरी कर! तेरा कल्याण होगा।"

रामचन्द्र हाथ जोड़ कर बोला—"कहिए न महाराज?"

"सन्यासी के भंडारे के लिए तुरन्त सवा रुपया दे।" संन्यासी ने आँखें निकाल कर कहा—"तेरी जेब में है, देख, अभी निकाल; कल्याण होगा।"

रामचन्द्र क्षण-भर को ठिठका, तो संन्यासी ने ज़मीन पर पैर पटक कर कहा—"नहीं देता? अच्छा ले, जाता हूँ, याद रख, तेरा सर्वनाश हो जायगा?"

रामचन्द्र एड़ी से चोटी तक लरज़ जाता है, और सवा रुपए का मोह त्याग देता है।

सवा रुपया लेकर संन्यासी लाल आँखें किए आगे बढ़ता है।

(४)

रमजू अपनी टेर शुरू करता है—"बाबा, एक पैसा !...तेरे बच्चों की खैर...!"

अब ज्योतिप्रसाद आए। फ़ल्ट तिरछा हो गई है। रेशमी कोट के बटन खुल गए हैं। कमीज़ फक-फक कर रही है। पतलून की 'क्रीज़' कुछ बिगड़ गई है। बूट अभी-अभी रूमाल से साफ़ किए गए हैं। सिगरेट से धुआँ निकल रहा है।

रमजू की टेर कान में पड़ता है, तो थम जाते हैं। क्षण-भर विचित्र दृष्टि से इस दीन भिखारी की तरफ़ ताकते रहते हैं, फिर कहते हैं—"अरे, तू क्यों भीख माँगता है ?"

रमजू उसी तरह दाँत निकाल कर कहता है—"बाबा पेट···!"

"पेट !···पेट किसके नहीं है ?—हमारे भी तो है। हम तो भीख नहीं माँगते ! तू जो मक्कारी करके यहाँ अपाहिज बना बैठा है, इससे क्या फ़ायदा ? अरे, उठकर हाथ-पाँव चला, और कमाकर खा, यह तो परले सिरे का कमीनापन है ! समझा ? तुम लोगों ने इस मुल्क की हालत बहुत खराब कर रक्खी है !"

रमजू मुँह बाए सब सुनता रहा कि अंत में कुछ मिलेगा। पर जब लेक्चर और विरक्ति-पूर्ण दृष्टि के अतिरिक्त कुछ न मिला, और बाबू साहब चल दिए, तो उसकी निराशा का ठिकाना न रहा। तब भी उसके मुँह से निकला—"दाता तेरा भला करेगा !"

ज्योतिप्रसाद आगे बढ़े। सामने से वही जटाजूट धारी संन्यासी आ रहा था। पुष्ट शरीर, चेहरा खिला हुआ, गेरुआ वसन, और लाल-लाल आँखें ! देखते ही ज्योतिप्रसाद की त्यौरी चढ़ गई। आप ही-आप बोले—"एक यह और आया पाजी !"

संन्यासी ने तीव्र नेत्रों से ज्योतिप्रसाद पर दृष्टिपात किया, पर त्यौरी चढ़ी देखी, तो दृष्टि की तीव्रता का लोप हो गया। पास आकर नर्मी से बोला—"बाबू……!"

ज्योतिप्रसाद ने कड़क कर कहा—"क्या है बे?"

संन्यासी की घिग्घी बँध गई। लड़खड़ाती जीभ से बोला—"बाबू, भूखा हूँ।"

ज्योतिप्रसाद चिल्ला उठे—"भूखा है, तो साले, क्या मुझे खायेगा! जाकर कुँए में डूब मर!"

और वह आगे बढ़ गए। संन्यासी भी अपना-सा मुँह लिए चल दिया।

ज्योतिप्रसाद चले। अपने इस निरर्थक क्रोध पर मन कुछ विषण्ण हो गया। संन्यासी की स्थिति पर कुछ दया भी आई, और उसी वक्त भिखारियों के पक्ष में उनके मस्तिष्क ने कई मौलिक युक्तियों की सृष्टि कर डाली।

घर पहुँचते-पहुँचते वह क्रोध भी, विषण्णता भी और वे युक्तियाँ भी, सब-कुछ लुप्त हो चुका था।

बैठक में तीन-चार सज्जन उपस्थित थे। सब के शरीर पर खद्दर के वस्त्र और चेहरों पर नई तरह के भाव थे। सब बैठक में बैठे आपस में हँसी-दिल्लगी कर रहे थे। ज्योतिप्रसाद पहुँचे कि सब का भाव बदल गया; जैसे सूरज के आगे बादल आ गया, और खिली धूप की जगह पलक-मारते छाया हो गई।

थोड़ा-बहुत परिचय तो सभी से था, पर जगन्नाथ घनिष्ठ थे। हँसकर बोले—"जनाब की इन्तिज़ारी में दरे-दौलत पर हाज़िर हैं!"

ज्योतिप्रसाद आसीन होकर बोले—"कहिए, क्या हुक्म है?"

जगन्नाथ दाँत निकाल कर बोले—"इस महीने की तनख्वाह छीनने आए हैं।"

ज्योतिप्रसाद सहम कर बोले—"क्या ?"

"हाँ जी बाबू बिहारीलाल, अब बोलो न।" —जगन्नाथ ने अपने निकटस्थ साथी से कहा।

बिहारीलाल ने गाँधी-कैप सरका कर कई बार मुँह का भाव बदला, फिर ऊपर का ओठ नाक की नोक से छुआया, और कुछ बहियाँ, रसीद-बुकें और कुछ हैंड-बिल खद्दर के बस्ते से निकाल कर मेज़ पर पटक दिए। एक हैंड बिल ज्योतिप्रसाद के हाथ में दे दिया गया।

शीर्षक था—"भयङ्कर आघात !" फिर छोटी सुर्खी में था—"हिन्दू-धर्म खतरे में !" इसके नीचे और छोटे टाइप में छपा था—"लाखों अनाथों की रक्षा का आयोजन—हिंदुओं से अपील।"

देव-नागरी का निम्न-लिखित पद्य देकर बात शुरू की गई थी

"हिन्दू-जाती आज जाती है रसातल को सुनो;
लाखों बच्चे भ्रष्ट होते, उनकी कहानी को सुनो।"

फिर उस लम्बे हैंड-बिल में बहुत-सी बातें लिखी हुई थीं। उपयुक्त पद्य का माधुर्य्य लूटकर और हैंड-बिल के घोर अशुद्ध वक्तव्य को समाप्त करके, ज्योतिप्रसाद बोले—"स्कीम तो अच्छी है !"

जितनी देर में हैंड-बिल खत्म हुआ, सब की नज़र उनके चेहरे पर जमी रही। अब यह बात सुनकर जैसे सब के सब पानी का छींटा खाकर जाग उठे, और हर्षित होकर एक साथ बोले—"जी, यह तो आशा ही थी आप से......।"

ज्योतिप्रसाद ने कोशिश करके मुंह की मलिनता छिपाई और कहा—"आप लोगों का साहस प्रशंसनीय है।"

बिहारीलाल बोले—"जी, देखिए, आज लाखों की तादाद में अनाथ बच्चे बिधर्मी हो रहे हैं......। (ज्योतिप्रसाद ने अतिशयोक्ति पर ध्यान

न दिया, और मुँह की मलिनता छिपाने के लिए सिर हिलाकर समर्थन किया।) ईसाई और मुसलमान इन बच्चों की खोज में मुँह-बाए फिरते हैं, और अन्त में उन्हीं की मदद से हमारे पवित्र धर्म पर कुठाराघात करते हैं। अगर हमारे पूर्वज इस बात का ख़याल रखते, तो आज भारत में विधर्मियों की इतनी संख्या कभी न होती। (मलिनता का भाव छिपाने में कुछ-कुछ सफल हुए हैं, इसलिए ज्योतिप्रसाद बराबर समर्थन-सूचक सिर हिलाए जा रहे हैं।) आज हमारे अनाथ बच्चों की जैसी दुर्दशा हो रही है, उसे देखकर किस हिन्दू की छाती फट न जाएगी? किसका हृदय हाहाकार न कर उठेगा? किस का···"

बिहारीलाल ने कब अपनी स्पीच समाप्त की, ज्योतिप्रसाद को इसका होश नहीं। जैसे रेल ठहरने पर नींद खुल जाती है, वैसे ही बिहारीलाल की स्पीच का प्रवाह रुकने पर उन्हें होश आ गया। जगन्नाथ हँसते हुए कह रहे थे—"कहिए, कुछ समझे?"

ज्योतिप्रसाद सिटपिटाकर बोले—"जी हाँ, ठीक है—बड़ी अच्छी बात है!"

बिहारीलाल ने 'डॉनेशन-बुक' खोलकर उनके आगे रख दी, पेंसिल हाथ में थमा दी, और खुद रसीद-बुक लेकर फ़ाउंटेन-पेन खोलने लगे।

ज्योतिप्रसाद बोले—"क्या हुक्म है?"

बिहारीलाल ने गिड़गिड़ाकर कहा—"अजी वाह, मैं क्या हुक्म चलाऊँगा, मैं तो आपका सेवक हूँ!"

जगन्नाथ ने हँसकर बेतकल्लुफ़ी से कहा "आपके पास 'अपील' करने से हमारा उद्देश्य यह है कि कम-से-कम आपकी एक महीने की तनख्वाह हड़प कर जायँ।"

ज्योतिप्रसाद के मुख पर जैसे संकट का भाव उदित हुआ, उसे देख कर आपको दया आती और अनाथाश्रम के 'डेपुटेशन' पर हँसी छूटती

ज्योतिप्रसाद ने पन्ने पलटकर 'डॉनेशन-बुक' का निरीक्षण किया, फिर थोड़ी देर सोचते रहे; और फिर कलेजे पर पत्थर रखकर··· लिख दिया।

जगन्नाथ ने खूब हाथ-पैर मारे, पर पचीस रुपये से एक कौड़ी ज्यादा न लिखी गई।

(५)

दो बार खाली जा चुके थे, इसलिये रमजू ने टेर के स्वर में वृद्धि की—"बाबा, एक पैसा··· ! तेरे बच्चों की खैर !"

रायसाहब हुकूमतराय आते नज़र पड़े। छज्जेदार पगड़ी की बहार देखने क़ाबिल थी। रफ़ल का अँगरखा उड़कर भागा जाता था। चूड़ीदार पायजामा खूब कसा हुआ था। सलीमशाही जूते और मोज़े अलग फबन दिखा रहे थे।

रमजू ने इरादा कर लिया कि दोनों बैरंग दाताओं की कसर इस एक से निकालूँगा। दूर से देखा, और चिल्लाने लगा—"बाबा, तेरे बच्चों की खैर···कुछ देना··· !"

इस बार टेर में परिवर्तन कर दिया, क्योंकि एक पैसे से ज्यादा की आशा और अभिलाषा थी।

हुकूमतराय एक-एक क़दम रखते आगे बढ़े। माथे की शिकन से मालूम होता था कि किसी गहरी चिन्ता में हैं। ऐसा जान पड़ता था कि किसी ने उन्हें छेड़ा, तो बरस ही पड़ेंगे। पर रमजू को इतनी अक्ल होती, तो भीख क्यों माँगता ? उसे तो बस एक पैसे से ज्यादा की धुन थी। उनका एक-एक क़दम पड़ता था, और उसके दिल पर जैसे चोट पड़ती थी। हरएक क़दम पर या हरएक चोट पर आवाज़ भी तेज़ होती जाती थी।

सामने आने में तीन क़दम की देर थी। रमजू गला फाड़कर चिल्लाया "बाबा, तेरे बच्चों की खैर···!"

दो क़दम रह गये। रमजू आगे सरक गया। आवाज़ फिर निकली-"बाबा, तेरे बच्चों···।"

एक ही क़दम रह गया था रमजू की आखें निकल आईं। पूरा ज़ोर लगाकर बोला—"बाबा, तेरे···।"

हुकूमतराय ठीक सामने आ गये। उड़ती नज़र से एक बार चीखते हुये भिखारी को देखा। विचार-शृङ्खला में बुरी तरह बाधा डालनेवाले इस नाचीज़ पर क्रोध तो बहुत आया, पर पी गये।

वह पिया हुआ क्रोध मानो अभागे भिखारी ने बाहर उगलवा लिया। क्या किया? जब हुकूमतराय ने आगे क़दम रक्खा, तो आवेग में भरकर उसने उनका पैर पकड़ लिया। मुँह से बोला—"बाबा, तेरे···।"

हुकूमतराय गिरते-गिरते बचे। वह पिया हुआ क्रोध वापस आ गया, और सारा शरीर आवेश के कारण एकबारगी झनझना उठा। उस नाचीज़ की इतनी हिम्मत! पहले तो उस क़ीमती विचार-वाटिका का सत्या नाश मार दिया, फिर···फिर ऐसे अपमान के साथ संबोधन करता है! और पाजी की यह हिम्मत कि पैर पकड़ लिया······!

यह सब विचार भयानक वेग के साथ पलक मारते दिमाग़ में घूम गये। हुकूमतराय की आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगीं। आखें काढ़-कर और दाँत पीसकर उन्होंने पीठ फेरी। रमजू आशा और भयपूर्ण नेत्रों से ताक रहा था। पर उनका तो विवेक नष्ट हो चुका था; उसके कातर भाव को लक्ष्य करने लायक़ भावुकता उनमें कहाँ से आती! शरीर में जैसे ज्वाला भर गई। उन्होंने पूरे वेग से एक लात रमजू पर चलाई-और पास से एक पत्थर का टुकड़ा उठाकर उसके सिर पर दे मारा।

रमजू की पहली चीख हवा में विलीन हो गई ! फिर वह दहाड़ मार कर रो उठा। सिर से खून की मोरी-सी बह निकली। लात की चोट भी पूरी बैठी थी।

हाथ-पैर का काम खत्म हुआ, तो मुँह का शुरू हुआ। गन्दी-से-गन्दी गालियों की बौछार-सी होने लगी।

रमजू घाव और मार की पीड़ा से चीखता था, रोता था और 'हाय-हाय' करता था। आस-पास इतनी-भीड़ इकट्ठी हो गई थी, पर कोई माई का लाल उसका पक्ष लेकर हुकूमतराय से जवाब तलब करनेवाला न था। जो लोग रायसाहब के परिचित थे, वे उनसे प्रश्न कर रहे थे, उन्हें शान्त कर रहे थे, और उनके क्रोध का अतिरंजित कारण जानकर असहाय रमजू पर रोष प्रदर्शन कर रहे थे।

जब ज्यादा भीड़ इकट्ठी होती देखी, और क्रोध का खासा स्खलन हो चुका, तो रायसाहब आगे बढ़े।

बिलखते हुये रमजू की तरफ़ किसी का ध्यान न था। सबके सब आश्चर्य की मूर्ति बने, सहमे-से, आतंक-पूर्ण रायसाहब को निहार रहे थे।

रामचन्द से सवा रुपया एंठने वाला और ज्योति प्रसाद की झिड़की खाने वाला संन्यासी भी चुपचाप भीड़ में खड़ा था।

घर थोड़ी दूर रह गया था, किसी ने आवाज दी 'रायसाहेब···!'

रायसाहब ने पीछे फिर कर देखा—अनाथाश्रम का डेपुटेशन ! आवाज़ देने वाला जगन्नाथ था। रायसाहब से भी उसका साधारण परिचय था। उसी बल के आधार पर उसने आवाज़ दी थी।

रायसाहब थम गये। डेपुटेशन के लोग गर्दन झुकाये, खद्दर के कुरतों की सीवन को टटोलते हुये आगे बढ़े। एक के हाथ में हैंडबिल थे, दूसरे ने रसीदबुकें ले रक्खी थी, तीसरे के पास थैली और डॉनेशन-बुक थी। जगन्नाथ खाली हाथ था।

रङ्ग-ढँग देख कर रायसाहब ने बहुत कुछ अनुमान कर लिया। गुस्सा अभी पूरी तरह शांत नहीं हुआ था। यह नये हमले की तैयारी देखी, तो त्योरी में बल पड़ गये। फिर भी थमे रहे।

डेपुटेशन पास आया। सब ने हाथ जोड़ कर अभिवादन किया। माथे की त्योरी नष्ट किये बिना ही रायसाहब ने सिर हिलाकर अभिवादन का उत्तर दिया। डेपुटेशन कुछ शंकित हुआ।

जगन्नाथ ने कहा—"कहिये, आपका मिज़ाज तो अच्छा है?"

रायसाहब कुढ़ कर बोले—"जी हाँ; आप इधर कहाँ चले?"

जगन्नाथ ने देखा रँग बेढँग है! नरमी की नदी में डूब कर बोला—"आपही के दौलतख़ाने पर क़दम-बोसी के लिये हाज़िर होनेवाला था।"

रायसाहब तब भी वे तकल्लुफ़ी पर न आये। घुड़क कर बोले—"मेरे······? क्यों, मुझसे क्या काम था?"

जगन्नाथ बोला—"आप तशरीफ़ ले चलिये, वहीं चलकर बताऊँगा।"

रायसाहब अनखाकर बोले—"आप कहते चलिये; घर पर तो मुझे मरने की भी फ़ुर्सत नहीं रहती।"

गजन्नाथ ने इस अपमान को क़तई न बरदाश्त कर कहा—"अच्छा, तो बात यह है······।"

उसने बिहारीलाल की तरफ देखा। एक हैंड-बिल रायसाहब की तरफ बढ़ा दिया गया।

हैंड-बिल उन्होंने न लिया। मोटी सुर्खी पर दूर से ही नज़र डाल कर बोले—"क्या है यह? ज़बानी फ़र्माइये, मुख्तसिर······।"

जगन्नाथ ने बिहारीलाल की तरफ देखा, और कहा—"जी, लीजिये, आपसे परिचय करा दूँ। आप का नाम······।"

रायसाहब टोककर बोले—"मतलब की बात कहिये न, मुझे देर हो रही है !"

बिहारीलाल के मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

जगन्नाथ बोला—"जी, एक अनाथाश्रम की स्कीम है। आप जानते हैं, आजकल लाखों बालक······।"

रायसाहब जल उठे। पहले कोई कड़ा उत्तर देना चाहते थे, फिर जगन्नाथ का मुँह देखकर रह गये। बोले—"क्या चन्दे के लिये आये हैं···?"

"जी, आपकी सम्मति भी लेनी थी! और चन्दा तो आप ही जैसे···।"

"आप फिर किसी वक्त मिलें। जो मुनासिब सलाह मैं दे सकता हूँ, दूँगा!"—कहकर रायसाहब एकदम चल दिये। डेपुटेशन भी वापस फिरा।

अब बिहारीलाल ने गम्भीरता की चादर उतार फेंकी, और हँसकर कहा—"साला है बड़ा घाघ!

अब सब का रूप अकस्मात् बदल गया, और पाँच मिनट बाद दूसरे शिकार की खोज होने लगी।

उधर रायसाहब हुकूमतराय घर पहुँचे। खूब ठाठ का घर था। घर क्या महल समझो। देखते ही नौकर-चाकर दौड़ पड़े। जूता उतारते हुये एक नौकर ने कहा—"सरकार, कमिश्नर साहब का चपरासी आया था।"

"क्यों?"—कहकर रायसाहब एक साथ उछल पड़े।

"एक चिट्ठी दे गया है; दफ्तर में रक्खी है!"

रायसाहब नंगे-पाँव उधर दौड़े। चिट्ठी खोलना दुश्वार हो गया। खूबसूरत लिफ़ाफ़े में मोटे काग़ज पर छपा हुआ एक सर्कुलरनुमा पत्र था। नीचे चीफ़-कमिश्नर के हस्ताक्षर थे।

था क्या? वायसराय ने बादशाह के अच्छे होने की खुशी में 'थैंक्स-गिविंग-फंड' खोला है। उसी की सूचना इस चिट्ठी द्वारा राय-साहब हुकूमतराय को दी गई है।

इस छपी हुई चिट्ठी को रायबहादुरी के स्टेशन का टिकट समझकर रायसाहब उसी वक्त एक हज़ार रुपये का चेक 'थैंक्सगिविंग-फंड' में भेजने की व्यवस्था करने लगे।

——

श्री जैनेन्द्र कुमार जैन

जन्मकाल — रचनाकाल

१९६२ वि० — १९८५ वि०

[श्री जैनेन्द्र जी आधुनिक हिन्दी-कहानी साहित्य के सुप्रसिद्ध कलाकार हैं। आपका जन्म दिल्ली में हुआ। आपने हिन्दी में कई उपन्यास और सैकड़ों कहानियाँ लिखी हैं। आपका पहला उपन्यास 'परख' है। जिसके प्रकाशित होते ही आपकी श्रेष्ठ रचना की ओर हिन्दी प्रेमियों का ध्यान आकर्षित हुआ। इसके सिवा 'सुनीता' तथा कल्याणी उपन्यास भी आपका हिन्दी उपन्यास-साहित्य में विशेष महत्व रखता है। इन ग्रन्थों के सिवा आपकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी कला का आदर्श मानव स्वभाव तथा हृदय की मार्मिक भावनाओं का वास्तविक चित्रण है। गाँधी वादी होने के नाते आपकी कला पर अहिंसा तथा सांस्कृतिक भावनाओं की छाप अधिक है। जैनेन्द्र जी की कला मानव-जीवन को शान्ति तथा सद्भावनाओं की ओर प्रेरित करने वाली है। मानव-कल्याण तथा समाज के सुसंस्कृत स्वरूप की रक्षा ही आपकी कला का सन्देश है। आजकल आप 'प्रवचन' भी करते हैं जो जैन-मुनियों की सी भावनाओं से ओत-प्रोत होते हैं। हिन्दी संसार में आपका स्थान उच्च है। आप बड़े मिलनसार, सज्जन तथा कुशल भाषण कर्ता हैं।]

अन्धे का भेद

(१)

यह ८५) की मेज़ पारसाल खरीदी गई थी। बात यह हुई कि एक मित्र को शतरंज के बोर्ड की ज़रूरत हुई। वह शतरंज खेलना नहीं जानते थे, पर अपने सलाह-कारों की आवश्यकता पर टुक ध्यान देकर, ५-७ रोज़ हुये, उन्होंने हाथी-दाँत के शतरंज के मोहरें खरीदे हैं। उसके लिये बोर्ड की कमी है। वह मेरे पास आये। चाहते थे कि वह जो काश्मीरी गेट में मेसर्स···की दुकान है, मैं वहाँ साथ-साथ चला चलूँ। बग्घी खड़ी थी, एक राय बहादुर के साथ बाज़ार में होकर बग्घी में बैठे हुये निकलना कुछ बुरा नहीं मालूम हुआ। ऐसे काम के लिये तो मैं अपने किसी छोटे-मोटे काम का हर्ज भी कर देता, पर 'अभी तो एक दम हाथ में कुछ काम ही नहीं था।

मेसर्स...के यहाँ खुद लाला साहब ने चीज़ें दिखाई, पर कुछ जँची नहीं। मित्र को तो बढ़िया चाहिये।

लाला साहब ने अर्ज़ किया—"फ़र्मायिश पर बन सकती है।"

"ज़रूर बना दीजिये। एतवार तक मिल जाय॥"

'पेशगी ?"

१०) पेशगी दे दिये गये। बाक़ी फिर दे दिये जायँगे।

दिन को मैं गत्ते पर पेंसिल से लकीरें खींच कर शतरंज खेला करता था। मेरी जान में, इस कारण, कुछ कम अच्छी शतरंज नहीं खेली जाती थी। पर अपने अनुभव को जताने का यह मौक़ा नहीं था। अपनी ही ओछी होती। सुन कर रायबहादुर मित्र भी क्या सोचेंगे, इस लिये अपनी बात मैंने अपने मुँह में ही रक्खी, और मन ही मन शर्माने लगा।

तभी मेरी निठल्ली निगाह इस ८५) की मेज़ पर पड़ी। कहावत है—ऊँची दुकान, फीका पकवान। यह कहावत ठीक तो है, पर बड़े लट्ठमार ढंग से कही गई है। मैं इसका शिष्ट रूप पसन्द करूँगा ऊँची दुकान, सजा पकवान। अर्थ में तो अन्तर पड़ता नहीं; हाँ, दूसरा रूप सभ्य, शिष्ट और सुनने लायक़ जान पड़ता है। तो साहब, इस ऊँची दुकान पर पकवान तो नहीं, हाँ फ़र्नीचर खूब सजा-सजा लगा हुआ था।

पैसों की सुविधा होते ही ऐसा सामान—जिससे बड़े आदमीपन का अधिकार मिले, जिससे दूसरों का भी और अपनी भी आँखों में अपना गौरव बढ़े—ऐसा सामान इकट्ठा करने में मज़ा आता है, भीतर से जैसे एक शाबाशी मिलती है। जीवन की कृत-कार्यता का यह भी एक ज़रूरी काम है

फिर जो अभी एक तरह की शर्म उठ रही थी, उसे मिटाने के खयाल से थोड़ा-सा बढ़ने की इच्छा हुई अपने को दुकान-मालिक लाला साहब और रायबहादुर को, सब को यह मालूम होना चाहिये कि मैं भी कुछ-कुछ बराबरी कर सकता हूँ।

शायद यह भी खयाल रहा हो—मैंने मेज पर निगाह डाली, इशारा कर के कहा—"इसके क्या...। छूटते ही लाला साहब ने मेज़ को झाड़ बुहार कर चमका दिया—दराज देखिये, यह आइना, वह जोड़ कैसा दिया गया, पालिश बिलकुल······, बड़ी उम्दा चीज है, आप की निगाह ही...आदि-आदि अविराम बखान कर के कहा—"जरूर ले जाइये। कुछ चीज मालूम होगी।—हाँ, १००) रुपये।"

मेरी ८५) से कम कहने की हिम्मत न हुई। अजी साहब, राय-बहादुर साथ हैं, इसलिये लाला साहब उनके सामने कुछ नहीं कह सकते। बाक़ी और किसी को १००) से एक पाई कम नहीं करते। चीज ही...। लेकिन···। सारांश, वह ८५) की मेज मेरे यहाँ आ गई।

यहाँ एक बात जरूर कह दूँगा। ह्वाइटवे-लेडला के यहाँ ऐसी ही मेज देखी थी। पालिश और चमकदार; काम भी अच्छा ही होगा। (५०) में आती थी। मैंने नहीं ली। देशी फ़र्म रहते विलायती से क्यों लूँ? देशभक्ति---जो वक्त पर नफ़ा पहुँचाती है, जो महँगी नहीं पड़ती---ऐसी देशभक्ति को मैं नहीं जाने देता हूँ। ह्वाइटवे-फर्म को मैं बहुत कम अपनाता हूँ। यह मैं भी जानता हूँ, और औरों को भी जनाता रहता हूँ।

पारसाल जब से यह मेज आई है, तब से इसको जोड़ की कुरसी का अभाव अखरता है। यह बेत की कुरसी मेज के सामने जँचती नहीं। टेस्ट के खिलाफ़ है। कोई भलामानस देखेगा, तो क्या कहेगा? स्प्रिंगदार, घूमती हुई कुरसी हो, तो ठीक हो जाय। कुछ मेल की चीज तो दीखे।

जिन्दगी के ३२ साल ऐसी कुरसी के बग़ैर कट गये हैं। अब समझ नहीं पड़ता, कैसे कट गये। अब तो जब तक ध्यान उसके अभाव की ओर ही जाता है। आखिर, नाम लेते-लेते वह कुरसी आज आई है। काली है, चमक-दार, सीट बड़ा उम्दा है, स्प्रिंग खूब उछलते हैं, मेज के सामने लगा दी गई है। अब कमरे की शकल बन गई है।

पैसे की सुविधा होने से रहता तो अच्छा है। पहले धरती पर ही कागज धर कर लिखता था। कैसी मुश्किल पड़ती होगी! अब आराम से लिखूँगा। सवेरे जो उस अखबार का तकाजा आया है, सो आज इसी कुरसी पर बैठ कर लिखूँगा।

खाना खाकर पलँग पर लेट गया। श्रीमती पान दे गई। पान चबाते-चबाते सोचा—थोड़ा १५-२० मिनट लेट लूँ, तब लिखना आरम्भ करूँगा। पर लेटा, तो लेख की बात सोचने लगा। क्या लिखना होगा? कुछ बात ही समझ में नहीं आती। ५-१० मिनट हो गये, और दिमाग़ शून्य ही रहा। उठकर बाहर छज्जे पर आया, बरामदे में गया,

आसमान देखा---इन चीजों की जगह, कोई उड़ता सूझ हो तो, अभी दिमाग़ से मारकर गिरा लेता, और मसाल देख कर, सजा कर पेश कर देता।

मुट्ठी बाँधा, मुट्ठी खोली, कई काग़ज की चेपियों को गुड़ी-मुड़ी करके यहाँ-वहाँ फेंका, आसमान देखा, धरती देखी, कदम गिने—इस तरह न जाने क्या क्या करते रहे। ५-७ मिनट होने पर मैं उस नई कुरसी पर जा बैठा।

वह तो डेढ़ हाथ धँसक गई! मै उछल पड़ा—उछल कर पड़ा वही मखमली कुशन पर। हलके २-१ गद्दे और दिखाये। यह बड़ा अच्छा लगा। कुरसी का नया-नया स्वाद था, बहुत ही मन भाया।

भागते-उड़ते विचारों की चौकसी के लिये दिमाग़ को छोड़ दिया। हुक्म था—जो मिले, पकड़ कर मेरी क़लम के नीचे डाल दो मैं फिर उनकी मेज बनाऊँगा। मैं भी चौकन्ना हो बैठा।

लेकिन मछली के शिकारियों का-सा धीरज मुझ में नहीं है। अब आये अब आये—ऐसे कब तक घाट लगाये बैठा जाय? मैं तो थकने लगा, और मालूम नहीं, कब ऊँघ आ गई।

"अरे, यहाँ तो आ।"—आवाज पड़ी, तो मैं जागा। मैं चुप रहा। मालूम पड़ा, जैसे काम में व्यस्त हूँ।

"यहाँ आ, यहाँ आ—आ तो।"

'आया' कहकर थोड़ी देर लगाई। आँखें ऐसी थीं, जैसे बड़े काम से उठकर आई हैं, और मैं नीचे उतर कर आया।

देखा—घर की सब औरतें और बाल-बच्चे और पड़ोस की भी दो चार, एक वृत्त बनाये, बीच में किसी को घेरे खड़ी हैं। उत्सुकता हुई, उझक कर देखा—सूरदास है घर की प्रभुता की झोंक में कहा--यह क्या तमाशा मचा रक्खा है?

मेरी मा बोली---अरे, बैठ तो, देख---देख।

जो कुरसी पेश की गई, उस पर बैठकर सूरदास को देखने लगा।

अधेड़ आदमी है। ५० पर पहुँच रहा होगा। निपट अन्धा है। मारवाड़ी है। सिर पर चिथड़े हो रही पगड़ी है। रंग साँवला सा। मुंह बनावट में ठीक---अच्छा है, ऐसा नहीं है कि उबकाई हो। घुटनों के कुछ ऊपर तक आई हुई धुएं सनी धोती है हाथ में टेकने की लठिया है, पैर में जबड़े निकालता हुआ जूता।

एकदम सब के सब उससे बोल रहे हैं। जिसकी आवाज सब से ऊँची हो, उसी का कहा वह मानता है एक लड़का चिल्लाया---"बाबा, बकरे की...।"

सूरदास ने 'मैं---ऐं - ऐं---करके सबको हँसाया। मैं घबराया---कहीं चक्कर ही तो नहीं-आ गया है !

"बाबा, बन्दर...!" कहते देर नहीं हुई कि उसी लड़के पर बन्दर घुड़क पड़ा---"गुउ उ...र्र-र्र"। बच्चा सहम गया, फिर हँस पड़ा।

इस तरह मोटर चलाई---बाँग ! बाँग ! हटो, हटो !---गधे को, कुत्ते को, मुर्गे को, बुलाया, और अपने को खूब तंग होने दिया। लड़कों की एक बात न टाली; जो हुक्म हुआ, वही बात पूरी की।

फिर मेरी माँ ने कहा--सूरदास, तेरी घरवाली कैसी थी ?

सूरदास का मुँह खिंच आया, आवाज भारी हो गई, जैसे अभी रो उठेगा।

"ओहो ! सुभाव बड़ा अच्छा, नैहर गई है, ऐसे बोलती जैसे बागों में कोयल बोले। मैं खाता---थोड़ा खाता, कहती---और ले दे ही देती। ओहो ! सुभाव बड़ा ही अच्छा था। कुछ हो जाता, यों ठुनुक ठुनुक रोती···।"

वह भी दोनों हाथों से दोनों आँखों को मींजते हुये जैसे ठुनुक-ठुनुक रोने लगा। हम सब खिलखिलाकर हँस पड़े। वह भी एक दम ठहाका मार कर हँस पड़ा।

मैं हृदय हीन नहीं हूँ अपने पर शर्माता, पर जग वही अपनी पूरी हँसी से हँस बैठा, तो मैंने सोचा, यह अभिनय हँसाने के लिये ही है।

'कोई ठंढी-बासी रोटी, कोई लत्ता ···।"

"लत्ता देंगे, पहले···।" मेरी माँ ने कहा—और तब उसने कैसे उसकी घर वाली बाल धोती, मुल्तानी लगाती, चोटी करती, आटा गूँधती, उसके पैर दबाती आदि सबका अभिनय ऐसे सच्चे भाव से, मुँह बना-बना कर, ज्यों-का त्यों कर दिया कि हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गए।

फिर—"बाबा को सूखा बासी।"

कुछ रोटी दे दी गई, मेरे ट्रंक में से, मेरे हुक्म से, एक फटी कमीज दे दी गई, और सूरदास असीस देता हुआ चला। मेरा लड़का लाठी पकड़े-पकड़े मकान से बाहर उसे गली में अच्छी तरह पहुँचा आया।

फिर मैंने माँ की ओर मुख़ातिब होकर, सबको सुनाते हुए कहा—"यह क्या तमाशा फैला लेती हो? ऐसे लोगों को क्यों अन्दर आने देती हो?---भिखमंगे कहीं के।"

मेरा दिल पत्थर नहीं है; पर बात यह है कि घर की डोर मेरे हाथ में हाल ही साल दो-एक से आई है। और मुझे, नई-नई होने के कारण, उसी रस्सी को जब-तब ढीलने-तानने-खींचने का शौक़ है। अधिकार-उपयोग में बड़ा मीठा मजा होता है। लाट साहब की लाटसाहबी में, शाह की शाहगीरी में, और ज़मादार और सिपाही की अपनी ज़मादारी और सिपाहीगिरी में जो मजा आता है, वही मुझे अपनी

नई-नई घर की प्रभुता का प्रदर्शन करने में आता है। पर माँ को मेरे इस प्रभुत्व का जरा भी खटका नहीं रहता ! जब मैं तनता हूँ तो वह ओठों में जरा मुसकिरा पड़ती हैं।

माँ ने कहा---"अरे भाई, ग़रीब है, आ जाता है, चलो, बच्चे हँस लेते हैं अपना क्या जाता है - दो रोटी ही तो चाहिए। फिर भइया, दीनों की असीस क्या सबको मिलती है।"

सो तो सब ठीक, पर मैं हार नहीं सकता। कहा --"ग़रीब तो है, लेकिन···"

माँ ने कहा—"अच्छा-अच्छा।" और, मुझे चुप हो जाना पड़ा।

उस रोज लिखना नहीं हुआ। संपादक जी को लिख दिया अवकाश है, जल्दी ही भेज दूँगा।

(२)

एक रोज वह अन्धा गली में फिर मिला लड़कों की टोलियों से घिरा हुआ उन्हें हँसाता-खुश करता हुआ चल रहा था। एक लड़के ने अपने घर चलने का उसे निमंत्रण दिया है, और वही उसकी लाठी पकड़े उसे अपने घर ले जा रहा है। वहाँ वह वैसी ही बोलियाँ बोल देगा, मोटर चला देगा, और फिर अपनी घर वाली की बातें सुनाकर उन्हें हँसा देगा, और फिर दो एक, रूखी-सूखी जो पायगा, ले आयगा। उसका यही व्यवसाय है, और वह इसी में सुबह शाम एक कर देता है।

वह गाता भी है। घर बैठे-बैठे एक दिन तान सुन पड़ी—"ऊधो, या जग में कोई न मीत"। जैसे कोई अच्छे स्वर और अच्छी आवाज से ही नहीं, अच्छे हृदय से भी गा रहा हो। जानना चाहा, यह गाने वाला कौन है। मेरे बच्चे ने आकर, ताली बजाकर, खबर दी—"बाबा है, बाबू जी। बुड्ढा—बाबा—सूरदास।"

मेरा कौतूहल नहीं रुका—पहुँचा। पास ही मकानों से घिरा जो एक चौक है, उसके बीचों-बीच पलथी मारकर बैठा सूरदास अलाप रहा है। हाथ की लाठी से कभी पत्थर फ़र्श पर ठनकार देता है, कभी हाथ को जाँघ पर मारकर ताल देता है।

ऊधो, या जग कोऊ न मीत"

सूरदास की आवाज में मिठास है, लोच है, कँप-कँपी है। उसकी गूँजन जी को ग्रस लेती है। लेकिन मैं ज्यादा ठहरा नहीं, लौट आया।

तब से सूरदास का सामना होना मैं नहीं चाहता। देखकर कुछ सुख नहीं मिलता। घर में भी कह दिया था—"देखो, अंधे को जो देना हो, दे दो; पर घर में ज्यादा बैठाने की जरूरत नहीं।"

लेकिन मालूम होता है, जिन्दगी के आख़िरी दिन तक कभी मेरा हुक्म माँ पर नहीं चलेगा। एक रोज बजार से लौटा देखता हूँ—वही जमघट जमा है। सूरदास नया गीत उड़ा लाया है, और उसी को गुँजा रहा है। यह बेड़-छुद का गीत क्या अचरज, उसी का बनाया हुआ हो।

"एक-से, सावन भी और जेठ······।"

इस बुढ़ाई के तत्त्व-ज्ञान से मैं बहुत चिढ़ता हूँ। यह ऐसे-ऐसे भिखमंगे जबरदस्ती हमसे दया छीन लेना चाहते हैं। इस तरह पिघलकर रुपया देना या दया देना समाज-तंत्र के किसी भी नियम में नहीं लिखा है—किसी तरह भी हम पर दया नहीं है।

बात यह है कि अंधे को देखकर मेरे भीतर जो असंतोष उठता है, वह मेरे प्रभुत्व-दर्प के हाथ में पड़ कर न-जाने किस मानसिक प्रतिक्रिया से रोष बन कर बाहर निकलता है। मैंने उस पर रोष करना चाहा; पर उस अंधे ने, परमात्मा के नीलाकाश में, अपनी अंधी आँखें गाड़कर सुस्निग्ध कंठ से गाया—

"जेठ नहिं सूखे, और सावन नहिं बरसेउ···।"

व्यथित कंठ से निकला, बिना देखे परमात्मा को निवेदनरूप में भेजा गया यह गायन मेरे रोष के ऊपर फैल गया। इस अकिंचन् सूरदास पर रोष कैसे उतरे ?

"सूरदास; गाना खतम कर। अरे, सुनो।"---मैंने कहा।

वह रुका, एक झटके से हंसा। शायद हँसी का झटका देकर वह अपने को मेरी बात सुनने योग्य मनः-स्थिति में लाया। बोला--"हाँ; जी !"

"इतनी सारी रोटी माँगकर तू जो रोज ले जाता है; सो क्या तू अकेला खाता है ?"

एक रोज मैंने उसे बकुचा-भर रोटी होने पर भी माँगते देखा था।

सूरदास ने कहा---"नहीं तो ! अपने लिये किस मुँह से माँगूँगा ?"

तब मेरी माँ ने बताया-- इसके दो लड़के हैं; एक लड़की है। एक लड़का कभी-कभी लाठी देकर इसे राह बताता है; बड़ा स्कूल में पढ़ने जाता है। बच्ची सब से छोटी है; घर ही रहती है।

"तेरा घर कहाँ है रे ?"---मैंने पूछा।

"क्लाथ मिल के पीछे कुलियों के रहने की जगह है; वहीं एक कोठरी मेरी है।"

"मैं एक रोज आऊँगा।"

सूरदास ने बिना संकोच के कहा---"आना जी।"

मैंने देखा; वह मेरे आतिथ्य की बात सोच रहा है। मैं समझ गया; वह सोच रहा है कि आतिथ्य में कुछ भी उठा न रक्खूँगा। कैसा भिखारी है---अतिथाई करेगा ? लेकिन देखा; एक न एक रोज इसका आतिथ्य पाना ही होगा।

(६)

आज दिन-भर बारिश हुई है। शाम होने आई, तब कहीं सूर्य दिखा है। बड़ी सुहावनी धूप मालूम होती है। बारिश के बाद धूप

निकलने पर जैसे चींटियों की लंगार-की-लंगार यहाँ-वहाँ दिखाई पड़ती हैं, वैसे ही छज्जे पर से, घरों में से निकल कर आदमियों की क़तारों की क़तारें, चलती-फिरती दिखाई देती हैं। लिखते-लिखते सिर भन्ना गया है, कहीं बाहर चलने की सूझी। सूरदास के घर की याद आई। वक्त भी अच्छा है, अभी घर ही मिलेगा।

दईमारे लोगों के मुहल्ले में पूछते-जाँचते एक बन्द दरवाजे पर आ खड़ा हुआ। जिन्हें दैव ने ही मारा, उन्हें म्युनिसिपैलिटी भी क्यों न मारे! इसलिये यह मुहल्ला म्युनिसिपैलिटी के सिर पर, रावण के सिर पर गधे के ताज जैसा, मजाने लायक़ बन गया है। गद्दों, कुरसियों, पंखों और न जाने किस-किस से सँवारे हुये म्युनिसिपल हाल में---जहाँ कुछ छँटे-छँटे आदमी पार्टियाँ और बहस उड़ाने के लिये जमा होते हैं---अगर इस मुहल्ले की संडास, मोरियाँ कूड़े के ढेर, इस मुहल्ले का नरक ले जाकर पटक दिया जाय, तो बड़ा शिक्षाप्रद दृश्य बन जाय!

बन्द दरवाजे को खटखटाया। वह खुला नहीं, भीतर से बन्द था। पास के एक कुली से मदद माँगी। उसने किवाड़ पर थपकी देकर कहा--"बिन्नो!"

इस पर किवाड़ खुले। और जिस बिन्नो ने किवाड़ खोले थे, वह मुझे देखते ही भीतर भाग गई।

६ वर्गफ़ीट का कमरा होगा। हवा के लिये यही दरवाजा है, जिसमें से मैं घुसा। किवाड़ों की दरारें इस तरह सौभाग्य से बन उठी हैं; क्योंकि किवाड़ बन्द होने पर उन्हीं से हवा आती जाती है। एक कोने में एक घड़ा रक्खा है, एक तसला लोहे का जैसा जेल में मिलता है, ऊपर ढका है, एक थाली नीचे रक्खी है, पास ही एक शकोरा है। एक तरफ खटिया है, जिसके बाँध झूल कर धरती को छूने वाले ही हो रहे हैं। उस पर कुछ गूदड़ ढेर हो रहा है। उसी से एक दरजे उतर कर या चढ़ कर नफ़ीस गूदड़ खाट के बराबर में फैल रहा है। और कोई वर्णनीय

बात इसमें नहीं है। २-१ लाठियाँ, कुछ हँडियाँ और २-१ पोटली-सोटली उस कीचड़ के रंग के बिछौने के पास ही रक्खी हैं।

बिन्नो इस बिछौने पर ही आकर, आँख मींच कर, लेट गई है। मेरा जैसा चश्मे वाला साफ़-सफ्फ़ाफ़, बनाया-सँवारा आदमी महल छोड़ कर यहाँ आया है, तो जरूर कोई प्रलय होने वाला है। कुछ ऐसे ही डर से बिन्नो यों सुसक रही है।

"बिन्नो !"

देखा, यह साफ़, सु-परिधानित किसी अपर लोक का जन्तु उसी की बोली में उसी का नाम ले रहा है, और आँखों पर चढ़े चश्मे में से उसी की ओर देख रहा है। उसे साहस हुआ।

"बिन्नो, डरती हो ?"

जिस लहजे से यह कहा गया, उसने बिन्नो का सारा डर भगा दिया। वह आगे बढ़ आई, सामने खड़ी हो गई, बोली—"नहीं।"

उस वक्त वह सामने खड़ी लड़की बुरी नहीं मालूम हुई। आँखें बड़ी-बड़ी कटोरे सी हैं, जो हिरनी की तरह या तो निश्चल-विश्वास और प्यार से या डर और आशंका से ही देखना जानती हैं। उमर ८ बरस से ऊपर होगी। रङ्ग उज्ज्वल गेहुँआ है, पर उस पर मैल की कलौंस लग रही है। दुबली है। टाँगों में छींट की घँघरिया, कमर पर बण्डी के नाम पर कुछ चिथड़ियाँ। बदन पर खरौंच लग रही है, मालूम होता है, बहुत खुजाने का परिणाम है सिर के बाल चीकट सन-सरीखे हो रहे हैं।

मैंने उसका हाथ पकड़ा, खटिया के गूदड़ को जरा समतल किया, और उसकी पटिया पर बैठ गया। बिन्नो को गोदी में ले लिया।

"बिन्नो ! तेरा अन्धा बाप कहाँ है ?"

बिन्नो बड़े आराम से गोदी में बैठी है। यह सौभाग्य जैसे कभी उसे मिला था, अब तो सालों से नहीं मिला। वह जैसे अपना ही मुझे जानने लगी; बोली—

"अम्मा के गये होंगे ।"

"अम्मा के !—कौन अम्मा ? कहाँ ?"

"यहाँ हैं । बाबा हर सातवीं शाम को जाते हैं ।"

"अभी तो बारिश थी ।"

"कुछ हो, वह तो जाते हैं ।"

इन सब बातों को सुन-सुन कर मै अचरज में पड़ रहा था ।

"अम्मा कहाँ रहती है, क्या करती है ?"

"सो नहीं जानती, पिछले बार गई थी; रहती हैं, और क्या करतीं—कुछ नहः करती । खूब अच्छी-अच्छी रहती हैं । अम्मा, मेरा अच्छी रहती हैं । तुम्हारे जैसे कपड़े पहनती हैं, और रोती हैं । मैं गई, तो मुझे चिपटा कर बहुत रोईं ।"

यह तो बड़ा अद्भुत संवाद सुना । मेरा औपन्यासिक कुतूहल पूर्ण वेग से जाग उठा । पर मै बहुत कुछ पूछ-पाछ कर भी नहीं पता लगा सका कि अम्मा कौन हैं, क्या हैं, कहाँ रहती हैं, क्यों रहती हैं ? यही पता मिला कि अच्छी रहती — सज कर रहती हैं ।

इस अन्धे के इतिहास के चारों ओर जो भेद की तह की तह लिपटी हुई है, उसमें एक को छेड़ा है, तो अब सब के भीतर तक पहुँचे बिना चैन नहीं मिलेगी ।

एक कुली को मैंने खाट लाने का हुक्म दिया । उस कुठरिया के बाहर खाट पर बैठ गया, और सूरदास के बारे में जानकारी पाने की टोह में लगा ।

पर लोग कुछ ज्यादा न बता सके । जो छोटा लड़का उनके साथ रहता है, उससे पता लग सकता है । वे खुद इतना ही जानते हैं कि रोटी माँग-मूग कर लाता है, और शाम को आता है । रात को उन लोगों को वह कभी गाना सनाता है, कभी कहानियाँ । सबेरे उठते ही

अपने चक्कर पर चल देता है। बस, दोपहर को एक बार लड़के बच्चों की खबर लेने आता है। वह जब से जानते हैं, तब से यही नियम है। चाहे बीमारी हो, चाहे वर्षा, इसमें फ़र्क़ नहीं पड़ता। हाँ इतवार की शाम को वह जरूर देर से आता है।

इस सब में मिला तो कुछ नहीं, उत्सुकता और बढ़ गई। उसी समय उसका सब से बड़ा लड़का वहाँ आया।

सिर पर ज़रा पुरानी फ़ेल्टकैप है, पैरों में कलकत्त का स्लीपर। बहुत ज्यादा लटकते कालरों की कमीज, और चौड़ा फैला पैजामा। बालों में तेल भी है, कढ़े भी हैं। १४ बरस का होगा, सातवें दरजे में पढ़ता है। भरसक इसने अपने पिता सूरदास से अपना ज़ाहिरा सम्बन्ध बिलकुल मिटा डालने की चेष्टा की है। सचमुच देख कर मेरी हिम्मत नहीं हुई कि इसे भिखारी अन्धे की सन्तान समझूँ। यह अपने बाप के अस्तित्व पर शर्माने लगा है। अन्धे की कमाई का आधे से ज्यादा भाग इसकी शिक्षा और शृङ्गार में खर्च होता है—लेकिन यह उसके लिये कृतज्ञता का पर्याप्त कारण नहीं है। कहीं और जगह होता, तो ऐसे रहता! वही लड़का गोविन्द मेरे सामने आया, और ठिठक कर रह गया।

मैं उसके पसन्द का आदमी था; पर उसके घर पर ही बैठा हूँ, सब हाल जानता हूँ, इसलिये उसकी नापसन्दगी का भाजन बन गया।

मैंने पूछा—"भाई, तुम्हारे पिता......"

"मुझे नहीं मालूम।"—बात काट कर ही उसने जवाब दे दिया।

मैंने प्यार से उसकी पीठ थपकी, उसे जरा अकेले में ले गया। मुझे निश्चय है, मन ही मन उसने अपने को धन्य माना।

"भाई, तुम्हारे पिता कहाँ है?—नहीं बताओगे?"

उसे सचमुच का संकोच था। कैसे कहे?

"तुम्हारी अम्मा...?"

गोविन्द ने हाथ जोड़ कर कहा—"बाबू जी, आप जानते हो, तो हाथ जोड़ता हूँ, कुछ किसी से कहियेगा नहीं।"

"भाई, मैं जानता-वानता कुछ नहीं। जानना चाहता हूँ। बताओगे नहीं!"

"बाबूजी, हाथ जोड़ूँ, मत पूछो।"

"नहीं-नहीं, डरो मत। कोई बात नहीं अच्छा, जगह बता दो।"

"बाबूजी, देखो, किसी से कहना नहीं। मेरी मौत हो जाय जो कहो। चावड़ी-बाज़ार में...। पर बाबूजी, माँ जो है, सो है—बुरी नहीं है। हमें प्यार करती है।...हमारा ख़र्च..."

लड़के को ज्यादा कष्ट देना ठीक न समझ, बिन्नो को कुछ दे, मैं चला आया।

(४)

जहाँ कभी नहीं गया वहाँ गया, जो न करना था, किया। लेकिन उसका पता न चला सका।

इतवार को उस अंधे की प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। इस रास्ते न आया, तो अगले इतवार को दूसरे रास्ते पर इन्तजार करूँगा। जो हो, उसके जीवन की कमबख्ती का हाल तो मालूम ही करना होगा। लेकिन वह आ रहा है। मालूम होता है, यही उसका छोटा लड़का है—वह, जो थकान के भाव से लाठी पकड़े उसे लिये आ रहा है।

जहाँ नीचे दरजे की......रहती हैं, जिनके घरों में मिट्टी का दीवट जलाया जाता है, वहाँ एक मैले-से ज़ीने के आगे वह लड़का खड़ा हो गया।

सूरदास अब आगे होकर जीने पर चढ़ा। लड़के ने अपने शरीर से जीने को ढाँके रक्खा—कोई देखे नहीं। फिर देख-दाख कर लड़का भी चढ़ गया। जीना बन्द कर लिया। मैं वहाँ पहुँचा, थपथपाया।

ऊपर से किसी ने झाँका—"क्या आप ठहर सकते हैं?" मैंने कहा—"नहीं।"

यहाँ मेरे-जैसे लोग आते नहीं, मैं आ ही गया हूँ, तो काफ़ी अच्छी कमाई का जरिया हो सकता है; वहाँ वालियों को पैसे की उतनी ही तंगी रहती है, जितनी भिखारियों को। इससे मना करते उससे बना नहीं; और 'हाँ' करे तो कैसे?

मैंने ज़िद की, तो उसने जीना खोल दिया। जीने के पास ही कोठरी से लगा हुआ एक छोटा-सा बरामदा था। कहा—"आप, यहाँ थोड़ी देर बैठें, तो बड़ी मेहरबानी हो। हाथ जोड़ती हूँ।"

मैंने कहा—"क्यों, कौन है?"

"अजी, एक अन्धा भिखारी है।"

"अन्धा, भिखारी!—क्यों, वह कौन है?"

"अजी, आप नाराज़ न हों। वह आपकी नाराजगी के लायक़ नहीं।"

"तो मैं भी कमरे में ही बैठता हूँ। क्या कहती हो?"

उसने बड़ी खुशी से कहा—"हाँ-हाँ लेकिन आप बोलें नहीं। अन्धा फ़क़ीर है, मुझे राह पर लगाना चाहता है। उसका पुराना एहसान भी है। उसका कहा मानना पड़ता है। कुछ देखें, तो ताज्जुब न करें।"

कमरे में एक पुराने स्टूल पर बैठ गया।

कमरे में कोई ख़ास बात नहीं है। एक अच्छी-सी खाट है, जिस पर सफ़ेद चादर बिछी है, २-१ तकिये पड़े हैं। वहाँ छोड़ कर सफ़ेदी

और कहा नहीं। फ़र्श पर मैला टाट है। दो एक मोढ़े हैं। एक राधाकृष्ण की तस्वीर है, एक कैलेंडर। एक लालटेन, दोवट, मिट्टी के कुछ खिलौने, काग़ज़ के फूल, पानदान, सुराही और काँच का गिलास—ये चीजें और भी टंगी या रक्खी हैं। सूती रेशम की एक साड़ी चुनी हुई, एक झालरदार ब्लाउज—ये खूँटियों पर टँगे हैं। इस अमीरी की बनावट की एक-एक बात में ग़रीबी मानों फटी पड़ती है, और विलास का लिबास पहन कर दुःख मानों सिसक-सिसक कर रो रहा है।

वह सँवारी हुई साधारणतः सुन्दर है। ३२ वर्ष की अवस्था होगी, देह झुरती आ रही है; पर अब भी उसमें बहुत कुछ है। इस नारी के चेहरे पर, इस वातावरण में भी, कुछ वह है, जो समझ नहीं पड़ता, मानों यह यहाँ भूल से आ पड़ी है, और भूल से ही रह रहा है।

उसने दिये को तेज कर दिया, मुझे भुला दिया, सूरदास का हाथ पकड़ा—"आओ।"

दोनों बराबर-बराबर घुटनों के बल बैठ गये। लड़का भी वैसे ही आ बैठा। सब ने हाथ जोड़े, ऊपर को देखा।

तब स्तब्धता छा गई। घड़ियाँ सुन्न हो गईं। हवा ठहर गई, मानों अब आत्मा कहेगी—चुप हो जाओ।

सूरदास के कण्ठ से वह आत्मध्वनि निकली—"मालिक, हम बड़े पापी हैं। कितनों को तुमने उबारा है; क्या हमें भी उबारोगे? पर कैसे कहूँ? मालिक, तू सब जानता है, कोई बात तुझ से छिपी नहीं। क्या तू नहीं देखता? मालिक, हम दोनों बड़े ग़रीब हैं, तेरे ही बच्चे हैं, रोज भूल करते हैं, पर तुझे जरूर याद करते हैं। मालिक! हे मालिक मेरे! तू भी हमें भूलियो मत, नहीं तो हम कहीं के नहीं रहेंगे।

"मालिक, रोटी मिलने में अब मुश्किल होती है। देह बूढ़ी हो चली। अब तेरे पास, तेरे चरणों में, आना चाहता हूँ। जल्दी का हक़ नहीं है, तो भी मालिक, जल्दी करना, जल्दी ही उठा लेना।"

तब वह देवी—क्या देवी न कहूँ उसे—बोली—

"तुम्हें मैं नहीं जानती, मुझे तो धरती पर यह मालिक मिला था। इसी को मैंने अपने हाथों से आँखें फोड़ दीं। हाय! पर यह कहता है, तभी से मुझे सच्ची आँखें मिलीं। तभी से इसने मुझे तुम्हें याद करना सिखाया। क्या तुम, सच, पापों को माफ़ कर देते हो?---ऐसे पापों को भी? मुझे भरोसा नहीं होता। पर यह कहता है, विश्वास करने से सब कुछ होता है। ओ, मेरे परमात्मा! मुझे कह दे, माफ़ कर दिया। मेरा अंधा तो सब कुछ माफ़ कर देता है, वह देखता तो है नहीं, बिना देखे माफ़ कर देता है। तुम देखते हुये कहो, माफ़ कर दिया। तब मेरे जी को ठंढक मिलेगा। नहीं तो वह ऐसा जलता है कि मैं मरी जा रही हूँ। कहाँ बैठी हूँ---तुम देखते हो, मैं भी देखती हूँ। मैं यहाँ से उठ जाना चाहती हूँ। पर जितना जीना तुमने बाँध दिया है, उसमें से काट नहीं सकती। मुझे जल्दी उठा लो, यही चाहती हूँ।"

दो मिनट तक फिर वह धरती पर माथा टिकाये पड़े रहे, उठे—गले मिले। स्त्री रो पड़ी। सिर पर थपकाते हुये अंधे ने कहा—"घबरा नहीं, घबराते नहीं हैं। छिः घबराते हैं?"

वह चलने लगा, वह पैर में पड़ गई—"मेरे मालिक!"

"हैं हैं मालिक एक है—वह एक, मेरा भी, तुम्हारा भी, सारे जगत् का। बाकी सब ढकोसला है। उठ उठ!"

हठात् विदा लेकर वह चल दिया।

कई मिनट छज्जे पर खड़ी वह देखती रही। फिर लौटी मुझे देख-चौंकी,—और मेरे पैरों में पड़ गई।

"मुझे माफ कीजिये।... ...मैं...।"

मैंने १०) का नोट निकाल कर दिया।

"ओह, नहीं-नहीं। मैं मर जाऊँगी—नहीं लूँगी।

मैंने कहा—"उठो", और उसे उठाया।

मैंने तब झुक कर उसके पैरों में हाथ लगाया। वह पीछे हट गई।

"मुझे तुम क्या समझती हो?"

"माफ़ कीजिये।"

"ये १०) तुम्हें रखने पड़ेंगे।"

हिचकिचाहट—संकोच।

"एक भक्त की भेंट।"

फिर भी वही।

"गोविन्द के..."

"क्या आप जानते हैं...?"

"कुछ नहीं। मैं धन्य हूँ, अगर आप बतला सकें।"

"अपने पापों को परमात्मा के आगे गिन और गिना चुका हूँ। उन्हें दुहराने से डरता नहीं पर पूछें...।"

"न कहिये। मैं जरा भी हठ न करूँगा।"

उन्होंने १०) ले लिये। मैं उनका चरण-स्पर्श करके चला।

(५)

फिर वह घर पर बुलाया गया।

बच्चे ने कहा—"बाबा, बंदर बुला दे।"

उसने गुर्र-र्र कर दिया।

दूसरे ने कहा"—गधा!"

उसने मुंह ऊपर उठाकर रेंक दिया।

इसी तरह सबके बाद में मेरी माँ ने कहा—"बाबा, तेरी घर-वाली!—"

उसने वही अभिनय किया। फिर उसी तरह ठहाका मार कर हँस दिया।

"मैंने कहा--बाबा, हमारे यहाँ रहें, तो कैसा! बच्चों को मैं पढ़ा दूँगा। तू द्वार पर चौकसी करना।"

अंधे ने कहा" ब-अ, जो भुगतना है, सो तो भुगत डालना ही चाहिये। अब बचोगे, तो भुगतना होगा। भुगतना तो होगा ही, बच न सकोगे। इससे अपने साथ छल करना ठीक नहीं।"

इस सङ्गिल फिलासफ़ी पर मैंने अपना माथा ठोंका, फिर भी उस सूरदास को पुण्य पुरुष ही माना।

मैंने कहा--"तेरी मर्ज़ी पर शामको तेरे यहाँ आऊँगा।"

"बापू जरूर आना। हमारा कहाँ किसी को खिलाने का भाग्य!

मैं अगले रोज़ पहुँचा, यहाँ वहाँ की भीख की थोड़ी रोटी खा कर अपने को धन्य किया, लेकिन घर वाली की चरचा न छोड़ सका। फिर भी मैं इस भेद के घिरे इतिहास को जानने को भूखा हूँ। आप में से क्या कोई देवी के पते से वह इतिहास ला सकता है। मेरी तो हिम्मत नहीं होती।

श्री सियाराम शरण गुप्त

जन्मकाल	रचनाकाल
१६५२ वि०	१६८५ वि०

[श्री सियाराम शरण गुप्त हिन्दी में खड़ी बोली के एक प्रसिद्ध कवि तथा कलाकार के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं। किन्तु पिछले पन्द्रह वर्ष से आप कहानियाँ तथा उपन्यास भी लिखने लगे हैं। आपमें जिस प्रकार की सच्ची और वास्तविक लगन कविताओं में प्राप्त होती है उसी प्रकार की और वास्तविक रूप में उपन्यास तथा कहानियों में भी प्राप्त होती है। आपका उपन्यास 'गोद' 'नारी' अत्यन्त प्रसिद्ध है। ग्रामीण गृह-जीवन का इतना मार्मिक और वास्तविक चित्रण दूसरा नहीं कर सका। कहानियों में भी आपकी कला का यही रूप दिखाई देता है। श्री सियाराम शरण एक आदर्शवादी कलाकार हैं। मानव-जीवन के उच्च तथा वास्तविक संस्कृति की रक्षा का आदर्श आपकी रचनाओं की निधि है। आप बड़े मिलनसार और मिष्टभाषी व्यक्ति हैं। सरलता की प्रति मूर्ति हैं। वही सरलता और सुचारुता आपकी रचनाओं में भी मिलती है।]

काकी

उस दिन बड़े सबेरे जब श्यामू की नींद खुली तब उसने देखा— घर-भर में कुहराम मचा हुआ है। उसकी काकी—उमा—एक कम्बल पर नीचे से ऊपर तक एक कपड़ा ओढ़े हुये भूमि-शयन कर रही है, और घर के सब लोग उसे घेर कर बड़े करुण-स्वर में विलाप कर रहे हैं।

लोग जब उमा को श्मशान ले जाने के लिये उठाने लगे तब श्यामू ने बड़ा उपद्रव मचाया। लोगों के हाथों से छूट कर वह उमा के ऊपर जा गिरा। बोला—"काकी तो सो रही हैं। उन्हें इस तरह उठा कर कहाँ लिये जा रहे हो ? मैं न ले जाने दूँगा।"

लोगों ने बड़ी कठिनता से उसे हटा पाया। काकी के अग्नि-संस्कार में भी वह न जा सका। एक दासी राम-राम कर उसे घर पर ही सँभाले रही।

यद्यपि बुद्धिमान गुरुजनों ने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी काकी उसके मामा के यहाँ गई है, परन्तु असत्य के आवरण में सत्य बहुत समय तक छिपा न रह सका। आसपास के अन्य अबोध बालकों के मुँह से ही वह प्रकट हो गया। यह बात उससे छिपी न रह सकी कि काकी और कहीं नहीं, ऊपर राम के यहाँ गई है। काकी के लिये कई दिन तक लगातार रोते रोते उसका रुदन तो क्रमशः शान्त हो गया, परन्तु शोक शान्त न हो सका। जिस तरह वर्षा के अनन्तर एक ही दो दिन में पृथ्वी के ऊपर का पानी अगोचर हो जाता है, परन्तु बहुत भीतर तक उसकी आर्द्रता बहुत दिन तक बनी रहती है, उसी प्रकार वह शोक उसके अन्तस्तल में जा कर बस गया। वह प्रायः अकेला बैठा शून्य मन से आकाश की ओर ताका करता।

एक दिन उसने ऊपर एक पतंग उड़ती देखी। न जाने क्या सोच

कर उसका हृदय एक दम खिल उठा। विश्वेश्वर के पास जा कर बोला—"काका, मुझे एक पतंग मंगा दो। अभी मँगा दो।"

पत्नी की मृत्यु के बाद से विश्वेश्वर बहुत अन्यमनस्क से रहते थे। "अच्छा मँगा दूँगा" —कह कर वे उदास भाव से बाहर चले गये।

श्यामू पतंग के लिये बहुत उत्कण्ठित हो उठा। वह अपनी इच्छा किसी तरह न रोक सका। एक जगह खूँटी पर विश्वेश्वर का कोट टँगा हुआ था। इधर-उधर देख कर उसने उसके पास एक स्टूल सरकाकर रक्खा और ऊपर चढ़ कर कोट की जेबें टटोलीं। उसमें से एक चवन्नी का आविष्कार करके वह तुरन्त वहाँ से भाग गया।

सुखिया दासी का लड़का—भोला—श्यामू का समवयस्क साथी था। श्यामू ने उसे चवन्नी दे कर कहा—"अपनी जीजी से कह कर गुपचुप एक पतंग और डोर मँगा दो। देखो, खूब अकेले में लाना; कोई जान न पावे।"

पतंग आई। एक अँधेरे घर में उसमें डोर बाँधी जाने लगी। श्यामू ने धीरे से कहा—"भोला, किसी से न कहे तो एक बात कहूँ।"

भोला ने सिर हिला कर कहा—"नहीं किसी से न कहूँगा।"

श्यामू ने रहस्य खोला। कहा—"मैं यह पतंग ऊपर राम के यहाँ भेजूँगा। इसे पकड़ कर काकी नीचे उतरेंगी। मैं लिखना नहीं जानता। नहीं तो इस पर उनका नाम लिख देता।"

भोला श्यामू से अधिक समझदार था। उसने कहा—"बात तो बड़ी अच्छी सोची, परन्तु एक कठिनता है। यह डोर पतली है। इसे पकड़ कर काकी उतर नहीं सकती। इसके टूट जाने का डर है। पतंग में मोटी रस्सी हो तो सब ठीक हो जाय।"

श्यामू गम्भीर हो गया। मतलब यह,—बात लाख रुपये की सुझाई गई है। परन्तु कठिनता यह थी कि मोटी रस्सी कैसे मँगाई जाय। पास में दाम हैं नहीं और घर के जो आदमी उसकी काकी को बिना दया-

माया के जला आये हैं, वे उसे इस काम के लिये कुछ नहीं देंगे। उस दिन श्यामू को चिन्ता के मारे बड़ी रात तक नींद नहीं आई।

पहले दिन की ही तरकीब से दूसरे दिन फिर उसने विश्वेश्वर के कोट से एक रुपया निकाला। ले जाकर भोला को दिया और बोला--"देख भोला, किसी को मालूम न होने पावे। अच्छी अच्छी दो रस्सियाँ मँगा दे। एक रस्सी ओछी पड़ेगी। जवाहिर भैया से मैं एक कागज पर 'काकी' लिखवा रक्खूंगा। नाम की चिट रहेगी तो पतंग ठीक उन्हीं के पास पहुँच जायगी।"

दो घण्टे बाद प्रफुल्ल मन से श्यामू और भोला अँधेरी कोठरी में बैठे बैठे पतंग में रस्सी बाँध रहे थे। अकस्मात् शुभ कार्य में विघ्न की तरह उग्र मूर्ति धारण किये हुये विश्वेश्वर वहाँ आ घुसे। भोला और श्यामू को धमका कर बोले—"तुमने हमारे कोट से रुपया निकाला है?"

भोला सकपका कर एक ही डाँट में मुखबिर बन गया! बोला—"श्यामू भैया ने रस्सी और पतंग मँगाने के लिये निकाला था।"

विश्वेश्वर ने श्यामू को दो तमाचे जड़ कर कहा---"चोरी सीख कर जेल जायगा? अच्छा, तुझे आज अच्छी तरह समझाता हूँ।" --कह कर दो-चार थप्पड़ और जड़ कर पतंग फाड़ डाली। अब रस्सियों की ओर देख कर उन्होंने पूछा---"ये किसने मँगाई?"

भोला ने कहा—"इन्हींने मँगाई थीं। कहते थे, इससे पतंग तान कर काकी को राम के यहाँ से नीचे उतारेंगे।"

विश्वेश्वर एक क्षण के लिये हतबुद्धि हो कर खड़े रह गये। उन्होंने फटी हुई पतंग उठा कर देखी। उस पर एक कागज चिपका था, जिस पर लिखा हुआ था---"काकी।"

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार

जन्मकाल | रचनाकाल

१९६३ वि० | १९८५ वि०

[आपका जन्म पंजाब प्रान्त में कोटअद्दू गाँव में हुआ। आपके कुटुम्ब के लोग आर्य-समाजी विचारों के थे, इसीलिये घर पर प्रारंभिक शिक्षा होने के बाद आप गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ने के लिये भर्ती किये गये। आपने वहाँ से 'विद्यालंकार' की डिग्री प्राप्त की। तभी से आप स्वतंत्र जीवन बिताने की ओर अग्रसर हुये। गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने के समय से ही आपने हिन्दी में कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया था। 'विशाल-भारत' द्वारा आपको अपनी कला के प्रचारित करने में अधिक प्रोत्साहन और सहायता मिली। आपकी कहानियों के तीन संग्रह 'चन्द्र कला' 'भय का राज्य' और 'अमावस' अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी कहानियाँ बड़ी मार्मिक तथा किसी भी विषय का सुन्दर रूप से प्रतिपादन करने वाली होती हैं। आप कहानी-लेखक होने के साथ ही कहानी कला के श्रेष्ठ आलोचक तथा पारखी हैं। निबंध भी आप बड़ा सुन्दर लिखते हैं। इस समय आप लाहौर में रहते और साहित्य सेवा करते हैं। आप स्वभाव के सरल, सज्जन और उदार हैं।]

एक सप्ताह

गुलमर्ग

१३ श्रावण...

प्यारे कमल !

मुझे माफ़ करना, उस दिन शाम की चाय के समय तुम मेरा इन्तज़ार करते रहे होंगे और मैं इधर खिसक आया। आज तुमसे ११०० मील की दूरी पर और तुम्हारी··नगरी से ६०००फीट अधिक ऊँचाई पर बैठकर मैं तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ। तुम जानते ही हो कि मैं किस तबीयत का आदमी हूँ। उफ़, वहाँ कितना बोझ था। काम, काम, हर वख्त काम। मेरी तबीयत सहसा ऊब गई और तुम्हें भी सूचना दिये बिना मैं अपनी कार पर इतने लम्बे सफ़र के लिये खिसक आया। उस दिन चाय के वख्त मुझे मौजूद न पाकर यद्यपि तुम मुझ पर काफ़ी खिज तो लिये ही होगे, फिर भी उस असुविधा के लिये मुझे माफ़ कर देना।

हिमालाय की यह विशाल घाटी बड़ी सुहावनी है। घने जंगल, निर्मल झरने, विस्तृत मैदान, चारों ओर बरफ़ से ढकी पहाड़ों की ऊँची-ऊँची चोटियाँ और दूरपर दिखाई देनेवाली बुलर-झील। इस स्थान से मैं सचमुच प्यार करता हूँ। यहाँ एक सप्ताह बिलकुल निकम्मा रहकर काटूँगा। कुछ नहीं करूँगा। तुम्हें ही पत्र लिखूँगा और तुम्हारे पत्रों को छोड़ कर और कुछ नहीं पढूँगा।

भाई कमल, मैं अकेला हूँ। तुमने अनेक बार मेरे इस अकेलेपन की आलोचना की है; मगर यहाँ आकर मैं अनुभव करता हूँ कि जैसे प्रकृति मेरी मा है। मैं अकेला कहाँ हूँ, मैं तो अपनी मा की गोद में हूँ।

चिन्ता न करना। मैं यहाँ एक सप्ताह से अधिक नहीं ठहरूँगा। २२ श्रावण की शाम को तुम मुझे अपनी चाय की टेबिल पर ही पाओगे।

बाहर एक कसा हुआ घोड़ा मेरा इन्तजार कर रहा है, अतः बाकी कल।

तुम्हारा—

स०

(२)

१४ श्रावण—

भाई कमल,

सुबह ६ बजे बिस्तरे से उठा हूँ। अभी तक नींद की खुमारी नहीं टूटी। कल बहुत दिनों के बाद घुड़सवारी की थी, अतः टाँगें कुछ थक गई-सी प्रतीत होती हैं। आज कहीं नहीं जाऊँगा। मेरे मकान में और कोई नहीं है। मैं अपने सोफ़े पर अकेला पड़ा हूँ। बाहर धीमी-धीमी वर्षा हो रही है। चारों तरफ़ सन्नाटा है। ओह ' सामने की इस खिड़की से कितना अनन्त सौन्दर्य मुझे दिखाई दे रहा है।

आज कुछ नहीं लिखूँगा। सोचा था कि आज एक चित्र बनाऊँगा; मगर कुछ नहीं करूँगा। घंटों तक इसी तरह निश्चेष्ट भाव से पड़े रहकर इस खिड़की की राह से प्रकृति का, अपनी मा का अनूठा सौंदर्य देखूँगा।

अच्छा, कल तक के लिये बिदा।

स्वेच्छाधीन—

स०

(३)

गुलमर्ग

१५ श्रावण···

कमल,

इस समय रात के ११॥ बजे हैं और मेरी आँखों में नींद नहीं है। सब तरफ़ गहरा सन्नाटा है। कहीं से कोई आवाज़ नहीं आ रही। मेरे

कमरे में बिजली की बत्ती जल रही है। खिड़कियाँ बन्द हैं। सरदी इतनी अधिक है कि मैं उन्हें खोल कर नहीं रख सका। सन्नाटा इतना गहरा है कि बिजली के प्रकाश से जगमगा रहे इस कमरे में बैठकर मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे इस सम्पूर्ण विश्व में केवल मैं-ही-मैं बच रहा हूँ, और कोई भी नहीं है। कहीं कोई भी नहीं है। सिर्फ़ मैं ही हूँ; अकेला मैं।

मगर भाई कमल, आज सहसा, न-जाने क्यों, मुझे अपना यह अकेलापन कुछ अनुभव-सा होने लगा है। ऐसा क्यों हुआ? क्या सिर्फ़ इसलिये कि सब ओर सन्नाटा है और मेरी आँखों में नींद नहीं है? नहीं कमल, यह बात नहीं है। मेरे हृदय में आज सहसा एक नई-सी अनुभूति उठ खड़ी हुई है, जो बिलकुल धुँधली और अस्पष्ट-सी है। मैं अनुभव करता हूँ मैंने आज जो कुछ देखा है, उसमें विचित्रता ज़रा भी नहीं है। मैंने जो कुछ आज देखा है, उसे यदि मैं यहाँ लिखूँगा, तो या तो तुम मेरा मज़ाक उड़ाने लगोगे, अथवा मेरे सम्बन्ध में बिलकुल भ्रान्त-सी धारणा बना लोगे। मगर भाई, मैं कहता हूँ, मैं तुमसे अनुरोध करता हूँ कि तुम इन दोनों में से एक भी बात न करना। मेरी इस चिट्ठी को पढ़ जाना, और अगर हो सके तो उसी वक्त भुला देना बस, और कुछ नहीं।

हाँ, तो सुनो बात है तो कुछ भी नहीं; मगर फिर भी सुनो। आज दोपहर के वक्त बादल छँट गये थे, और सूरज निकल आया था। जैसे विधाता ने इस हरी-भरी घाटी को धो-धाकर धूप में सुखाने के लिये बिछा दिया हो। दोपहर के भोजन के बाद मैं अपनी इस छोटी-सी कोठी के खुले सहन में धीरे-धीरे चहलक़दमी करने लगा। सहन के फाटक के सामने ही स्वच्छ जल का एक छोटा-सा झरना बह रहा है। उसके ऊपर अनघड़ लकड़ी का एक इतना सुन्दर पुल है कि उसे देखते ही कलर-बक्स लेकर उसका चित्र बनाने की इच्छा होती है। मैं धीरे-धीरे एक

बार इस पुल तक जाता था, और उसके बाद कोठी के बरामदे तक वापस लौट आता था।

एक बार के चक्कर में जब मैं पुल के निकट पहुँचा, तो मैं चौंक पड़ा। मैंने देखा, वहाँ किसी भद्र कुल की एक नौजवान लड़की खड़ी थी। अकेली। उसका ध्यान मेरी ओर नहीं था। झरने के पानी की मधुर ध्वनि ने मेरे चलने की आवाज़ को अपने भीतर छिपा लिया था, इससे मेरे बहुत निकट पहुँच जाने पर भी वह यह न जान सकी कि उसके निकट कोई अन्य व्यक्ति भी मौजूद है। और मुझे तो तुम जानते ही हो। कितना भूला हुआ-सा चलता हूँ। मुझे तब तक उस लड़की की उपस्थिति का ज्ञान नहीं हुआ, जब तक मैं उसके बिलकुल निकट पहुँच नहीं गया।

मैं चौंका, और उधर उसी समय उस लड़की की निगाह मुझपर पड़ी। शायद बिलकुल ही अकस्मात्। वह भी चौंक गई। क्षण-भर के लिये सहसा उसकी और मेरी आँख आपस में मिल गई।

बस, भाई कमल, बात इतनी ही है, और कुछ भी नहीं। मैं उसी क्षण वापस लौट पड़ा था, और जान पड़ता है, वह लड़की भी वहाँ से चल दी थी; मगर इस ज़रा-सी बात ने न-जाने क्यों मेरे दिल पर बहुत अजीब-सा प्रभाव डाला है। इस बात को हुये अब ६ घंटे बीत चुके हैं, और इन ६ घंटों में चौंकी हुई हरिणी की-सी वे आँखें मेरे मानसिक नेत्रों के सामने बीसियों बार घूम गई हैं।

तुम सोचते होगे, इस सब में कोई खास बात ज़रूर है। और नहीं तो कम-से-कम वह लड़की कोई असाधारण सुन्दरी तो अवश्य होगी; मगर वास्तविकता यह नहीं है। उस लड़की के चेहरे में असाधारणता ज़रा भी नहीं थी। लम्बा क़द, मामूली चेहरा, गेहुँआ रंग। और भी कोई बात उसमें ऐसी नहीं थी, जिसे असाधारण कहा जा सके। अपनी···नगरी में हम लोग इस कन्या से अत्यधिक रूप-सौन्दर्यवाली

बीसियों युवतियों को रोज़ देखते हैं। मेरी परिचित कुमारियों में भी कितनी ही सौन्दर्य की दृष्टि से उससे कहीं बढ़-चढ़ कर हैं। यहाँ गुलमर्ग में भी उससे बहुत अधिक सुन्दरियों को मैंने काफ़ी बड़ी संख्या में देखा है। फिर भी; कुछ समझ में नहीं आता कि इस 'फिर भी' का कारण क्या है।

आज इतना ही।

तुम्हारा—

स०

(४)

गुलमर्ग

१६ श्रावण

प्रातः ८ बजे

कमल,

नींद से उठते ही सब से पहले मेरी निगाह रात के पत्र पर गई है। रात मैं क्या खुराफ़ात सी लिख गया। दिल में आता है, वह पत्र फाड़ डालूँ।

जी कुछ भारी सा है। कुछ लिखने की भी इच्छा नहीं होती। और इस तरह निश्चेष्ट भाव से यहाँ चुपचाप पड़े रहना तो आज मुझे सह्य भी नहीं हो सकता। तुम जानते हो, ऊपर की दो लाइनें लिखने में कितना समय लगाया है? पूरे २२ मिनट। इस समय दूसरा पत्र लिख सकना मेरे लिये असम्भव है। चलो, अब कहीं आवारागर्दी करने जाऊँगा।

सायंकाल ६॥ बजे।

मेरा जी इस समय बहुत प्रसन्न है। मेरी टाँगें, मेरा सम्पूर्ण शरीर बिलकुल थकी हुई हालत में है; परन्तु जी चाहता है कि मैं इस समय भी नाचूँ, कूदूँ और इधर-उधर दौड़ता फिरूँ। मेरे हृदय में इस समय उत्साह का जो अन्धड़ सा चल रहा है, मुझे मालूम है कि उसकी प्रति-क्रिया भी ज़रूर होगी। अपने जी के इस व्यर्थ उत्साह को बहकाने का मुझे इससे बढ़कर अधिक अच्छा और कोई उपाय नहीं मिला कि सुबह का पत्र पूरा करने बैठ जाऊँ।

साँझ हो आई है। आज का सारा दिन मैंने सैर-सपाटे में काटा है। थोड़ी ही देर पहले घर वापस आया हूँ। तुम्हारी चिट्ठी बीच में छोड़कर मैं एक मज़बूत घोड़े पर सैर के लिये निकट निकल गया था। यहाँ के सभी मार्ग मेरे जाने-पहचाने हैं, इससे कोई मार्ग-दर्शक भी मैंने अपने साथ नहीं लिया था। मेरे निवास-स्थान से क़रीब ८ मील की दूरी पर एक बड़ा पहाड़ी झरना है। इस झरने को यहाँ 'निंगली नाला' कहते हैं। मैं आज इसी निंगली नाले तक गया था।

खूब टेढ़ी-मेढ़ी राह है। कहीं पहाड़ों के चक्कर हैं, कहीं घास से मढ़े मैदान, कहीं ऊँचाई-निचाई, कहीं पेचदार मोड़ और कहीं घने जंगल। रास्ता क्या है, ऊबड़-खाबड़ सी एक पगडंडी है। इस रास्ते पर मैंने अपना घोड़ा खूब निश्चिन्तता के साथ दौड़ाया। ऊपर असंख्य पक्षियों का मधुर कलरव था। राह के दोनों ओर फूल-पत्तियाँ थीं। हवा में सुगन्ध थी। आसमान में सूरज बादलों के साथ आँखमिचौनी खेल रहा था। कभी सरदी बढ़ जाती थी और कभी हल्की-हल्की घाम निकल आती थी। शीघ्र ही मैं निंगली नाले पर जा पहुँचा। झरने के दोनों ओर घना जङ्गल है। बीच में बड़ी-बड़ी चट्टानें पड़ी हैं। एक-एक चट्टान सैकड़ों-हज़ारों टन की होगी। झरने का स्वच्छ जल इन भीमकाय चट्टानों से टकराकर शोर मचाता है, फिसलता है और फिर उछल-उछल

कर इन्हें गीला करता है। झरने की शीतलता, झाग, सफ़ेदी और शोर—ये सब निरन्तर बने रहते हैं। सदा ताज़े सदैव उत्साहपूर्ण।

घोड़े को घास चरने के लिये खुला छोड़कर मैं दो-तीन घण्टों तक झरने की चट्टानों पर स्वच्छन्दतापूर्वक कूदता-फाँदता रहा। अपने कैमरे से इस झरने के मैंने अनेक फोटो भी लिये। खाया, पीया और उसके बाद वापस लौट चला।

वापसी में मैंने अपने घोड़े को सरपट नहीं दौड़ाया। राह के दृश्यों ने मेरा सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींच लिया था, अतः घोड़े पर मैंने किसी तरह का शासन नहीं किया। वह आज़ादी के साथ, चाहे जिस चाल से, चलता रहा। सहसा सामने की ओर से मुझे एक चीख़ सी सुनाई दी। मेरी तन्मयता भङ्ग हो गई। मैंने देखा, सामने के मैदान में एक घोड़ा बेतहाशा दौड़ा चला जा रहा है, और उस पर एक स्त्री सवार है। घोड़े की ज़ीन को लेटी सी दशा में कस कर पकड़े हुये वह नारी सहायता के लिये भरसक चिल्ला रही थी। उसी निगाह में मुझे यह भी दिखाई दिया कि पगडंडी पर तीन-चार अन्य घुड़सवार भी मौजूद हैं। सब की सब लड़कियाँ ही। वे सब असमर्थों का सा भाव धारण किये अपने काश्मीरी कुलियों को वह घोड़ा पकड़ने का आदेश दे रही थीं।

एक ही क्षण में मैंने अपना घोड़ा उसी ओर दौड़ा दिया और शीघ्र ही उस स्त्री-सवार के निकट जा पहुँचा। अपने घोड़े पर से कूद कर मैंने उस घोड़े की लगाम पकड़ ली।

फिर वही आँखें!

मैं सहसा घबरा सा गया। मुझे यह भी नहीं सूझा कि मैं क्या कह कर उस कन्या को आश्वासन दूँ। मगर मेरी घबराहट की ओर उसका ध्यान नहीं गया। वह स्वयं ही बहुत अधिक संकटापन्न दशा में जो थी।

पहले उसी ने मुझे धन्यवाद दिया। मालूम होता है, उसने मुझे पहचाना नहीं। धन्यवाद देकर उसने शीघ्रता से कहा—"बड़ा नटखट घोड़ा है! मैं पहले ही कह रही थी कि मैं इस पर सवार न होऊँगी।"

उसकी आवाज़ में अभी तक भय की कँपकँपी थी। मैंने कहा—"आपने बड़ी हिम्मत दिखाई है। घोड़े की चाल इतनी तेज़ हो जाने पर भी आप गिरी नहीं।"

वह इस पर लजा सी गई। उसने कहा—"मैं घुड़सवारी तो क्या जानूँ। सुना था, इधर के घोड़े बड़े सीधे होते हैं।"

इसी समय उसके साथ की अन्य सभी लड़कियाँ और घोड़ेवाले कुली भी वहाँ आ पहुँचे। घोड़े की लगाम अभी तक मेरे हाथों में थी, और वह लड़की भी अभी तक घोड़े की पीठ पर ही थी। एक काश्मीरी ने लगाम अपने हाथों में थाम ली और दूसरे ने ज़ीन को सम्भाला; वह लड़की नीचे उतर आई। उसके साथ की सब लड़कियों ने मुझे धन्यवाद दिया, और मैंने कहा कि इसमें धन्यवाद की बात ही क्या है।

उन्होंने मुझसे पूछा—"आप किस जगह ठहरे हुये हैं?"

मैंने अपना पता बता दिया।

मेरे निवास स्थान का पता सुन कर जैसे उस लड़की ने मुझे पहचान लिया। उसके मुँह से हठात् निकला—"ओहो।" परन्तु उसी क्षण अपने को पूर्णतः संयत करके उसने बड़ी शान्ति के साथ कहा—"मैं समझ गई।"

इसके बाद दो-चार मामूली सी और बातें भी हुई, और तब वे लोग निंगली नाले की ओर बढ़ गये। जाते हुये वे कल प्रातः के लिये मुझे अपने यहाँ चाय के लिये निमन्त्रित भी करते गये।

उस नटखट घोड़े की रास अब एक काश्मीरी के हाथ में थी। वे सब घोड़े अब बहुत धीमी चाल से जा रहे थे, और वह घोड़ा सब से

पीछे कर दिया गया था। मेरी नज़र अभी तक उसी ओर थी कि कुछ ही दूर जाकर उस लड़की ने पीछे की ओर घूम कर देखा।

अचानक एक बार पुनः मेरी और उसकी नज़र मिल गई।

ओह, फिर वही निष्पाप, लज्जाभरी, स्वच्छ आँखें !

भाई कमल, मुझे नहीं मालूम कि वे लड़कियाँ कौन हैं। सभी नवयुवतियाँ हैं। मेरा अनुमान है कि उनमें से अभी तक किसी का विवाह नहीं हुआ। मैं उनमें से किसी का नाम भी नहीं जानता, मकान का पता देने के लिये केवल एक पुरुष का नाम ही उन्होंने मुझे बताया है। मैं यह भी नहीं जानता कि वे आपस में बहनें हैं, सहेलियाँ हैं, एक साथ पढ़ने वाली हैं या रिश्तेदार हैं। मुझे कुछ भी नहीं मालूम। परन्तु एक बात मैंने अच्छी तरह देख ली। वह यह कि उस लड़की के गेहुएँ चेहरे में असाधारणता ज़रा भी नहीं है। उसकी आँखों में, उसकी पलकों या भौंहों में ऐसी कोई बात नहीं है, जिसके सम्बन्ध में कवि लोग बड़ी-बड़ी उपमाएँ खोज-खोज कर दिया करते हैं। फिर भी उसकी निगाह में कुछ है। क्या है—यह मैं नहीं कह सकता; मगर कुछ है ज़रूर।

बाहर अँधेरा हो गया है। सरदी भी अब अनुभव होने लगी है, अतः प्रणाम।

अभिन्न –
स०

(५)

गुलमर्ग
१७ श्रावण···

प्यारे कमल,

आज जाकर मुझे तुम्हारा पहला पत्र मिला है। तुम सच मानो, गुलमर्ग के छोटे से बाज़ार के साइनबोर्डों के अतिरिक्त यही एक पहली चीज़ है, जिसे मैंने इन पाँच-छै दिनों में पढ़ा है।

मेरा आज का दिन भी बड़े आनन्द से गुज़रा है। सुबह-सुबह मैं उन लोगों के यहाँ चाय पीने गया था। उसके बाद हम लोग एक साथ खिलनमर्ग की सैर के लिये निकल गये। वहाँ घण्टों तक उस खुले मैदान में बैठ कर ताश खेला किये। सैर की, खेले-कूदे और फिर वापस लौट आये। सब लोग मेरे निवास-स्थान पर आये। शाम की चाय यहाँ ही हुई, और अभी-अभी मैं उन्हें उनके घर तक छोड़ कर आ रहा हूँ।

मुझे उनका परिचय भी मिल गया है। वह लड़की अपने भाई और एक चचेरी बहन के साथ काफ़ी दिन हुये यहाँ आई थी। उसके पिता एक सम्पन्न व्यापारी हैं, उनका कारोबार खूब चलता हुआ है। वह लड़की लाहौर के एक महिला-कालेज में पढ़ती है, और बाक़ी तीनों लड़कियाँ उसके क्लास की हैं, उसकी मित्र हैं और उसी के निमन्त्रण पर यहाँ आई हैं। उसके भाई का स्वभाव भी बड़ा मधुर है। गुलमर्ग में उसके दोस्तों की इतनी अधिकता है कि उनकी ओर से छुटकारा पा सकना ही उसके लिये कठिन हो जाता है। हम लोग आपस में खूब हिलमिल गये हैं। मैंने उन लोगों के अनेक फोटो भी लिये हैं।

आज जल्दी ही सो जाने को जी चाहता है। तुम्हारा पत्र इस समय मेरी आँखों के सामने नहीं है। कुछ याद नहीं आ रहा कि तुमने उसमें कोई बात पूछी भी या नहीं। चलो, जाने दो। यह तो मुझे मालूम ही है कि तुम कोई खास काम की बात तो पूछ ही नहीं सकते।

यह भी नामुमकिन नहीं कि मैं यहाँ कुछ दिन और ठहर जाऊँ।

स्नेही—

स०

(६)

गुलमर्ग

१८ श्रावण···

कमल,

साँझ डूबने को है। दिन-भर से आस्मान में बादल छाये हुये थे। इस समय मूसलाधार वर्षा हो रही है। मेरे कमरे की सब खिड़कियाँ बन्द हैं। कमरे में बत्ती जल रही है। मेरे कानों में एक संगीत गूँज रहा है—बहुत करुण, बहुत पवित्र और बहुत ही मधुर। इस संगीत में शब्द नहीं, केवल स्वर है। स्वर भी क्या, केवल गूँज है। छत की टीन पर वर्षा पड़ने की जो यकसाँ आवाज़ हो रही है, वह इस गूँजमय संगीत का साज है और ठण्डी, गीली हवा की धू धू इस संगीत की तान का काम कर रही है।

मैं अकेला हूँ। दिन-भर अकेला नहीं था, परन्तु इस समय फिर से अकेला ही हूँ। वह अपने भाई और छोटी बहन को साथ लेकर यहाँ आई थीं। ३ बजे के क़रीब उसके भाई चाय के एक निमन्त्रण पर बाहर चले गये। वह और उसकी बहन यहाँ ही रह गईं। कलवाले फोटोग्राफ़ धुल कर आ गये थे। उन फोटोज़ की आलोचना-प्रत्यालोचना होती रही। और भी बीसियों तरह की बातें हुईं। शाम का अँधेरा जब बढ़ने लगा, तो मैंने उससे अनुरोध किया कि वह कोई गाना सुनाये। बड़ी झिझक के बाद उसने एक गाना मुझे सुनाया। ओह, वह कितना मधुर गाती है। मैं किसी दूसरे लोक में जा पहुँचा। मुझे नहीं मालूम कि संगीत कब समाप्त हुआ। हाँ, उसके भाई साहब का आना मुझे ज़रूर याद है। देर हो गई थी, अतः वे लोग लौटने को हुये। मैंने उन लोगों को सहन के फाटक से ही विदा दे दी। उन्हें छोड़ने के लिये दूर

तक केवल इसीलिये साथ नहीं गया, क्योंकि मुझे ज्ञात था कि उसके भाई साहब चुपचाप चलना पसन्द नहीं करेंगे, और इस समय मैं न कुछ सुनना चाहता था, न बोलना चाहता था।

उन्हें गये थोड़ी ही देर हुई थी कि ज़ोर की वर्षा शुरू हो गई। मैं तब से इसी कमरे में बैठा हूँ संगीत कभी का थम गया, गानेवाली भी चली गई, मगर उसकी गूँज अभी तक बाक़ी है—उसी तरह जीवितरूप में बाक़ी है। संगीत की यह अनिर्वचनीय, अमूर्त्त गूँज वर्षा की आवाज का प्राकृतिक साज पाकर मानो और भी अधिक मेदिनी बन गई है।

कमल, तुम मेरे सुखःदुख के साथी हो अपनी सभी अनुभूतियाँ तुम से कह कर मैं अपने चित्त का बोझा हल्का किया करता हूँ, मगर यह एक अनुभूति कुछ ऐसी है कि इसे मैं ठीक तौर से व्यक्त भी नहीं कर सकता। मेरे जी में आँधी-सी चल रही है, मगर यह आँधी बिलकुल शब्द रहित है। जैसे नदी का बेगवान पानी अन्दर-ही-अन्दर से किनारे के कछारों को काट रहा हो।

अपनी एक पुरानी धुँधली-सी अनुभूति मुझे इस समय साफ़ तौर से समझ में आ रही है। हम मनुष्यों के बाह्य-जीवन आपस में एक दूसरे पर इतने अधिक आश्रित हो गये हैं कि हम लोगों के लिये इस तरह का एक दिन भी काटना सम्भव नहीं रहा, जब कि एक मनुष्य का किसी भी दूसरे मनुष्य से किसी तरह का वास्ता न पड़े। इस पर भी मैं सदैव अनुभव करता रहा हूँ कि हम लोग आपस में एक दूसरे से बहुत अधिक दूर हैं हृदयों का यह पारस्परिक अपरिच्चितपन हमारे दैनिक व्यवहार में, हमारे सामान्य जीवन में कोई बाधा नहीं डालता। फिर भी हमारे जी को, हमारे अन्तःकरण को और शायद हमारी अन्तरात्मा को भी यह चाह रहती है कि वह किसी दूसरे जी को, किसी दूसरे अंतःकरण को अपना ले। यही चीज़, अन्तरात्मा की यही चाह प्रेम है, जिसे वासना

का परिधान पहना कर हम लोग बहुत शीघ्र मैला कर डालते हैं। आज इस संगीतमय, ठंढे, शान्त और सुन्दरतम वातावरण में मैं यह अनुभव करने लगा हूँ कि मेरे अन्तःकरण में भी इसी तरह की कोई बेचैनी सहसा उठ खड़ी हुई है।

आज उससे मेरी खूब बातें हुईं। अधिकांश बातें बिलकुल बेमतलब की थीं; मगर फिर भी वे बातें अत्यन्त मधुर दिल को सहलानेवाली थीं।

एक बात ऐसी भी हुई, जिसने मेरे हृदय को वेग के साथ झनझना दिया। बातचीत में उसने जरा हैरानी के साथ मुझसे पूछा—"आप अकेले ही रहते हैं?"

मैंने कहा—"हाँ।"

उसने पूछा—"हमेशा इसी तरह रहते हैं?"

मैंने कहा—"प्रायः हमेशा ही।"

कुछ क्षण के बाद उसने मुझसे पूछा—"सुबह आपको दूध पिलाने का काम किसके हाथों में है?"

मुझे उसका यह भोला सा सवाल बहुत ही मधुर जान पड़ा। मैंने कहा—"जो लोग मेरी ज़रूरत की और सब चीजों का इन्तज़ाम करते हैं, वे ही दूध का भी इन्तज़ाम करते हैं।"

उसने फिर पूछा—"आप सुबह खाते क्या हैं?"

मैंने कहा—"दूध, टोस्ट, मक्खन, ओवलटीन और थोड़े से मेवे।"

यों ही बिलकुल निष्कलंक भाव से उसने जरा आग्रह के से स्वर में कहा—"अगर मैं आपके दूध का इन्तज़ाम करनेवाली होती, तो आपको पता लगता कि सुबह के कलेवे में कितना स्वाद आता है।"

मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण झनझना उठा। अपने चेहरे पर हल्की सी और फीकी मुसकराहट ले आने के अतिरिक्त मैं उसकी इस अत्यन्त मधुर बात का कोई जवाब नहीं दे सका।

मुझे मालूम है कि उसने जो कुछ कहा था, इसका कोई गहरा अभिप्राय कदापि नहीं था। सम्भवतः घर के लोगों को सुबह दूध पिलाने का इन्तज़ाम उसी के ज़िम्मे होगा; मगर फिर भी मेरे दिमाग़ ने उसकी इस बात को इतनी गहराई के साथ हृदय के पास पहुँचाया कि मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण बहुत ही मीठे स्वरों में ध्वनित हो उठा।

हाथ ठिठुर रहे हैं। मेरी यह चिट्ठी पढ़ कर तुम कहीं ऊबने तो नहीं लगे? ठीक है न? या अभी कुछ और सुनने की इच्छा है?

तुम्हारा—

स०

(७)

गुलमर्ग

१६ श्रावण

भाई कमल,

इस समय सुबह के ८ बजे हैं। मेरा सामान बँधकर तैयार पड़ा है। सहन में एक कसा हुआ घोड़ा और सामान के टट्टू तैयार खड़े हैं। मैं इसी वक्त नीचे के लिये रवाना होने लगा हूँ। बस, तुम्हें यह पत्र लिख कर मैं घोड़े पर सवार हो जाऊँगा। यह भी पूरी तरह मुमकिन है कि इस पत्र से पहले ही मैं स्वयं तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ।

कल मैंने इरादा किया था कि कम-से कम पाँच दिन यहाँ और ठहरूँगा। उन लोगों से भी मैंने यही बात कही थी। आज दोपहर को

मुझसे मिलने के लिये उन्हें यहाँ आना भी है; मगर आज सुबह नींद से बहुत जल्दी जगकर मैंने यही निश्चय किया कि मुझे यहाँ से चल ही देना चाहिये। इस आशय की एक चिट्ठी उनके नाम पर भी डाल रहा हूँ कि एक अप्रत्याशित कार्य के लिये मुझे इस तरह बिलकुल—अचानक अपनी··नगरी के लिये रवाना होना पड़ रहा है।

तुम इस चिट्ठी को पाकर, अथवा परसों मुझे ही अपने समीप देखकर, हैरान होगे कि बात क्या हुई। कहने को तो मैं तुम्हें भी यही कह सकता हूँ कि अधिक दिन बाहर रहने से काम-काज में हर्ज होता, इसी से चले आना पड़ा, परन्तु दरअसल बात ऐसी नहीं है। बात वास्तव में इतनी ही है कि अपनी शिक्षा और अपनी परिस्थितियों के संस्कारों से बाधित हो कर ही मैं आज यहाँ से चल दिया हूँ।

कुछ समझे ? नहीं, मुझे यक़ीन है कि कमल का दुनियावी दिमाग़ मेरी इस बात का ज़रा भी नहीं समझा होगा।

देखो न, भाई कमल बात यह है कि पश्चिम की शिक्षा ने, पश्चिम के रीति-रिवाजों ने, हमें यह सिखाया है कि हमें अपने दिल को, अपने अन्तःकरण को, बहुत मँहगा बना लेना चाहिये। हम सब से मिलें-जुलें, सब से मीठी-मीठी बातें करें, उनसे फायदा उठायें, इच्छा हो और सम्भव हो, तो उनसे सभी तरह के विनोद और आमोद भी प्राप्त करें, परन्तु अपना अन्तःकरण, अपना दिल अपने ही पास रखें, क्योंकि वह हमारी चीज़ है, और किसी की भी नहीं। अपने दिल को बिलकुल निस्संग बनाने की भी आवश्यकता नहीं है, वह तो आत्म-विनोद का सर्वश्रेष्ठ साधन है। तुम सब से मिलो-जुलो, हँसकर खुल कर, मीठी-मीठी बातें करो, मगर किसी के बन मत जाओ, अपना व्यक्तित्व जुदा रखो।

मैंने यह अनुभव किया है, कमल, कि मेरे हृदय में अभी भावुकता बाक़ी है, वह भी काफ़ी मात्रा में। मेरा हृदय मोह में पड़ गया है।

पूरब के अशिक्षित आदमियों के समान वह चाहता है कि वह जिसकी ओर झुका है, उसीका बन कर रहे, मगर मेरे दिमाग़ की शिक्षा ने मेरे जी को आदेश दिया है कि वह अपने को इस कठिन परीक्षा में न डाले। देखूँ, मेरा दिल कहाँ तक दिमाग़ की बात मान सकता है। देखूँ, गुलमर्ग को भुला सकता हूँ या नहीं। अब तो आ ही रहा हूँ। बेफ़िक्र रहो। तुम्हारे लिये काफ़ी फल अपने साथ लाऊँगा।

अभिन्न—

स०

श्री राधाकृष्ण

जन्मकाल | रचनाकाल

१६६६ वि० | १६८६ वि०

[श्री राधाकृष्ण जी का जन्म रांची (बिहार) में हुआ। वहीं आपने हाई स्कूल तक शिक्षा प्राप्त की। विद्यार्थी अवस्था से ही आपकी रुचि कहानी लिखने की ओर रही और बराबर पत्र पत्रिकाओं में लिखते रहते हैं। आपने गम्भीर कहानियों के सिवा व्यंग और हास्यपूर्ण रचनायें भी उच्च कोटि की और सुन्दर लिखी हैं। 'घोष, बोस, बनर्जी, चटर्जी' नाम से निकलने वाली कहानियाँ बड़ी ही मनोरंजक होती हैं। आप आज कल के कहानी लेखकों में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। दैनिक जीवन के विविध संघर्षपूर्ण घटनाओं वाली कहानियाँ आपकी विशेष आकर्षक और रुचि कर होती हैं। भाषा भी बड़ी सुन्दर और आकर्षक होती है। आपने अपनी श्रेष्ठ रचनाओं के बल पर हिन्दी कहानी जगत में सुन्दर स्थान बना लिया है।]

अवलम्ब

उस पुराने धुराने घर में न जाने कितने परिवारों का निवास है। उन्हीं में से एक घर में सीताराम रहता है। सारा घर बिलकुल सड़ियल है। खास कर के सीताराम का अपना कमरा देखने लायक है! उपदंश के रोगी की तरह चारों ओर घायल दीवारें खड़ी हैं। पलस्तर लोना हो-होकर छूट रहा है एक लोहे की टूटी-सी पुरानी चारपाई है, जो किसी समय अच्छी रही होगी। फटे-पुराने बिस्तर हैं, मैले। सिरहाने अंग्रेजी-हिन्दी किताबों का एक बोझ पड़ा हुआ है। कुछ किताबों के पन्ने फट गये हैं और कमरे में चारों ओर बिखरे पड़े हैं। कोने में एक सुराही है, उसके समीप कांच का एक गिलास। दीवार पर कुछ अंग्रेजी अखबारों से काट कर निकाले गये चित्र टँगे हैं। उनमें देशी-विदेशी दृश्यावलियों की झाँकी हैं, सुन्दर हैं। सब से अच्छी है उनमें महात्मा गांधी की एक तसवीर।

यही कमरा है, जहाँ सीताराम रहा करता है। उसकी भृकुटियाँ तनी रहती हैं। हाथ में ।नीले-लाल रंग की पेंसिल लेकर किताबों पर सिर झुकाये वह न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। बड़ी देर पर वह कुछ मुसकिराता है और किताब पर कहीं लाल रंग से निशान बना देता है।

संसार में वसन्त आता है, जाड़ा आता है, भांति-भांति की ऋतुएं अपनी राह चलती हैं, लेकिन उस कमरे में सदा एक ऐसी ऋतु बनी रहती है, जिसका अस्तित्व बाहर के संसार में और कहीं भी नहीं देखा जा सकता। कमरे में ऊपर छत के साथ चिपकी एक टाट की चाँदनी है। वह भी जगह-जगह पर फट गई है। चारों कोने में मकड़ी का जाला तना है, जहाँ सर्वदा मच्छरों का समूह संगीत-चर्चा में मस्त रहता है।

कमरे के बाद एक छोटासा बरामदा, नाम मात्र का आँगन, एक और कमरा, और कुछ नहीं। आँगन का ओर की खिड़की सदा खुली

रहती है उस खिड़की से होकर आनेवाली हवा में एक विचित्र ठण्डक, एक विचित्र गंध मिली होती है—जैसे कुछ पत्रों के सड़ने की-सी दुर्गन्ध हो। किसी नये आगन्तुक को यह गन्ध अच्छी नहीं लग सकती।

सीताराम एक कम्पनी में क्लर्क है। पचासों क्लर्कों के बीच वह सब से जूनियर है। बीस रुपये का वेतन है, जिससे रोटी चलती है। वह खुद हजामत बना लेता है, उसकी स्त्री खुद बर्तन माँजती है, कपड़े लत्ते धो लेती है। तीन लड़के-बच्चे भी हैं, जो सुख की अपेक्षा अधिक झंझट हैं।

सीताराम को सुबह से लेकर दस बजे तक फुरसत रहती है। दोपहर में वह आफिस जाता है। उसका आफिस क्या है, बिलकुल गोरखधन्धा है! वहाँ के और सभी लोग बंगाली हैं। उनके सुख-दुख, हँसी दिल्लगी सब कुछ अपने ही लोगों में सीमित हैं। सीताराम से न कोई प्रीति रखता है और न सरोकार। अक्सर वे लोग उसकी अनुपस्थिति में उसका मजाक उड़ाते हैं। सीताराम वहाँ सब को नापसन्द है और बेमेल बन कर रहता है। लोग उसके कामों की त्रुटियाँ निकालना ही सब से अधिक मनोरंजन की सामग्री समझते हैं। बार-बार अपनी गलतियों के लिये उससे कैफियत तलब की जाती है। कैफियत का जवाब तो वह दे लेता है, लेकिन उसका कलेजा धक-धक करता रहता है कि कहीं किसी बहाने से उसे हटाकर उसकी जगह किसी बंगाली को न दे दी जाय।

यह बीस रुपयों की नौकरी है कि झंझट है। इस नौकरी की उलझन सुलझाये नहीं सुलझती। बोझ सम्भाले नहीं सम्भलता। वह सदा सब सीनियर लोगों से त्रस्त रहता है। अगर यह रोजी छिन जाय, तो वह जायगा कहाँ? और अमंगल की छाया सदा उसके पीछे-पीछे दौड़ती रहती है।

गरीबों के दोस्त नहीं होते। दोस्ती मतलब की होती है। गरीबों से भला क्या मतलब सधे ? सीताराम का कोई दोस्त नहीं; अपने भी नहीं। वह सदा का अकेला है, हमेशा अपने को अकेला ही पाता है।

और यह जो उसके सिरहाने किताबों का बहुत बड़ा बोझ पड़ा हुआ है, उसमें न कोई महाकाव्य है, न धर्म ग्रन्थ और न कोई उपन्यास ही। ये महज कारखानों दूकानों के सूचीपत्र हैं। न जाने कितनी कम्पनियों के कैटलग होंगे; व्हाइटवे लैडला, अङ्गाल स्टोर, सुख संचारक कम्पनी, शृङ्गार महौषधालय, आयुर्वेदीय फार्मेसी, शक्ति औषधालय, थैंकर स्पिंक, न्यूमैन......न जाने कितने और उसकी यह आदत भी है कि जहाँ किसी नयी कम्पनी का नाम मिला कि उसने पोस्टकार्ड रवाना किया। फिर तीन-चार दिनों के अन्दर ही पोस्टमैन आकर उसके कमरे में एक बन्द सूचीपत्र फेंक जाता है।

बस, ये ही सूचीपत्र आते हैं और न किसी की चिट्ठी आती है, न पत्री। दुनिया में उसका कहीं कोई नहीं है।

स्त्री अपढ़ है। पैसों के अभाव की चर्चा वह निरन्तर मुखर होकर करती है। दिन-रात पैसों की हाय-हाय ! सीताराम इस खटराग से चिढ़ जाता है...कोई ऐसी भी चीज चाहिये जिसे पाकर वह अपनी दुखद स्थिति को भूलकर कुछ सुख पावे।...दुनिया में सब कुछ पैसों से मिलता है।...तो फिर ये ही सूचीपत्र उसके मनबहलाव के सामान हैं।

दुनिया में सूर्योदय हुए बहुत देर हो चुकी थी, लेकिन सीताराम के कमरे में न सम्पूर्ण अन्धेरा ही था और न पूरा प्रकाश। परिवर्तन से सर्वथा मुक्त यह कमरा सांझ-बिहान सदा इसी तरह का रहा करता था। आसपास के रहनेवाले किरायेदार अपने-अपने काम के पीछे व्यस्त थे। उसके बगलवाले कमरे में आज गीत-गान का प्रबन्ध था। हारमोनियम के किसी खास स्वर के साथ तबले के मिलाने की ठिं-ठि-घप्प की

आवाज आ रही थी। गली के उस पार सामने रहनेवाला दूकानदार अपनी एक बूढ़ी ग्राहिका से पुराने पैसों का तकाजा करने के पीछे निसङ्कोच होकर गालियों का प्रयोग कर रहा था। बुढ़िया गाली का जवाब गाली से तो न देती, लेकिन अपने कण्ठ स्वर को उसने इतनी तरक्की दे दी थी कि बरबस लोगों का ध्यान उस ओर खिंच जाता था।

घर के भीतर उसकी स्त्री बर्तन मांज रही थी और अपनी सप्तवर्षीया पुत्री निर्मला को चूल्हे की आग को फूकने का आदेश दे रही थी।

समीप के एक विद्यार्थी के कमरे में होहल्ला मचा हुआ था। लोग अश्लील दिल्लगियाँ कर रहे थे और उजड्ड की तरह हंस रहे थे।

लेकिन सीताराम का ध्यान किसी ओर भी नहीं था। वह एक पैराम्बुलेटरवाले का सूचीपत्र लेकर उसके पन्ने उलट रहा था। बाज वक्त वह घण्टों पन्ना नहीं उलटता। पेंसिल को ललाट से सटाकर बहुत कुछ सोचता और तब धीरे से किसी पर एक लाल निशान बना देता। उस समय उसकी आँखें चमकती रहतीं, मुखमण्डल दमकता रहता।

वह तीस-बत्तीस से ज्यादा उम्र का नहीं होगा, लेकिन गालों में गड्ढे पड़ गये थे, आँखें धंस गई थीं, ललाट के ऊपर सिर के बहुत से बाल उड़ गये थे। देखने में पचास पर पहुँचा हुआ लगता था। ललाट पर सिकुड़न और हड्डी पर लगे चमड़ों की कालिमा बतलाती थी कि यह हँसी खुशी के जीवन को छोड़ बहुत आगे बढ़ गया। मैली धोती, आँखों पर बहुत ज्यादा पावर का चश्मा, देह पर एक छिद्रों से परिपूर्ण जापानी गंजी पहने वह चुपचाप सूचीपत्र पढ़ रहा था।

वह क्या पढ़ता था? अक्सर वह सूचीपत्र में लिखे सारी चीजों की तारीफ पढ़ता। किन चीजों की उसे जरूरत होती या किन चीजों की खासी तारीफ रहती, उनपर उसका मन ललचना स्वाभाविक था। फिर पेंसिल से पसन्द हुई चीज पर एक लाल दाग दे देने में हर्ज क्या है?

कभी किसी सुविधा के समय वह इन चीजों को मंगायेगा। उस समय उसके पास काफी रुपये होंगे। सम्भव है कि उस समय किसी लाटरी में उसका नाम निकल आये या यह भी सम्भव है कि उस समय तक वह हेड क्लर्क हो जायगा। उसे ऐसा लगता, मानो वह दिन बहुत समीप ही है; जैसे कल ही। वह सूचीपत्र से चीजों को पसन्द करता। जी में तरह-तरह की कल्पनाएँ उठतीं। सुख की हिलोरें आने लगतीं। वह भूल जाता कि वह एक महा निर्धन आदमी है और सुख उसके जीवन में शायद कभी नहीं आनेवाला है।

जैसे सांझ के रंगीन आसमान में दूर पर उड़ती हुई चिड़ियाँ ऐसी लगती हैं, मानो यह क्षितिज से सट ही गयी हों; लेकिन सम्भवतः वह क्षितिज से उतनी ही दूर रहती हैं, जितनी दूर से देखनेवाला उसे क्षितिज के बिलकुल समीप देखता है। सीताराम के मन की यही हालत थी। अपनी कल्पना में वह क्षितिज के निकट पहुँच जाता। अभाव...शायद उसे कोई भी अभाव नहीं। वह इन चीजों को पसंद कर रहा है, तो फिर मंगाये क्यों नहीं ?

...यह पैराम्बुलेटर बहुत ही अच्छा है। मेरी छोटी-सी शैला इस पर खूब शोभेगी। सांझ को वह उसे पैराम्बुलेटर पर बिठा देगा। घर के सब लोग चलेंगे। उसकी स्त्री पैराम्बुलेटर को सड़क पर चलाती चलेगी। दोनों मुसकिरा कर बातें करेंगे। आह ! उस समय कितना सुख होगा ?...लेकिन उसका पांच वर्ष का लड़का त्रिपुरारी भी पैराम्बुलेटर पर चढ़ने के लिये मचल उठेगा। अरे, वह तो बात-बात पर जिद ठान लेता है। मन की बात न हो तो रोने लगे। तो हर्ज क्या है; पैराम्बुलेटर कुछ छोटा नहीं, कमजोर भी नहीं। तसवीर में इतना अच्छा लगता है, तो देखने में कितना अच्छा होगा।...बैठ जायगा त्रिपुरारी भी, क्या हर्ज है ! वह रोता है तो अब उसे समझावे कौन ? और निर्मला मेरी उंगली पकड़ कर चलेगी। वह बहुत बक-बक करती

है। एक-एक चीज को देखकर पूछेगी कि यह क्या है; तो इसका क्या होता है; यह बना कैसे ? ऊँह मैं तो जवाब देते देते परेशान हो जाऊँगा। अरे ! यह दूसरा पैराम्बुलेटर तो उससे भी अच्छा है। उफ़, कितना सुन्दर ! शैला के लिये वह इसी पैराम्बुलेटर को लेगा। दाम ? इसकी तीन किस्में हैं। सब से बढ़िया १२५), उससे कम ११०) और सब से घटिया...अभी जब इस तरह का पैराम्बुलेटर लेना ही है, सब से बढ़िया क्यों न ले ? लूंगा तो बस, सवा सौ का लूंगा। चीज देखते हुये दाम कुछ ज्यादा नहीं। नीचे स्प्रिंगों की भरमार है। और चमक कितना रहा है ?...नः वह जरूर इसी को लेगा।

सीताराम ने पेंसिल से उस पर निशान बना दिया।...और ये बच्चों के लिये ट्राइसाइकिल्स हैं। लेकिन जब पैराम्बुलेटर आ जायगा, तो फिर यह साइकिल किस लिये ? अरे हां, त्रिपुरारी...आह, वह इसे पाकर कितना खुश होगा। किसी को छूने भी नहीं देगा। साइकिल पर चढ़कर वह मचला-मचला फिरेगा। और फिर शैला के लिये जब ऐसा सुन्दर पैराम्बुलेटर आ रहा है, तो त्रिपुरारी के लिये कुछ न आये, यह अन्याय है। उसके लिये भी एक साइकिल जरूरी है। यह...यह इसका कितना दाम है ? बीस ! नहीं,नहीं, वह इससे अच्छी चीज लेगा।...और क्या उस गरीब निर्मला के लिये कुछ भी नहीं। उसके लिये भी एक साइकिल लेनी जरूरी है। वह स्कूल जायगी न !...मगर भीड़ भक्कड़ में उसका साइकिल पर चढ़कर जाना ठीक नहीं। संयोग को कौन कहसकता है ? स्कूल की लौरी पर ही स्कूल चली जाया करेगी।...

"सीताराम बाबू।"

एक कर्कश आवाज सुनाई पड़ी। सीताराम ने चौंक कर उसकी ओर देखा। वह झुंझला उठा था और भीतर ही भीतर घबरा गया था। यह घर का मालिक था और पिछले छः महीने का किराया मांगने

आया था। सीताराम वादे पर वादे कर के टाल देता और किराया बराबर बढ़ता चला जा रहा था।

उस घर के मालिक को सीताराम के काल्पनिक पैराम्बुलेटर पर तनिक भी तृष्णा नहीं थी। उसे अपने रुपयों से मतलब था। कठोर स्वर में बोला—"साहब, आप तो अच्छे आदमी हैं मैं जब आता हूँ, आप बराबर टालमटूल करते हैं। आखिर रुपया इतना बढ़ गया है, फिर आप दोगे कहाँ से ? आज मेरा पूरा-पूरा हिसाब चुकती कर दीजिये। अब बिना जोर-जुल्म किये आप नहीं मानेंगे······"

सीताराम की आँखें त्रस्त और करुण हो आयीं, मानो वह घोर जंगल के बीच भेड़ियों से घिर गया हो। उसने बड़े विनीत भाव से कहा—"बाबू साहब, आज तो······आज मुझे माफ करना पड़ेगा।"

बाबू साहब ने पूछा—"आखिर आप कोई खास दिन भी तो बतलाइये। यों ही रोज-रोज दौड़ कर मैं कबतक आऊँ ?"

सीताराम का मन शान्त हुआ। उसने बिना कुछ सोचे-विचारे बड़े सहज स्वर में कहा—"आप सत्ताइस तारीख को आकर अपना कुल रुपया ले जाइये।"

सीताराम के कहने का ढंग ऐसा था, जैसे सत्ताइस तारीख को वह किसी राजा को भी तृप्त कर सकता है, जैसे उस दिन वह कोई करोड़पति हो जाय !

लेकिन उसने मन ही मन निश्चित कर लिया था कि उस दिन वह घर से बहुत दूर टहलने जायगा, जहाँ पर बाबू साहब की परछाईं भी नहीं पहुँच सकती······रुपये !······भला जो धेले-धेले के लिये तरसता हो···!

सेठजी के जाने के बाद वह बड़ी अशान्ति अनुभव करने लगा। सच-मुच बड़ी गर्मी पड़ रही थी। उसे भूख भी मालूम होने लगी।

वह सूचीपत्र देखने के फ़ेर में सब कुछ भूल गया था। आज न उसने कुछ जलपान किया था और न चाय ही पी थी। उसने उठकर अपना काठ का बक्स खोला। एक कोने में एक चवन्नी रखी थी और कुछ पैसे। अभी महीने में आठ दिन बाकी थे और फुटकर खर्च के लिये केवल उतना ही व्यापार था। उसने पैसों को लेकर गिना। सात थे। वह दो पैसे की एक प्याला चाय पीयेगा, दो पैसे का जलपान करेगा। तीन पैसे बच रहेंगे, जिनमें से वह पैसे का पान खायगा। उसने सोचा, इन बाकी दो पैसों को रख ही दूँ। बेकार ले जाने में कोई लाभ नहीं; सम्भव है, खर्च हो जायें। फिर कह उठा --अरे, लिये भी चलूँ...!

(३)

एक दिन सुबह को सीताराम सदा की भांति बैठा हुआ कैटलग देखने में व्यस्त था। 'वाइटवे-लैडला' का नवीन सूचीपत्र आया था। सीताराम की खुशी का कोई ठिकाना नहीं। उसने देखा, कई चीजों की कीमत घट गई है, कुछ की बढ़ गई है। वह तरह-तरह की चीजों को पसन्द कर रहा था। अपने लिये कोट, जूते और क्या-क्या मंगायेगा। निर्मला, त्रिपुरारी, शैला, सब के लिये अच्छी-अच्छी चीजें आयेंगी। वह खुश था अपने को व्यस्त समझ रहा था।

उसकी स्त्री चम्पा आकर बोली—"तुम फिर वही खटराग ले बैठे! रात को तुमने वादा किया था न, कि शैला को आज अस्पताल ले जाओगे!"

शैला सब से छोटी लड़की थी। इधर दो दिन से बीमार थी। शरीर तपता रहता, बार-बार हिचकी और ऊबकाई आती और बेचारी कलप कर रो उठती।

रात को सीताराम ने कहा था कि सुबह इसे अस्पताल ले जाऊँगा, लेकिन वहाँ पर भी कोई अच्छी दवा मिलने की उसे उम्मीद नहीं थी, इसी कारण सूचीपत्र के पन्ने उलट रहा था।

स्त्री की बात सुन वह मन ही मन अत्यन्त लज्जित हुआ और झूठ-मूठ चौंकने का भाव दिखला कर बोला —"ओहो, मैं तो भूल ही गया था। लाओ-लाओ, जरा मेरा छाता ले आओ।"

ह्वाइटवे लैडला के यहाँ के बारह रुपये जोड़े जूते पहनने का हौसला रखनेवाले सीताराम ने पैरों में सवा बरस के चप्पल पहने, पैबन्द से परिपूर्ण छाता लिया और शैला को गोद में लेकर अस्पताल की ओर चला।

सुबह के आठ बज चुके थे। मई महीने की धूप अपना रंग दिखला रही थी।

बाजार खुला हुआ था। लेन-देन, क्रय-विक्रय, इक्का-तांगा, मोटर-फिटिन आदि सब कुछ का शोरगुल एक अजीब तरह का लगता था।

एक तो बुखार और दूसरे बाहर की गर्मी; शैला पिता के कन्धे पर चिपक गई थी।

सीताराम धीरे-धीरे कभी उसका माथा सुहला कर कह उठता—"डर नहीं, बेटी, डर नहीं! हम लोग अस्पताल जा रहे हैं। वहाँ डाक्टर तुम्हें खूब मीठी दवा देगा।"

शैला क्या बोलती। उसे बोलना आता भी नहीं था। उसकी आँखें बन्द हो गई थीं और वह जोर-जोर से सांस ले रही थी।

अस्पताल में पहुँच कर भी उसे शैला को दिखलाने की सुविधा नहीं मिली। डाक्टर वहाँ पर रोगियों की भीड़ से घिरा हुआ था। कोई कायदा नहीं, जो पाता वही आगे बढ़ कर डाक्टर को अपना रोग बतलाता। डाक्टर किसी को जरा यों ही कुछ देख लेता और नहीं तो केवल बात सुन कर ही प्रेसक्रिपशन लिख कर दे देता। भले आदमी यानी जिनके कपड़े साफ थे, गले में सोने के बटन चमक रहे थे, उन लोगों से डाक्टर कुछ दिलचस्पी दिखला कर बातें करता था।

सीताराम आशा देख रहा था कि जरा भीड़ छँटे तो वह शैला को दिखलाये। लेकिन ग्यारह बज गये, डाक्टर को फुरसत नहीं मिली और वह एकाएक कुर्सी खिसका कर उठ कर खड़ा हो गया। सीताराम उसकी ओर बढ़ा आ रहा था, जिसे देखकर बोला—"अब अभी नहीं! अब शाम को आना।"

और उसने टँगे हुए टोप को उतार कर सिर पर रखा और चल दिया।

कमरा खाली हो रहा था। बाहर रोगी आपस में तरह-तरह की बातें कर रहे थे। कम्पाउण्डर की खिड़की पर लोगों के सिर झुके हुये थे। भीड़ खूब थी।

सीताराम शैला को लिये उसी चिलचिलाती धूप में घर लौटा। आज आफिस पहुँचने में उसे काफी देर हुई थी, जिसके लिये हैडक्लर्क की झिड़कियाँ भी सुननी पड़ीं।

(४)

रात हो गई थी। सीताराम के कमरे में फूटी चिमनी की लालटेन जल रही थी। उसके सामने दवाइयों का एक सूचीपत्र था, जिसमें से वह शैला के लिये एक दवा चुन रहा था।

चम्पा ने आकर कहा—"तुम शाम को भी उसे अस्पताल नहीं ले गये। अभी चलकर देखो तो, बेचारी छटपटा रही है।"

सीताराम ने उसकी ओर झुँझलाई आंखों से देखा, किन्तु कुछ कहा नहीं।

अभी वह एक अच्छी दवा पा गया था। उस दवा की एक-दो खुराक से ही बच्चों का कैसा भी बुखार छूट सकता था।

सीताराम की आंखों की ओर देखकर चम्पा सहम गई। कातर-सी होकर पूछा—"क्या कुछ जरूरी काम कर रहे हो?"

सीताराम ने सरोष कहा—"तुम यहाँ से भागो। बेवकूफ कहीं की!"

फिर उसने सिर झुका लिया और 'बङ्गाल केमिकल' के सूचीपत्र में से कोई बहुत ही अच्छी दवा ढूंढ़ने लगा। वह इतना व्यस्त हो गया था, मानो सूचीपत्र की दवा पाकर ही शैला अच्छी हो जायगी।

आखिर आधे घण्टे के बाद मनचाही दवा मिली और उसी समय चम्पा घबराई हुई कमरे में आकर बोली—"अरे, आओ तो, जरा उसे देखो...। हाय भगवान्...!"

वह अधीर थी और फफक-फफक कर रो रही थी।

माँ का रोना सुनकर दोनों बच्चे भी रोते-रोते कमरे में घुस आये।

सीताराम ने कैटलग को फेंक दिया और उठकर बोला—"घबराओ नहीं, उसे मेरे पास लाओ। मैं उसे अभी किसी डाक्टर के यहां ले जाता हूँ।"

वह जानता था कि बक्स में कुछ भी नहीं है, लेकिन फिर भी बक्स को खोलकर डाक्टर की फीस और दवा के दाम के लिये पैसे खोजने लगा!

श्री पहाड़ी

जन्मकाल — रचनाकाल

१९७० वि० — १९८७ वि०

[आपका नाम श्री रमाप्रसाद घिराडयाल है और 'पहाड़ी' उपनाम है। इसी नाम से आपने हिन्दी की समस्त रचनायें लिखी हैं। श्री पहाड़ी ने हिन्दी के आधुनिक कहानी जगत में एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। आपने कालेज की पढ़ाई समाप्त करके पत्रकार जीवन में पदार्पण किया और कई प्रसिद्ध अँग्रेजी पत्रों में आप विशेष प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते रहे। इसके बाद आप हिन्दी सेवा की ओर अग्रसर हुये। आपकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यास भी कई छप चुके हैं। आपका 'सराय' उपन्यास प्रसिद्ध है। पहाड़ी जी हिन्दी के उन जागृत और प्रगतिशील लेखकों में प्रमुख हैं जिन्होंने जनता के हृदय की मार्मिक भावनाओं को अपनी कहानियों में सफलता पूर्वक चित्रित किया है। समाज के वास्तविक वातावरण तथा दैनिक जीवन की उथल पुथल का सच्चा तथा हृदयस्पर्शी चित्र आपकी कहानियों में मिलता है। 'प्रकाश-गृह' नामक प्रकाशन संस्था आपके ही परिश्रम का फल है। भाषा शैली अत्यन्त आकर्षक, मधुर और ललित होती है। हिन्दी-साहित्य को आपसे भविष्य में विशेष आशा है। आप हिन्दी की तन, मन धन से एक सच्चे सेवक हैं। आप देशभक्त, सहृदय और उदार चित्त के व्यक्ति हैं।]

— —

गेंदा

इलाहाबाद में कटरा की लम्बी सड़क के एक ओर गेंदा की पान की दूकान है। वह निरा पान ही नहीं देती, साथ में एक मुसकान भी कर देती है। पान लेते-लेते ग्राहक की आँखों में उसकी मस्ती और गोल-गोल खिंचीं आँखों की छवि पैठ जाती है। गेंदा की दूकान के ग्राहक अधिक यूनीवर्सिटी के विद्यार्थी ही हैं, और भी हैं, पर वह उनके हाथ पान नहीं बेचती। वे सन्ध्या को आते हैं और उस समय उसका स्वामी दूकान पर बैठा करता है।

गेंदा की अवस्था सोलह-सतरह साल की होगी। रंग ज़रा साँवला-सा है, फिर भी क़द की सुघराई ने साधारण सुन्दरियों की श्रेणी में रख दिया है। गेंदा काले रंग की धोती और गुलाबी कमीज़ अधिक पहनती है, माथे पर लाल बिन्दी भी लगाना नहीं भूलती और हाथ-पाँव में लाल लाल मेंहदी लगी रहती है। हाथों में लाख की चूड़ियाँ और पाँवों में बिछुये पहनती है।

गेंदा अपने ग्राहकों में कभी किसी को ढूँढ़ती है। उसकी मुसकान में वेदना की लीक अलग हटी-सी लगती है, उसकी मुसकिराहट में एक ऐसा भाव व्यक्त-सा दीख पड़ता है कि मानों वह दुखी हो। कभी-कभी वह पैसा लेना ही भूल जाती है, तो कभी किसी के पैसे लौटाना ही और कभी तो किसी को ज्यादा पैसे भी दे डालती है। कोई उसे पढ़ नहीं पाता। कोई उसे कुछ कहता नहीं है। उसमें एक ऐसी मोहिनी है कि ग्राहक अपने को भूल जाता है इतना ही नहीं, जो ग्राहक एक बार उसके यहाँ पान खा लेता है, वह फिर यदि कभी इलाहाबाद जाता है, तो समय बचाकर एक पान खा, एक डिबिया सिगरेट ले, एक झलक भर देख आता है। गेंदा अपने ग्राहकों से हँस-खेल भी लेती है।

गेंदा की एक बनी-बनाई दिनचर्या है। सुबह उठकर वह पान, कत्था, चूना, छाली, सिगरेट, इलायची आदि सब सामान देख-सँवारकर रख लेती है। जो चुक जाता है, उसे मँगवाती है। उसका स्वामी बाज़ार चला जाता है। इस बीच गेंदा खाना बना डालती है। दस बजे खाना खाकर उसका स्वामी एक सेठ के यहाँ नौकरी पर चला जाता है और गेंदा बन-ठनकर दस से चार तक अपने ग्राहकों की दुनिया में रम जाती है। गेंदा अपने ग्राहकों का पूरा खयाल रखती है। एक दिन एक बाबू ने 'नेवीकट सिगरेट' माँगा, तो दूसरे दिन सुबह उसने अपने स्वामी को उलहना दिया—"उँह, तुम भी कैसे हो। कल बाबू को 'नेवीकट सिगरेट' नहीं दे पाई। चार डिबिया ले आना।"

एक बाबू ने बनारसी पान एक दिन माँगा, तो दूसरे दिन एक ढोली पान आ गये।

पहले गेंदा सन्ध्या को भी कुछ देर तक दूकान में बैठा करती थी। उसने देखा कि लुच्चे-बदमाश उसे घूरते हैं। कहाँ वह यूनीवर्सिटी के पढ़े-लिखों के साथ चुहलबाज़ी सीखी थी और इधर यह बेहूदा मज़ाक। उसे यह बुरा लगा और बस दूसरे दिन से संध्या को उसने बैठना छोड़ दिया। फिर भी आये दिन संध्या को वे मनचले ग्राहक आवाज़ें कस ही जाते हैं। उस समय भीतर रसोई की धुँधली लाल-लाल रोशनी में उसका घृणित चेहरा साफ़ झलक उठता है; पर वह उस घृणा को पीने की अभ्यस्त हो चुकी है। वह यूनीवर्सिटी के विद्यार्थियों से शिष्ट मीठीं चुटकियाँ लेने में नहीं चूकती। किसी से कहती है—"वाह बाबू, शादी हो गई है, मिठाई खिलाओ न। कल पार्टी थी, मैंने सुन लिया है।"

दूसरे से कहती है—"अच्छा कल सिनेमा गये थे, तभी दिन में नहीं आये कि न हो साथ हो ले। बेकार पैसे बरबाद होंगे। बाबू, मैं ऐसी बेशरम थोड़े ही हूँ······!"

वह अपने ख़ास-ख़ास ग्राहकों की पूरी लिस्ट रखती है। इतना ही नहीं, उनका थोड़ा-थोड़ा पता भी बात-बात में पूछ लेती है और यदि कोई तीन-चार दिनों तक नहीं आता, तो उसके बारे में पूछ-ताछ करती है। इसे वह अपना धर्म समझती है। जब वह फिर आता है, तो पूरी कैफ़ियत माँगती है।

रात्रि को गेंदा अपने स्वामी के समीप से समीप सटकर रहना चाहती है; पर न जाने क्यों नहीं पहुँच पाती। कभी-कभी तो उसका दिल रोना चाहता है, मानों जीवन एक भार-सा हो, मानो वह बड़ी दुःखी हो, लेकिन उसे कोई देखता नहीं, कोई भाँप नहीं पाता। वह नारी-प्रतिमा इसे मुसकिराहट के आँचल से ढँक लेती है।

अपनी अल्हड़ जवानी की थपकियों के साथ यही गेंदा की बनी-बनाई दिनचर्या है।

एक दिन संध्या को गेंदा रोटियाँ सेक रही थी कि उसने बाहर अपने स्वामी के साथ किसी ग्राहक की आवाज़ सुनी। उस परिचित आवाज़ को सुन वह चौंक उठी। उसने दरवाज़े की आड़ से बाहर देखा, तो उसका भ्रम मिट गया। टीन की डिबिया के धुँधले प्रकाश में वह उसे पहचान गई कि वह 'वही' था। वह उद्विग्न हो उठी। उसका जी रोना चाहता था। वह अकेली रोना नहीं चाहती थी, वह चाह रही थी कि कोई उसे समझावे और वह उसकी गोदी में फूट-फूट कर रो, अपना जी हलका कर ले। आज उसे फिर अपने मा-बाप की याद आई, मानों कल ही वह उनको छोड़ आई हो। छोटे भाई-बहन की याद आई, मानो वह अभी उनसे खेल कर थकी-सी खड़ी हो। इतना ही नहीं, उसे वह अमरूद का बग़ीचा भी याद हो आया, जिससे वह अन्तिम बार निकल आई थी उस छोटी-सी झोपड़ी की याद भी आई, जिसे अन्तिम बार माथा टेक वह अपने परिवार का साथ छोड़ आई थी। वह ग्राहक चला गया। गेंदा ने दूर तक अँधियारे में उसे जाते देखा। अब उसका सिर

दुखने लगा, रोटी बनाने की सामर्थ्य भी न रही। वह ग्राहक उसके जीवन को हिला गया। वह उसी ग्राहक के बारे में रसोई के पटड़े पर बैठी न जाने क्या सोचने लगी।

उसे याद आया कि वह अपने छोटे-से अमरूद, आम-नीबू के बाग़ में जिसका उसके पिता ने पाँच साल को ठेका लिया था, कितनी खुश थी। वह बाग़ ही उसका संसार था—आम-अमरूद ही उसके जीवन से खेलते रहे। वह आम के बौरों को देखकर कितनी खुश होती थी वह किस तरह बल्ली लेकर अलग-अलग फ़सलों में पके आम, अमरूद, नीबू, कमरख, बेर तोड़ती थी। कभी कभी उसका पिता पेड़ हिलाता था, तो वह नीचे टोकरियों में अपनी मा-भाई-बहनों के साथ बीनती थी। सारा का सारा चित्र उसकी आँखों में आया। चूल्हे के उठते धुएँ में वह उसे साफ़-साफ़ चित्रित-सा देखने लगी—मानो कि जीवन ही वहाँ बिखरा हो और वह उसे समेट रही हो।

हठात् उसे याद आई कि एक साल अमरूद की फ़सल में एक अहीर का छोकरा उस बाग़ में अमरूद लेने आने लगा था। वह जवान तगड़ा और सुन्दर भी था। उन दिनों न-जाने क्यों इसका जी अच्छा नहीं रहता था। यह कुछ अपने को समझना चाहती थी, पर समझ न पाती थी। यह कुछ ऐसा सोचती थी कि वह किसी की ओट चाहती है। वह अपने हृदय में उठती गुदगुदी को अकेले सँवार कर नहीं रख सकती, बाँटना चाहती है। वह अहीर का छोकरा उसके पिता से अमरूद खरी-दते-खरीदते अक्सर इसे देख भर लेता था। न-जाने क्यों, दोनों की आँखें साथ ही उठ मिल जाती थीं—न यह अपने को छिपा सकती थी, न वह ही।

एक दिन उसका पिता बाज़ार अमरूद बेचने चला गया था, उसकी माँ भी पड़ोस के एक बाग़ में चली गई थी। वह न-जाने क्यों अकेला-

पन महसूस कर रही थी और अमरूद की टहनी पकड़े उसी के सहारे खड़ी हो, न-जाने क्या सोच रही थी।

"गेंदा-गें.ा"—किसी ने पुकारा था।

तंद्रा से चौंक कर इसने उधर देखा तो—वही था। शर्म के मारे इसकी आँखें झुक गई थीं—इसने सटपटा इधर-उधर देखा, तो कोई न था।

उसने समीप आ कहा था—गेंदा, यह लुकाछिपी कब तक—चलो भाग चलें।

यह चुप थी।

"गेंदा...।"

यह कुछ न बोल सकी थी।

"गेंदा,चलो दूर चले जायँगे। वहाँ मैं कमाकर लाऊँगा और तू..."

वह कुछ बोलना चाहती थी—लेकिन निश्चित न कर सकी कि क्या कहे!

"गेंदा, चलो, दूर चले जावेंगे मेरी रानी"—उसने यह कह उसे चूम लिया था।

अब वह भी समझ गई थी कि वह जो कुछ भी कह रहा है, सच ही कह रहा था। उसके समीप ही वह रहना चाहती है। माता-पिता...

"गेंदा, हाँ भर दे मेरी गेंदा.. "वह इसे पकड़े एक टक देख रहा था। इसने भी अपने को छुड़ाना न चाहा।

आखिर इसने भी कुछ निश्चित कर सिर हिला दिया था।

उसने इसके सिर पर हाथ फेर लिया था और इसकी आँखें बरस पड़ी थीं। वह उतावली में कह रहा था—"गेंदा, रात को तैयार रहना, बस हाँ...मैं आऊँगा...७॥ बजे।" इसकी ठोड़ी हिला-हिला कर उसने समझाया था।

फिर वह उसी के साथ भाग आई थी। रेल में जब वह चढ़ी और रेल चलने लगी, तो वह एक बार काँप उठी थी, वह समझ गई थी कि वह एक भारी भूल कर आई है, आगे वह कुछ समझ नहीं पाई। इलाहाबाद में उसकी नींद टूटी, तो उसने देखा कि वह साथ न था, सोचा कहीं इधर-उधर चला गया होगा। बड़ी देर तक वह डब्बे में ही बैठी रही... ··एक-एक करके सब मुसाफिर उतर रहे थे। वह सन्न-सी वहीं बैठी सोच रही थी कि कहाँ जाय।

आख़िर एक मुसाफ़िर ने पूछा—"तुमको कहाँ उतरना है?"

वह चुप रही।

"क्या तुम्हारा साथी खो गया है?"

वह गुमशुम।

"आख़िर गाड़ी में कहाँ तक बैठी रहोगी, लोग क्या समझेंगे? चलो मेरे साथ।"

वह कुछ सोच रही थी—सोचा, आख़िर जो होना है होगा ही··· जहाँ भाग्य ले जाय। चुप-चाप उसके साथ हो ली। घर जाकर इसने अपना सारा हाल सुना दिया। उसकी बीबी मर गई थी। आख़िर निराश हो, इसने उसके उठते अनुरोधों पर अनुरोधों को एक दिन मान लिया और अब पान की दूकान में उसका हाथ बँटाती है।

उस रात्रि जब उसका स्वामी खाना खाने आया, तो देखा कि तरकारी में नमक ज्यादा पड़ा है। रोटियों में धुएँ के दाग़ लगे हैं और वे जली हैं। उसने कहा—"गेंदा, आज तूने खाना बिगाड़ डाला।"

गेंदा जल उठी और कड़ी ज़बान में बोली—"तो मैं क्या करूँ, मुझसे ऐसा ही बनता है। खाना हो तो खा लो।"

उसके स्वामी की समझ में कुछ भी न आया...वह चुप-चाप खाना खाने लगा।

उस रात्रि वह स्वामी के पास अपना हृदय न बिछा पाई। कोने में रज़ाई ओढ़े रात भर न-जाने क्या-क्या सोचती रही।

दूसरे दिन से उसने संध्या को फिर दूकान में बैठना शुरू कर दिया। उसके स्वामी ने इसमें कुछ जानना न चाहा। इसी प्रकार कई दिन गुज़र गये। एक दिन गेंदा अकेली पान, सिगरेट आदि सँवारती दूकान बंद करने की धुन में थी कि एक ग्राहक आ पड़ा...गेंदा उस परिचित ग्राहक को देख चौंक उठी।

उसने कहा---"गेंदा।"

"हाँ,...क्या है बीनू, मैं वही गेंदा हूँ...आँखें फाड़-फाड़ कर क्या देख रहा है। मैं वही हूँ...वही...जिसे तू भगा लाया था...।"

उसने बात काटते कहा—"गेंदा, मुझे माफ़ करना...मैं ग़ल्ती से प्रयाग में उतरा था कि गाड़ी चल दी...फिर।"

"फिर, अच्छा...ठीक मैंने ग़ल्ती समझा था...फिर...फिर क्या हुआ बीनू. अरे तू रो रहा है...बोल...बोल...।"

"परदेश में पहले पहल आया था, जान पहचान न था, तुझको सारे शहर में ढूँढ़ा...फिर नौकरी की तलाश की। कई दिन भूखा रहा, आखिर एक बँगले में चौकीदारी कर रहा हूँ। लेकिन नौकरी फीकी लगती है...गेंदा।"

"फिर मैं क्या करूँ बीनू..."

"गेंदा, चल मेरे साथ चल। हम अब भी दूर क्यों रहें...साथ रहेंगे।"

"नहीं बीनू, अब मैं पराई हूँ।"

"पराई, गेंदा-गेंदा...!"

उसने गेंदा का हाथ पकड़ लिया। गेंदा चौंकती उठ खड़ी हुई। इस हड़बड़ी में मिट्टी के तेल की डिबिया गिर कर बुझ गई। निपट

अँधेरा हो गया। उसने गेंदा को अपने हृदय से चिपटा लिया और उस अँधेरे में बार-बार चूम लिया। गेंदा सिसकियाँ ले रही थी...।

"चलो गेंदा चलो...।"

कुछ देर में गेंदा ने अपने को सँभाल छुड़ा लिया और डरते स्वर में कहा—"ओफ़ बीनू-बीनू ..तूने यह क्या कर दिया बीनू, लोग देखते होंगे, वह शरमा गई और जल्दी से दियासलाई की डिब्बिया ढूँढ़—मिट्टी के तेल की डिब्बिया जला ली, फिर पान लगाते-लगाते कहने लगी—"मैं अब नहीं आ सकती—तू ही बता, कैसे आऊँ ? यह पाप होगा—अधर्म होगा।" कहते-कहते एक मुसकिराहट के साथ पान का बीड़ा उसके मुँह में रख दिया।

बीनू स्तब्ध रह गया।

"सच, सच कहती हूँ बीनू, जी साथ जाने को तड़प रहा है, फिर भी नहीं आ सकती।"

बीनू कुछ बोला नहीं, आँखें फाड़-फाड़ कर देखता ही रह गया।

"ले कैंची की सिगरेट पी ले" कह—एक बत्ती निकाल उसके मुँह में लगा दी और दियासलाई बाल कर उसके मुँह के पास ले गई, तो देखा वह रो रहा था। उसका हाथ काँप उठा। उसने दियासलाई फूंक कर बुझा दी—सन्न-सी रह गई और कहा—"बीनू, बीनू पागल मत बन बीनू, जा-जा अब जा, मेरी कसम रोज़ पान खाने आना, हाँ।"

बीनू ने सिगरेट बाल ली और पैसे निकाल देने लगा। उसने मना करते कहा—"धुत, तुझसे भी पैसे लूँगी !" एक गंभीर मुसकान छोड़ी।

बीनू चला गया।

उस रात्रि उसके स्वामी ने सिनेमा से लौट कर देखा कि तमाम चीज़ें बिखरी हैं और गेंदा उसके पास उदास और हीन-सी बैठी रो रही है। वह कुछ भी न समझ सका। उस रात्रि गेंदा अपने स्वामी के वक्षःस्थल से चिपटी रही, मानों सारा भार हट गया हो। रात्रि को उसके स्वामी ने ऐसा अनुभव किया कि वह बार-बार डरी-सी काँप उठती है

गेंदा रोज़ पान की दूकान में बैठी किसी के आने की राह ताकती है।

बीनू फिर नहीं आया।

श्री अज्ञेय

जन्मकाल | रचनाकाल

१९७० वि० | १९८९ वि०

[आधुनिक हिन्दी कहानी कारों में श्री अज्ञेय ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'विशाल भारत' सम्पादक पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी के प्रोत्साहन और प्रश्रय से आप हिन्दी-क्षेत्र में आये और थोड़े ही अर्से में अपनी श्रेष्ठ कहानियों के द्वारा अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। आपकी कहानियों के दो-एक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'शेखर' नाम के जीवन-उपन्यास की अच्छी ख्याति हुई। श्री अज्ञेय की लेखन-शैली अत्यन्त आकर्षक और सुन्दर है। चरित्र-चित्रण भी बड़ा वास्तविक, मार्मिक और हृदयस्पर्शी होता है। प्रगतिवादी तो आप उच्च कोटि के हैं। समाज तथा दैनिक जीवन की साधारण से साधारण घटनाओं का इतना सफल चित्रण आप करते हैं कि उसका हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कुछ समय तक आप रेडियो विभाग में कार्य करते रहे। आप बड़े ही सज्जन, उदार और सफल कलाकार हैं।]

शत्रु

ज्ञान को एक रात सोते समय भगवान ने स्वप्न में दर्शन दिये, और कहा—"ज्ञान, मैंने तुम्हें अपना प्रतिनिधि बना कर संसार में भेजा है। उठो, संसार का पुनर्निर्माण करो।"

ज्ञान जाग पड़ा। उसने देखा, अन्धकार संसार में पड़ा है, और मानव-जाति उस अन्धकार में पथ-भ्रष्ट होकर विनाश की ओर बढ़ती चली जा रही है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है, तो उसे मानव-जाति को पथ पर लाना होगा, अन्धकार से बाहर खींचना होगा, उसका नेता बन कर उसके शत्रु से युद्ध करना होगा।

और वह जाकर चौराहे पर खड़ा हो गया और सब को सुनाकर कहने लगा—"मैं मसीह हूँ, पैग़म्बर हूँ, भगवान का प्रतिनिधि हूँ। मेरे पास तुम्हारे उद्धार के लिये एक सन्देश है।"

लेकिन किसी ने उसकी बात नहीं सुनी। कुछ उसकी ओर देख कर हँस पड़ते; कुछ कहते, पागल है; अधिकांश कहते, यह हमारे धर्म के विरुद्ध शिक्षा देता है, नास्तिक है, इसे मारो! और बच्चे उसे पत्थर मारा करते।

* * *

आखिर तंग आकर वह एक अँधेरी गली में छिप कर बैठ गया, और सोचने लगा। उसने निश्चय किया कि मानवजाति का सब से बड़ा शत्रु है धर्म, उसी से लड़ना होगा।

तभी पास कहीं से उसने स्त्री के करुण-क्रन्दन की आवाज़ सुनी। उसने देखा, एक स्त्री भूमि पर लेटी है, उसके पास एक बहुत छोटा-सा बच्चा पड़ा है, जो या तो बेहोश है, या मर चुका है, क्योंकि उसके शरीर में किसी प्रकार की गति नहीं है।

ज्ञान ने पूछा—"बहन, क्यों रोती हो ?"

उस स्त्री ने कहा—"मैंने एक विधर्मी से विवाह किया था। जब लोगों को इसका पता चला, तब उन्होंने उसे मार डाला और मुझे निकाल दिया। मेरा बच्चा भी भूख से मर रहा है।"

ज्ञान का निश्चय और दृढ़ हो गया। उसने कहा—"तुम मेरे साथ आओ मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। और उसे अपने साथ ले गया।

ज्ञान ने धर्म के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया। उसने कहा—"धर्म झूठा बन्धन है। परमात्मा एक है, अबाध है और धर्म से परे है। धर्म हमें सीमा में रखता है, रोकता है, परमात्मा से अलग रखता है, अतः हमारा शत्रु है।"

लेकिन किसी ने कहा—"जो व्यक्ति पराई और बहिष्कृता औरत को अपने साथ रखता है, उसकी बात हम क्यों सुनें ? वह समाज से पतित है, नीच है।"

तब लोगों ने उसे समाजच्युत करके बाहर निकाल दिया।

* * *

ज्ञान ने देखा कि धर्म से लड़ने से पहले समाज से लड़ना है। जब तक समाज पर विजय नहीं मिलती, तब तक धर्म का खण्डन नहीं हो सकता।

तब वह इसी प्रकार का प्रचार करने लगा। वह कहने लगा—"ये धर्मध्वजी, ये पोंगे-पुरोहित, मुल्ला, ये कौन हैं ? इन्हें क्या अधिकार है हमारे जीवन को बाँध रखने का ? आओ, हम इन्हें दूर कर दें, एक स्वतन्त्र समाज की रचना करें, ताकि हम उन्नति के पथपर बढ़ सकें।"

तब एक दिन विदेशी सरकार के दो सिपाही आकर उसे पकड़ ले गये, क्योंकि वह वर्गों में परस्पर विरोध जगा रहा था।

❀ ❀ ❀

ज्ञान जब जेल काट कर बाहर निकला, तब उसकी छाती में इन विदेशियों के प्रति विद्रोह धधक रहा था। यही तो हमारी क्षुद्रताओं को स्थायी बनाये रखते हैं, और उससे लाभ उठाते हैं। पहले अपने को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त करना होगा, तब समाज को तोड़ना होगा, तब...

और वह गुप्त रूप से विदेशियों के विरुद्ध लड़ाई का आयोजन करने लगा।

एक दिन उसके पास एक विदेशी आदमी आया। वह मैले-कुचैले, फटे-पुराने, खाकी कपड़े पहने हुये था। मुख पर झुर्रियाँ पड़ी थीं, आँखों में एक तीखा दर्द था। उसने ज्ञान से कहा—"आप मुझे कुछ काम दें, ताकि मैं अपनी रोज़ी कमा सकूँ। मैं विदेशी हूँ, आपके देश में भूखा मर रहा हूँ। कोई भी काम आप मुझे दें, मैं करूँगा। आप परीक्षा लें। मेरे पास रोटी का टुकड़ा भी नहीं है।"

ज्ञान ने खिन्न होकर कहा—"मेरी दशा तुमसे कुछ अच्छी नहीं है, मैं भी भूखा हूँ।"

वह विदेशी एकाएक पिघल-सा गया। बोला—"अच्छा, मैं आपके दुःख से बहुत दुःखी हूँ। मुझे अपना भाई समझो। यदि आपस में सहानुभूति हो, तो भूखे मरना मामूली बात है। परमात्मा आपकी रक्षा करे। मैं आपके लिये कुछ कर सकता हूँ?"

* * *

ज्ञान ने देखा कि देशी-विदेशी का प्रश्न तब उठता है, जबपेट भरा हो। सब से पहला शत्रु तो वह भूख ही है। पहले भूख को जीतना होगा, तभी आगे कुछ सोचा जा सकेगा······

और उसने 'भूख के लड़ाकों' का एक दल बनाना शुरू किया, जिसका उद्देश था, अमीरों से धन छीन कर सब में समान रूप से वितरण करना, भूखों को रोटी देना इत्यादि। लेकिन जब धनिकों को इस बात का पता चला तब उन्होंने एक दिन चुपचाप अपने चरों द्वारा उसे पकड़वा मँगाया और एक पहाड़ी क़िले में क़ैद कर दिया। वहाँ एकान्त में वे उसे सताने के लिये नित्य एक मुट्ठी चबैना और एक लोटा पानी दे देते, बस।

धीरे-धीरे ज्ञान का हृदय ग्लानि से भरने लगा। जीवन उसे बोझ-सा जान पड़ने लगा। निरन्तर यह भाव उसके भीतर जगा करता कि मैं ज्ञान, परमात्मा का प्रतिनिधि, इतना विवश हूँ कि पेट-भर रोटी का प्रबन्ध मेरे लिये असम्भव है? यदि ऐसा है, तो कितना व्यर्थ है यह जीवन, कितना छूँछा, कितना बेमानी!

एक दिन वह क़िले की दीवार पर चढ़ गया। बाहर खाई में भरा हुआ पानी देखते-देखते उसे एकदम से विचार आया, और उसने निश्चय कर लिया कि वह उसमें कूद कर प्राण खो देगा। परमात्मा के पास लौट कर प्रार्थना करेगा कि मुझे इस भार से मुक्त करो; मैं तुम्हारा प्रतिनिधि तो हूँ; लेकिन ऐसे संसार में मेरा स्थान नहीं है।

वह स्थिर मुग्ध दृष्टि से खाई के पानी में देखने लगा। वह कूदने को ही था कि एकाएक उसने देखा, पानी में उसका प्रतिबिम्ब झलक रहा है और मानों कह रहा है—"बस, अपने-आप से लड़ चुके?"

* * *

ज्ञान सहमकर रुक गया, फिर धीरे-धीरे दीवार पर से नीचे उतर आया और क़िले में चक्कर काटने लगा।

और उसने जान लिया कि जीवन की सब से बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।

———

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

जन्मकाल | रचनाकाल

१६६७ वि० | १६८८ वि०

[श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का जन्म जालंधर (पंजाब) में हुआ। वहीं के स्कूल में आपकी प्रारंभिक शिक्षा हुई। सन् १६३१ में आपने बी० ए० की परीक्षा पास की और अध्यापन कार्य करने लगे। कालेज जीवन में ही आपकी रुचि कहानियाँ और उपन्यास लिखने की ओर अग्रसर हुई, पहले पहल आपने उर्दू में लिखना प्रारंभ किया। आप जालंधर से लाहौर चले आये और कई उर्दू पत्रों के सम्पादकीय विभागों में काम करते रहे। आपकी कहानियों के दो संग्रह उर्दू में प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी पहली कहानी 'हंस' में छपी। इससे उत्साहित होकर आपने अनेक कहानियाँ लिखीं, इसके बाद आपने कानून की डिग्री प्राप्त की। अश्क जी ने अब तक दर्जनों कहानियाँ लिखी हैं। एकांकी नाटक और उपन्यास भी आपने लिखे हैं। आपकी लेखन-शैली अत्यन्त रोचक, आकर्षक और सुन्दर होती है। आप लोकप्रिय और हिन्दी के सजीव लेखक हैं। इस समय आप फिल्मों के सम्वाद लिख रहे हैं।]

पिंजरा

शान्ति ने ऊबकर कागज के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उठ कर अनमनी-सी कमरे में घूमने लगी। उसका मन स्वस्थ नहीं था, लिखते-लिखते उसका ध्यान बँट जाता था। केवल चार पंक्तियाँ वह लिखना चाहती थी, पर वह जो कुछ लिखना चाहती थी उससे लिखा न जाता था। भावावेश में कुछ का कुछ लिख जाती थी। छः पत्र वह फाड़ चुकी थी, यह सातवाँ था।

घूमते-घूमते, वह चुपचाप खिड़की में जाखड़ी हुई। सन्ध्या का सूरज दूर पश्चिम में डूब रहा था। माली ने क्यारियों में पानी छोड़ दिया था और दिन-भर के मुरझाये फूल जैसे जीवनदान पाकर खिल उठे थे। हल्की-हलकी ठंढी हवा चलने लगी थी। शान्ति ने दूर सूरज की ओर निगाह दौड़ाई—पीली-पीली सुनहरी किरणें, जैसे डूबने से पहले, उन छोटे-छोटे बच्चों के खेल में जी भर हिस्सा ले लेना चाहती थीं जो सामने के मैदान की हरी-भरी घास पर उन्मुक्त खेल रहे थे। सड़क पर दो कमीन युवतियाँ, हँसती, चुहलें करतीं, उछलतीं, कूदती चली जा रही थीं। शान्ति ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा और मुड़कर उसने अपने इर्द-गिर्द एक थकी हुई निगाह दौड़ाई—छत पर बड़ा पंखा धीमी आवाज से अनवरत चल रहा था। दरवाजों पर भारी पर्दे हिल रहे थे और भारी कौच और उन पर रखे हुये रेशमी गद्दे, गलीचे और दरम्यान में रखे हुये छोटे-छोटे अठकोने मेज और उन पर पीतल के नन्हें-नन्हें हाथी और फूलदान—और उसने अपने-आप को उस पक्षी-सा महसूस किया, जो विशाल, स्वच्छंद आकाश के नीचे, खुली स्वतन्त्र हवा में आम की डाली से बँधे हुये पिंजरे में लटक रहा हो।

तभी नौकर उसके छोटे लड़के को जैसे बरबस खींचता-सा लाया। धोबी की लड़की के साथ वह खेल रहा था। आव देखा न ताव और

शान्ति ने लड़के को पीट दिया—क्यों तू उन कमीनों के साथ खेलता है, क्यों खेलता है तू ! इतने बड़े बाप का बेटा होकर ! और उसकी आवाज चीख की हद को पहुँच गई। हैरानसे खड़े नौकर ने बढ़ कर जबर्दस्ती बच्चे को छुड़ा लिया। शान्ति जाकर धम से कौच में धँस गई और उसकी आँखों से अनायास ही आँसू बह निकले !

* * *

तब वहीं बैठे-बैठे उसकी आँखों के सामने अतीत के कई चित्र फिर गये !

* * *

उसके पति तब लांडरी का काम करते थे। बाइबिल सोसाइटी के सामने जहाँ आज एक दन्दानसाज बड़े धड़ल्ले से लोगों के दाँत उखाड़ने में निमग्न रहते हैं, उनकी लांडरी थी। आय अच्छी थी, पर खर्च भी कम न था। ३५ रुपया तो दुकान का किराया ही देना पड़ता था और फिर कपड़े धोने और इस्त्री करने के लिये जो तबेला ले रखा था, उसका किराया अलग था। इसके अतिरिक्त धोबियों को वेतन, कोयले, मसाला और सौ दूसरे पचड़े ! इस सब खर्च की व्यवस्था के बाद जो थोड़ा बहुत बचता था, उससे बड़ी कठिनाई के साथ घर का खर्च चलता था और घर उन्होंने दुकान के पीछे ही महीलाल स्ट्रीट में ले रखा था।

महीलाल स्ट्रीट जैसी अब है वैसी हीं तब भी थी। मकानों का रूप यद्यपि इन दस वर्षों में कुछ बदल गया है, किन्तु मकानों में कुछ अधिक अन्तर नहीं आया। अब भी इस इलाके में कमीन बसते हैं और तब भी बसते थे। सील-भरी अँधेरी कोठरियाँ चमारों, धोबरों और शुद्ध हिन्दुओं का निवासस्थान थीं। एक ही कोठरी में रसोई, बैठक, शयन-गृह—और

वह भी ऐसा, जिसमें सास-ससुर, बेटा-बहू, लड़कियाँ-लड़के, सब एक साथ सोते हों।

जिस मकान में शान्ति रहती थी, उसके नीचे टेंडो चमार अपने आठ लड़के-लड़कियों के साथ रहता था, दूसरी चौड़ी गली में मारवाड़ी की दूकान थी और जिधर दरवाजा था, उधर भंगी रहते थे। उनके दरवाजे से जरा ही परे भंगियों ने तंदूर लगा रखा था जिसका धुआँ सुबह-शाम उनकी रसोई में आ जाया करता था, जिससे शान्ति को प्रायः रसोई की खिड़की बन्द रखनी पड़ती थी। दिन-रात वहाँ चारपाइयाँ बिछी रहतीं थीं और कपड़ा बचाकर निकलना प्रायः असम्भव होता था।

गर्मियों के दिन थे और म्यूनिसिपैलिटी का नल काफी दूर अनारकली के पास था, इसलिये गरीब लोगों की सहूलियत के खयाल से शान्ति ने अपने पति की सिफारिश पर नीचे डेवढ़ी के नल से उन्हें पानी लेने की इजाजत दे दी थी। किन्तु जब उन्हें उस मकान में आये कुछ दिन बीते तो शान्ति को मालूम हो गया कि यह उदारता बड़ी मँहगी पड़ेगी। एक दिन जब उसके पति नहाने के बाद साबुन की डिबिया नीचे ही भूल आये और शान्ति उसे उठाने गई तो उसने उसे नदारद पाया, फिर कुछ दिन बाद तौलिया गायब हो गया, और इसी तरह दूसरे-तीसरे कोई न कोई चीज गुम होने लगी। हार कर एक दिन शान्ति ने अपने पति के पीछे पड़कर नल के टोंटी पर लकड़ी का छोटा सा बक्स लगवा दिया और चाबी उसकी अपने पास रख ली।

दूसरे दिन, जब एक ही धोती से शरीर ढांपे वह पसीने से निचुड़ती हुई, चूल्हे के आगे बैठी रोटी की व्यवस्था कर रही थी तो उसने अपने सामने एक काली सी लड़की को खड़ी पाया।

लड़की उसकी समवयस्क ही थी। रंग उसका बेहद काला था और शरीर पर उसने अत्यन्त मैली-कुचैली धोती और बंडी पहन रखी थी। वह अपने गहरे काले बालों में सरसों ही का तेल डालती होगी क्योंकि

उसके मस्तक पर बालों के नीचे पसीने के कारण तेल में मिली हुई मैल की एक रेखा बन रही थी। चौड़ासा मुँह और चपटी सी नाक! शान्ति के हृदय में क्रोध और घृणा का तूफान उमड़ आया। आजतक घर में जमादारिन के अतिरिक्त नीचे रहनेवाली किसी कमीन लड़की को ऊपर आने का साहस न हुआ था और न स्वयं ही उसने किसी से बातचीत करने की कोशिश की थी।

लड़की मुस्करा रही थी, और उसकी आँखों में विचित्र-सी चमक थी।

क्या बात है—जैसे आँखों ही आँखों में शान्ति ने क्रोध से पूछा।

तनिक मुस्कराते हुये लड़की ने प्रार्थना की कि बीबीजी पानी लेना है।

'हमारा नल भंगी-चमारों के लिये नहीं!'

'हम भंगी हैं न चमार!'

'फिर कौन हो?'

'मैं बीबीजी, सामने के मन्दिर के पुजारी की लड़की'...।

लेकिन शान्ति ने आगे न सुना था। उसे लड़की से बातें करते-करते घिन आती थी। धोती के छोर से चाबी खोल कर उसने फेंक दी।

❀ ❀

इस काले-कलूटे शरीर में दिलकाला न था। और शीघ्र ही शान्ति को इस बात का पता चल गया। रोज ही पानी लेने के वक्त चाबी के लिये गोमती आती। गली में पूर्वियों का जो मन्दिर था, वह उसके पुजारी की लड़की थी। अमीरों के मन्दिरों के पुजारी भी मोटरों में घूमते

हैं। यह मन्दिर था गरीब पूर्वियों का, जिनमें प्रायः सब चौकीदार, चपरासी, साईस अथवा मजदूर थे। पुजारी का कुटुम्ब भी खुली गली के एक ओर भंगियों की चारपाईयों के सामने सोता था। और जब रात को कोई ताँगा उधर गुजरता तो प्रायः किसी न किसी की चारपाई उसके साथ घिसटती हुई चली जाती। मन्दिर में कुआँ तो था, पर जब से इधर नल आया उस पर डोल और रस्सी कभी ही रही और फिर जब समीप ही किसी की डेवढ़ी के नल से पानी मिल जाय तो कुएँ पर बाजू तोड़ने की क्या जरूरत है, इसलिये गोमती पानी लेने और कुछ पानी लेने के बहाने बातें करने रोज ही सुबह-शाम आ जाती। बटलोही नल के नीचे रखकर जिसमें सदैव पान के कुछ पत्ते तैरा करते, वह ऊपर चली आती और फिर बातों-बातों में भूल जाती कि वह पानी लेने आई है और उस समय तक न उठती जब तक उसकी बुढ़िया दादी गली में अपनी चारपाई पर बैठी हुई चीख-चीख कर गालियाँ देती हुई उसे न पुकारती।

इसका यह मतलब नहीं कि इस बीच में शान्ति और गोमती में मित्रता हो गई थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि शान्ति जब रसोई में खाना बनाती अथवा अन्दर कमरे में बैठी कपड़े सीती, तो उसको गोमती का सीढ़ियों में बैठ कर बातें करते रहना बुरा नहीं लगता था। कई तरह की बातें होतीं—मुहल्ले के भंगियों की बातें चमारों के घरेलू झगड़ों की बातें और फिर कुछ गोमती की निजी बातें। इस बीच में शान्ति को मालूम हो गया कि गोमती का विवाह हुये वर्षों बीत चुके हैं, पर उसने अपने पति की सूरत नहीं देखी! बेकार है, इसलिये न वह उसे लेने आता है और न उसके पिता उसे उसके साथ भेजते हैं।

कई बार छेड़ने की गर्ज से, या कई बार आनन्द मात्र लेने की गर्ज से ही शान्ति उससे उसके पति के सम्बन्ध में और उसके अपने मनो-

भावों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछती। उत्तर देते समय गोमती शर्मा जाती थी।

किन्तु इतना सब होते हुये भी उसकी जगह वहीं सीढ़ियों में ही बनी रही।

❀ ❀

फिर किस प्रकार पुजारी की वह काली-कलूटी लड़की वहाँ से उठकर, उसके इतने समीप आ गई कि शान्ति ने एक बार अनायास आलिंगन में लेकर कह दिया—आज से तुम मेरी बहन हुई गोमती—वह सब आज भी शान्ति को स्मरण था।

❀ ❀

सर्दियों की रात थी और अनारकली में सब ओर धुआँ-धुआँ हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे लाहौर के समस्त तंदूरों, होटलों, घरों और कारखानों से सारे दिन उठनेवाले धुएँ ने साँझ होते ही इकट्ठे होकर अनारकली पर आक्रमण कर दिया हो। शान्ति अपने नन्हें को कंधे से लगाये, हाथों में कुछ हल्के-फुल्के लिफाफे थामे क्रय-विक्रय करके चली आ रही थी। वह कई दिन के अनुरोध के बाद अपने पति को इधर ला सकी थी और उन्होंने जी भर खाया-पिया और खरीद किया था। अनारकली के मध्य बंगाली रसगुल्लों की जो दूकान है, वहाँ से रसगुल्ले खाने को शान्ति का बड़ा मन होता था, पर उसके पति को कभी इतनी फुर्सत ही न हुई थी कि वहाँ तक सिर्फ रसगुल्ले खाने के लिये जा सकें। अस्पताल रोड के सिरे पर हलवाई के साथ चाटवाले की जो दूकान है वहाँ से चाट खाने को शान्ति की बड़ी इच्छा थी, पर चाट ऐसी निकम्मी चीज खाने के लिये काम छोड़कर जाने का अवकाश

शान्ति के पति के पास कहाँ ? कई दिनों से वह अपने उम्मी के लिये कुछ गर्म कपड़ों के टुकड़े खरीदना चाहती थी। सर्दी बढ़ रही थी और उसके पास एक भी कोट न था। और फिर गरम कपड़ा न सही, वह चाहती थी कि कुछ ऊन ही मोल ले ली जाय, ताकि नन्हें का स्वेटर बुन दिया जाय। पर उसके पति हूँ', 'हाँ' करके टाल जाते थे, किन्तु उस दिन वह निरन्तर महीने भर तक अनुरोध करने के बाद उन्हें अपने साथ अनारकली ले जाने में सफल हुई थी। और उस दिन उन्होंने जी-भर बंगाली के रसगुल्ले और चाटवाले की चटपटी चाट खाई थी, बल्कि घलुये में मोहन के पकौड़े और मटरोंवाले आलुओं के स्वाद भी चक्खे थे। फिर उम्मी के लिये कपड़ा भी खरीदा था और ऊन भी मोल ली थी और दो आने दर्जन ब्लेडोंवाली गुडवोग की डिब्बिया तथा एक कालगेट साबुन की दो आने वाली टिकिया उसके पति ने भी खरीदी थी। कई दिनों से वे उन्हीं पुराने ब्लेडों को शीशे के ग्लास में तेज करके नहाने वाले साबुन ही से हजामत बनाते आ रहे थे और उस दिन शान्ति ने यह सब खरीदने के लिये उन्हें बस विवस कर दिया था। और दोनों जने यह सब खरीद कर खर्च करने के आनन्द की अनुभूति से पुलकित चले आ रहे थे।

दिसम्बर का महीना था और सूखा जाड़ा पड़ रहा था। शान्ति ने अपने सस्ते पर गरम शाल को नन्हें के गिर्द और अच्छी तरह लपेटते हुये अचानक कहा—निगोड़ा सूखा जाड़ा पड़ रहा है। सुनती हूँ नगर में बीमारी फैल रही है।

पर उसके पति चुपचाप धुएँ के कारण कड़वी हो जानेवाली अपनी आँखों को रूमाल से मलते चले आ रहे थे।

शान्ति ने फिर कहा—हमारी अपनी गली में कई लोग बीमार हो गये हैं। परसों टैंडी चमार का लड़का निमोनिया से मर गया है।

तभी शाल में लिपटा-लिपटा बच्चा हल्के-हल्के दो बार खाँसा और शान्ति ने उसे और भी अच्छी तरह शाल में लपेट लिया।

उसकी बात को सुनी-अनसुनी करके उसके पति ने कहा—आज बेहद बदपरहेजी की है, पेट में सख्त गड़बड़ी हो रही है।

+ +

घर आकर शान्ति ने जब लड़के को चारपाई पर लिटाया और मस्तक पर हाथ फेरते हुये उसके बालों को पिछली तरफ किया तो वह चौंककर पीछे हटी। उसने डरी हुई निगाहों से अपने पति की ओर देखा। वे सिर को हाथों में दबाये नाली पर बैठे थे।

उम्मी का माथा तो तवे की तरह तप रहा है—उसने बड़ी कठिनाई से गले को अचानक अवरुद्ध कर देनेवाली किसी चीज को बरबस रोक कर कहा।

लेकिन उसके पति को कै हुई।

शान्ति का कण्ठ अवरुद्ध सा होने लगा था और उसकी आँखें भर-सी आई थीं, पर अपने पति को कै करते देख बच्चे का खयाल छोड़ वह उनकी ओर भागी। पानी लाकर उनको कुल्ला कराया। निढाल-से होकर वे चारपाई पर पड़ गये पर कुछ ही क्षण बाद उन्हें फिर कै हुई।

शान्ति के हाथ-पाँव फूल गये। घर में वह अकेली। सास, मा पास नहीं, कोई दूसरा नाता-रिश्ता भी समीप नहीं और नौकर—नौकर रखने की गुँजाइश ही कभी नहीं निकली। वह कुछ क्षण के लिये घबरा गई। एक उड़ी-उड़ी-सी दृष्टि उसने ज्वर तपते हुये बच्चे और बदहजमी से निढ़ाल पति पर डाली। अचानक उसे गोमती का ख्याल आया। शान्ति अकेली कभी गली में नहीं उतरी थी, पर सब संकोच छोड़ वह भागी-भागी नीचे गई। अपनी कोठरी के बाहर, गली की ओर, मात्र

ईंटों के छोटे से पर्दे की ओट से बने हुये, रसोईघर में बैठी गोमती रोटी बेल रही थी और चूल्हे की आग से उसका काला मुख चमक-सा रहा था। शान्ति ने देखा —उसका बड़ा भाई अभी खाना खाकर उठा है। तब आगे बढ़ कर उसने इशारे से गोमती को बुलाया। तबे को नीचे उतार और लकड़ी को बाहर खींचकर गोमती उसी तरह भागी आई। तब विनीत-भाव से संक्षिप्त में शान्ति ने अपने पति तथा बच्चे की हालत का उल्लेख किया और फिर प्रार्थना की कि वह अपने भाई से कहकर तत्काल किसी डाक्टर को बुला दे। उनकी लांडरी के साथ ही जिस डाक्टर की दुकान है, वह सुना है पास ही लाज रोड पर रहता है, यदि वह आ जाय तो बहुत ही अच्छा हो। और फिर साड़ी के छोर से पाँच रुपये का एक नोट खोल शान्ति ने गोमती के हाथ में रख दिया कि फीस पहले ही क्यों न देनी पड़े पर डाक्टर को ले अवश्य आये। और फिर चलते-चलते उसने यह भी प्रार्थना की कि रोटी पकाकर सम्भव हो तो तुम ही जरा आ जाना, उम्मी...

शान्ति का गला भर आया था। गोमती ने कहा था।—आप घबरायँ नहीं, मैं अभी भाई को भेज देती हूँ और मैं भी अभी आई और यह कहकर वह भागती सी चली गई थी।

शान्ति वापस मुड़ी, तो सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उसने महसूस किया कि शंका और भय से उसके पाँव काँप रहे हैं और उसका दिल धक-धक कर रहा है।

ऊपर जाकर उसने देखा—उसके पति ऊपर से उतर रहे हैं। हाथ में उनके खाली लोटा है, चेहरा पहले से भी पीला हो गया है, और माथे पर पसीना छूट गया है।

शान्ति के उड़े हुये चेहरे को देख कर उन्होंने हँसने का प्रयत्न करते हुये कहा—घबराओ नहीं, सर्दियों में हैजा नहीं होता।

शान्ति ने रोते हुये कहा—आप ऊपर क्यों गये, वहीं नाली पर बैठ जाते। किन्तु जब पति ने नाली की ओर और फिर चारपाई पर पड़े हुये बीमार बच्चे की ओर इशारा किया, तो शान्ति चुप हो गई। उसने पहले सहारा देकर पति को बिस्तर पर लिटाया फिर नाली पर पानी गिराया, फिर दूसरे कमरे में बिस्तर बिछा, बच्चे को उस पर लिटा आई। तभी गोमती आ गई। खाना तो सब खा चुके थे, अपने हिस्से का आँटा उठा, आग बुझा, वह भाग आई थी।

शान्ति ने कहा—मैं उम्मी को उधर कमरे में लिटा आई हूँ। मुझे डर है उसे सर्दी लग गई है सांस उसे और भी कठिनाई से आने लगी है और खाँसी भी बढ़ गई है। निचली कोठरी में पड़े हुए पुराने लिहाफ से कपड़े ले लो और अँगीठी में कोयले डाल उसकी छाती पर जरा उससे सेंक दो। इनके पेट में गड़बड़ है। मैं इधर इसका कुछ उपचार करती हूँ। कुछ नहीं तो गरम पानी करके बोतल ही फेरती हूँ।

गोमती ने कहा—इन्हें बीबी जी कोई हाजमे की चीज दो। हमारे घर तुम्मे को अजवाइन है! मैं उसमें से कुछ लेती आई हूँ, जब तक डाक्टर आये उसे ही जरा गरम पानी से इन्हें दे दो।

बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के शान्ति ने मैली सी पुड़िया में बँधी काली सी अजवाइन ले ली थी और गोमती अँगीठी में कोयले डाल नीचे कपड़े लेने भाग गई थी।

*

बाहर शाम बढ़ चली थी। वहीं कमरे के अँधेरे में बैठे-बैठे शान्ति की आँखों के आगे चिन्ता और फिक्र के वे सब दिन-रात फिर गये। उनके पति को हैजा तो न था किन्तु गैस्ट्रो ऐन्टिराइटिस तीव्र किस्म का था। डाक्टर के आने तक शान्ति ने गोमती के कहने पर उन्हें तुम्मे की

अजवाइन दी थी, प्याज भी सुँघाया था और गोमती अँगीठी उठाकर दूसरे कमरे में बच्चे की छाती पर सेंक देने चली गई थी। डाक्टर के आने पर मालूम हो चुका था कि उसे निमोनिया हो गया है और अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है।

शान्ति अपने पति और अपने बच्चे, दोनों की एक साथ कैसे तीमारदारी करती, उसने अपनी विवशता से गोमती की ओर देखा था। पर उसे होंठ हिलाने की जरूरत न पड़ी थी, बच्चे की सेवा-शुश्रूषा का समस्त भार गोमती ने अपने कंधों पर ले लिया था। शान्ति को मालूम भी न हुआ था कि वह कब घर जाती है, कब घरवालों को खाना खिलाती है या खाती है या खिलाती खाती भी है या नहीं। उसने तो जब देखा उसे छाया की भाँति बच्चे के पास पाया। कई दिन तक एक ही जून खाकर गोमती ने बच्चे की तीमारदारी की थी।

❀ ❀

दोपहर का समय था, उसके पति दूकान पर गये हुये थे। उम्मी को भी अब आराम था और वह उसकी गोद से लगा सोया पड़ा था और उसके पास ही फर्श पर टाट बिछाये, गोमती पुराने ऊन के धागों से स्वेटर बुनना सीख रही थी। इतने दिनों की थकी-हारी उनींदी शान्ति की पलकें धीरे-धीरे बन्द हो रही थीं, वह उन्हें खोलती थी पर वे फिर बन्द हो हो जाती थीं। आखिर वह वैसे ही पड़ी-पड़ी सो गई थी। जब वह फिर उठी तो उसने देखा, उम्मी रो रहा है, और गोमती उसे बड़े प्यार से सुरीली आवाज में थपक-थपक कर लोरी दे रही है। शान्ति ने फिर आँखें बन्द कर लीं। उसने सुना गोमती धीमे-धीमे स्वर से गा रही थी।

आ री कक्को, जा री कक्को, जङ्गल पक्को बेर
भय्या हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा!

और फिर :

आ री चिड़ैया ! दो पप्पड़ा पकाये जा !

भय्या हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा।

बच्चा चुप कर गया था। लोरी खतम करके उसने बच्चे को गले से लगा कर चूम लिया। शान्ति ने अर्ध-निमीलित आँखों से देखा बच्चे के पीले जर्द सूखे से मुख पर गोमती का काला स्वस्थ मुख झुका हुआ है। सुख के आँसू उसकी आँखों में उमड़ आये। उसने उठ कर गोमती से बच्चे को ले लिया था और जब वह फिर टाट पर बैठने लगी थी तो दूसरे हाथ से शान्ति ने उसका हाथ पकड़ चारपाई पर बिठाते हुये, उसे अपने बाजू से बाँध लिया था और कहा था—आज से तुम मेरी बहिन हुई गोमती !

❀ ❀

आँखें बन्द किये शान्ति इन्हीं स्मृतियों में गुम थी, उसकी आँखों से चुपचाप आँसू बह रहे थे।कि अचानक उसके पति अन्दर दाखिल हुये किसी जमाने में लांडरी चलानेवाले और समय पड़ने पर, स्वयं अपने हाथ से इस्त्री गरम करके कपड़ों को प्रेस करने में भी हिचकिचाहट न महसूस करने वाले ला० दीनदयाल और लाहौर की प्रसिद्ध फर्म 'दीनदयाल एन्ड सन्स' के मालिक प्रख्यात शेयर ब्रोकर लाला दीनदयाल में महान अन्तर था। इस दस वर्ष के अर्से में उनके बाल यद्यपि पक गये थे, किन्तु शरीर कहीं अधिक स्थूल हो गया था। ढीले-ढाले और प्रायः लांडरी के मालिक होते हुये भी मैले कपड़े पहनने की जगह अब उन्होंने अत्यन्त बढ़िया किस्म का रेशमी सूट पहन रखा था और पाँवों में श्वेत रेशमी जुरावें तथा काले हल्के सेंडल पहने हुये थे।

शान्ति ने झट रूमाल से आँखें पोंछ लीं।

बिजली का बटन दबाते हुये उन्होंने कहा—यहाँ अँधेरे में क्या पड़ी हो। उठो बाहर बाग में घूमो-फिरो और फिर बोले इन्द्रानी का फोन आया था कि बहिन यदि चाहें तो आज सिनेमा देखा जाय।

बहिन—दिल ही दिल में विषाद से शान्ति मुस्करायी और उसके सामने एक ओर काली-कलूटी सी लड़की का चित्र खिंच गया जिसे कभी उसने बहिन कहा था। किन्तु प्रकट उसने सिर्फ इतना कहा—मेरी तबीयत ठीक नहीं !

मुँह फुलाये हुये ला० दीनदयाल बाहर चले गये।

तब आँखों को फिर एक बार पोंछ कर और तनिक स्वस्थ होकर, शान्ति मेज के पास आई और कुर्सी पर बैठ, पैड अपनी ओर को खिसका, कलम उठा कर उसने लिखा—

बहिन गोमती,

तुम्हारी बहिन अब बड़ी बन गई है। बड़े आदमी की बीबी है। बड़े आदमियां की बीबियाँ अब उसकी बहनें हैं। पिंजरे में बन्द पक्षी को कब इजाजत होती है कि स्वच्छन्द, स्वतन्त्र विहार करनेवाले अपने हम-जोलियों से मिले ! मैंने तुम्हें कल फिर आने के लिये कहा था, पर अब तुम कल न आना। अपनी इस बंदिनी बहिन को भूलने की कोशिश करना।

शान्ति

इस बार उसने एक पंक्ति भी नहीं काटी और न कागज ही फाड़ा। हाँ, एक बार लिखते-लिखते फिर आँखें भर आने से जो एक-दो आँसुओं की बूँदें पत्र पर अनायास ही गिर पड़ी थीं उन्हें उसने ब्लाटिंग पेपर से

सुखा दिया था। फिर पत्र को लिफाफे में बन्द करके उसने नौकर को आवाज दी और उसके हाथ में लिफाफा देकर कहा कि महीलाल स्ट्रीट में पूर्वियों के मन्दिर के पुजारी की लड़की गोमती को दे आये। और फिर समझाते हुये कहा—गोमती, कुछ ही दिन हुये अपनी ससुराल से आई है।

पत्र लेकर नौकर चला ही था कि शान्ति ने उसे फिर आवाज दी और पत्र उसके हाथ से लेकर फाड़ डाला। फिर धीरे से उसने कहा—तुम गोमती से कहना कि बीबी अचानक आज मैके जा रही हैं और दो महीने तक वापस न लौटेंगी।

यह कह कर वह फिर खिड़की में जा खड़ी हुई और अस्त हो जाने-वाले सूरज के स्थान पर ऊपर की ओर बढ़ते हुये अँधेरे को देखने लगी।

❀ ❀

बात इतनी ही थी कि आज दोपहर को जब वे ब्रिज खेल रहे थे तब नौकर ने आकर खबर दी थी कि महीलाल स्ट्रीट के पुजारी की लड़की गोमती आई है। तब खेल को बीच ही में छोड़ कर, और भूल कर कि उसके पार्टनर राय साहब लाला बिहारीलाल हैं, वह भाग गई थी और उसने गोमती को अपनी भुजाओं में मींच लिया था और फिर वह उसे अपने कमरे में ले गई थी तब दोनों बहुत देर तक अपने दुःख सुख की बातें करती रही थीं। शान्ति ने जाना था कि किस प्रकार गोमती का पति काम करने लगा, उसे ले गया और उसे चार बच्चों की मा बना दिया और गोमती ने उम्मी का और दूसरे बच्चों का हाल पूछा था। ला० दीनदयाल इस बीच में कई बार बुलाने आये थे, पर वह न गई थी और जब दूसरे दिन आने का वादा लेकर उसने गोमती को विदा

किया था तो उसके पति ने कहा था—तुम्हें शर्म नहीं आती, उस उजड्ड और गँवार औरत को लेकर तुम बैठी रहीं, तुम्हें मेरी इज्जत का जरा भी ख्याल नहीं। उसे बगल में लिये उन सब के सामने से गुजर गईं। राय साहब और उनकी पत्नी हँसने लगे और आखिर प्रतीक्षा कर करके चले गये.........

इसके बाद उन्होंने और भी बहुत कुछ कहा था, लेकिन शान्ति ने तो फैसला कर लिया था कि वह पिंजरे को पिंजरा ही समझेगी और उड़ने का प्रयास न करेगी।

श्री अमृतलाल नागर

जन्मकाल | रचनाकाल
१६७० वि० | १६६० वि०

[श्री अमृतलाल नागर लखनऊ के निवासी हैं। आपने लगभग १० वर्षों से हिन्दी में लिखना प्रारंभ किया। आप हास्यरस के उच्च कोटि के लेखक हैं। 'नवाबी मसनद' उपन्यास आपका सुन्दर और मनोरंजक उपन्यास है। आपने 'तुला राम शास्त्री' नामक एक और हास्यपूर्ण उपन्यास लिखा है। इस समय आप बम्बई में रहते हैं। कई सुन्दर और श्रेष्ठ फिल्मों के सम्वाद और कथानक लिखे हैं। नागर जी हास्यरस की सजीव प्रतिमा हैं। आपकी रचना पर उर्दू मुहावरों और भाषा-शैली का सुन्दर प्रभाव पड़ा है। आप एक सफल श्रेष्ठ और उच्च-कोटि के कहानीकार हैं। स्वभाव के बड़े सज्जन और विनोदी व्यक्ति हैं।]

प्याले में तूफ़ान

ऐन आधी रात के वक्त क़ादिर मियाँ को मालूम हुआ कि खुदावन्द करीम ख्वाब में कह रहे हैं—"अमाँ क़ादिर, तुम दुनिया के भोले-भाले बाशिन्दों को मेरा यह इलहाम सुना दो कि कल जुमेरात के दिन शाम को नमाज़ के बाद मैं आऊंगा, और उसी वक्त तमाम लोगों से मिल कर क़यामत का दिन मुक़र्रर करूँगा।" देखते ही देखते मालूम हुआ कि अल्लाह मियाँ की बड़ी लम्बी सफ़ेद दाढ़ी ख्वाब को बटोर कर ले गई; और मियाँ क़ादिर की आँख जो पट से खुली तो देखते क्या हैं कि आसमान में एक बड़ा चमकदार तारा टूट रहा था। मियाँ क़ादिर ने चारपाई पर पड़े कलमा पढ़ा।

पिछली शाम घर में दुपट्टा रँगने के लिये पीला रंग मँगाया गया था। ख्याल आते ही मियाँ क़ादिर ने झट से उठकर उसे खोजा और अपना कुर्ता और लुंगी रँग डाला। बाकी रात खुदा की इबादत में बिताई और सबेरे तड़के ही मियाँ क़ादिर पीला कुर्ता और लुंगी पहन कर घर से निकल पड़े।

पाटे नाले के मोड़ पर मियाँ हादी एक हाथ में चिलम लिये बड़-बड़ाते हुये आते दिखाई पड़े। यह नानबाई को बात-बात में कमीना साला कहते हुये चले आ रहे थे। वजह सिर्फ़ इतनी ही थी कि मियाँ नानबाई की दुकान पर जब आप तशरीफ़ ले गये तो उस वक्त वह भट्ठी में दियासलाई दिखा रहा था। उन्होंने चिलम बढ़ाकर आग माँगी। उसने उनकी 'लिक्विडेशन' में आई हुई आँख की शान में चन्द चुने हुये अलफ़ाज़ कह दिये। इस वक्त जो मियाँ नानबाई के प्रति अपने प्रेम की उमड़ती हुई दरिया में नालायक़, कमीना, उल्लू का पठठा इत्यादि नामों के बड़े-बड़े जहाज़ तैरा रहे थे, यह सब मियाँ नानबाई की

ही बातों के तुफ़ैल से था। मगर जो सामने से मियाँ क़ादिर को इस भेस में आते हुये देखा तो बस एकदम बुत बने खड़े रह गये।

"अमाँ क़ादिर ? अमाँ हैं ! अमाँ किधर चले ?" हादी मियाँ क़ादिर को सिर से पैर तक तीन बार देख गये।

"लाहौलबिलाक़ूवत् !" मियाँ क़ादिर ने निहायत नफ़रत के साथ ज़मीन पर थूक कर कहा—"अबे तुझे इसी वक्त टोकना था, कम्बख्त ?"

"वल्लाह ये मज़ा देखिये। अमाँ तुम तो बिना बात के बिगड़ जाते हो। भाई, बात क्या है ? अमाँ इस नाराज़ी···।"

कहाँ तो मियाँ क़ादिर अल्लाह मियाँ का फ़रमान सुनाने जा रहे थे, और कहाँ कम्बख्त काना मिल गया और वह भी अलस्सुबह, घर से निकलते ही। झुँझलाकर कहा—"ले बस, अब रास्ता छोड़, मनहूस कहीं का। सुबू ही सुबू टोक दिया लेके।"

बस अब हद हो चुकी थी। मियाँ हादो की शान में ऐसे-ऐसे बेहूदा अलफ़ाज कह दिये जायें और मियाँ हादी ज़हर के कड़ुवे घूँट की तरह उसे चुपचाप पी जायँ, यह ज़रा नामुमकिन सी बात है। मगर उस वक्त अगर यह 'नामुमकिन' भी मियाँ क़ादिर के फ़क़ीराना भेस को देखकर 'मुमकिन' हो गया तो कोई ताज्जुब की बात न थी। आप बराबर यह जानने के लिये इसरार कराते ही रहे कि आख़िर हज़रत घर बार छोड़ कर इस तरह जा कहाँ रहे हैं।

इधर मियाँ क़ादिर का यह हाल था कि वह उन्हें एक चाँटा रसीद करने जा ही रहे थे कि भाई वक़ारीदी आते हुये दिखाई पड़े। उन्होंने मियाँ क़ादिर को जो इस भेस में देखा, तो बस देखते ही रह गये, और इसके बाद मियाँ हादी को इस तरह रास्ता रोककर खड़े देखा तो मामला कुछ-कुछ समझ में आया। चट से कह उठे—"अमाँ होगा भी। अब

ो तो हुआ ही करता है। भाई, जिस घर में दो बर्तन होते हैं, बजते ही
हैं। मगर इसमें इतना नाराज़ होने की क्या बात है! अमां, ये तो घर-
घर में लगा ही रहता है। खैर, होगा भी। चलो हम चल के समझाये
देते हैं आइन्दा भौजी तुम्हें इस तरह..."

बक़रीदी मियाँ क़ादिर को घर की तरफ़ ढकेलने लगे। मियाँ क़ादिर
को और भी ताव आ गया। बोले—"कह दिया कि रास्ता छोड़ दो।
मगर तुम लोग मानते ही नहीं। खामखाँ को ताव दिलाये चले जा रहे।
फ़िज़ूल की बकवास लगा रक्खी है। यहाँ हमें पार-वाले साईं जी के
तकिये तक जाना है।"

"न भाईजान! अमे हटाओ इस झगड़े को। घर-घर में यही होता
है। अब कल ही था, मुझसे और तुम्हारी भौजी ..."

"देखा! फिर वही? अमाँ वह बात नहीं, हजार बार कह दिया,
लाख बार समझा दिया कि अल्लाह-ताला..."

बुद्धन, अच्छन, जुम्मन—इतनी देर में सभी जमा हो गये। अब
भाई बक़रीदी समझा रहे थे—"अमाँ तो अल्लाह की इबादत करने से
तुम्हें कौन रोकता है, भाईजान? घर पर बैठकर क्या ये सब नहीं कर
सकते? अब आप ही इन्हें समझाइये, मियाँ अच्छन साहब। देखिये
भला, कोई बात भी हो तो। घर में कोई बात हो गई होगी..."

"देखिये-देखिये, ज़री संभल कर ज़ुबान से बात निकालियेगा, मियाँ
बकरीदी। कह दिया कि कुछ भी..."

"तो आखिर बात क्या है? अब ये जो तुम घर-बार छोड़कर फ़क़ीरी ले
रहे हो, इसका कोई सबब भी होना चाहिये, भाई मेरे..." मियाँ अच्छन
साहब ने क़ादिर की पीठ पर बड़ी गर्म-जोशी के साथ हाथ फेरते हुये कहा।

मियाँ क़ादिर सचमुच निहायत परीशान हो चुके थे। अच्छन साहब
से बड़ी नम्रता के साथ कहा—"वही तो मैं भी अरज़ करने जा रहा हूँ,
बड़े मियाँ। मैंने कहा कि..."

मियाँ क़ादिर की बात शुरू भी न होने पाई थी कि मियाँ बुद्धन बोल उठे—" अब तुम बताओगे क्या ! वह तो सुनी-सुनाई बात है। आखिर इतने आदमी खड़े हैं, क़सम खा के भला कोई यह तो कह दे कि हमारे घर में कोई आज तक कभी भी लड़ाई हुई। अरे भाई, यह तो हुआ ही करता है, आप समझिये कि..."

आँखों में आँसू छलछला आये। मारे ताव के चेहरा सुर्ख हो गया। एक बार पूरे जोश के साथ अपने को छुड़ाकर मियाँ क़ादिर ने बुद्धन की ओर बढ़ते हुये कहा—"अपनी औक़ात समझ के मुँह से बात निकालना चाहिये, समझे बुद्धन, मारे जूतों के खोपड़ी गंजी कर दी होगी। बेईमान कहीं का, बड़ा सुक़रात की दुम बना है। चला वहाँ से बतानेवाला।"

मियाँ बुद्धन को ताव आ गया। मारे तेहे के आगे बढ़कर बोले—"ऐसी मुरव्वत की ऐसी-तैसी। अमाँ तुम्हीं देख लो भाई बक़रीदी, एक तो मैं समझा रहा हूँ और यह हैं कि...। इस हेकड़ी में न रहियेगा मियाँ समझे ! वाह अच्छा खासा स्वाँग बना रखा है। ज़री सा घर में झगड़ा क्या हो गया कि चले साहब फ़क़ीराना भेस धर तमाशा दिखाने ! अमाँ ऐसी-ऐसी लन्तरानियां..."

ताव में आकर मियाँ क़ादिर ने लपककर बुद्धन की गर्दन में हाथ डाल और खोपड़ी पर एक कड़ाकेदार चपत मार उसे ढकेलते हुये कहा—"बड़ा आया है वहाँ से जज साहब का बच्चा बनकर, मियाँ बीबी का फैसला चुकाने। कह दिया फ़ज़ूल की बातें मत करो। मगर नहीं, ख़ामख़ा अपनी हेकड़ी दिखाते जाएँगे। बेईमान कहीं का।"

जब तक लोग आगे बढ़कर इन दोनों का बीच-बचाव करें तब तक मियाँ बुद्धन के दो तीन हाथ करारे करारे पड़ ही गए ! वल्लाह, उस वक्त मियाँ बुद्धन का वह जोश वह बलबले और वह तेहेबाज़ी देखते ही बनती थी। जी में तो बहुत आया कि लपककर मियाँ क़ादिर से

बदला लें, कई बार गालियाँ देते हुए तेज़ी में आ लाल-पीली आँखों के साथ आगे बढ़े भी, मगर मियाँ क़ादिर के कैड़े को देखकर ज़रा सहम जाते थे, दूसरे बीच-बचाव करने वाले भी बहुत से थे। अब लोगों में चेंमें-गोइयाँ यह होने लगीं कि इस वक्त कादिर मियाँ जोश में हैं, अगर फ़क़ीर होकर चल दिए तो चार बाहर वाले आकर यही थूकेंगे कि कि मुहल्लेवालों ने रोका तक नहीं।

भाई बक़रीदी ने मियाँ अब्लुन साहब से कहा—"देखिए बड़े मियाँ, बड़ा ग़जब हो जायगा जो कादिर चल दिया। कसम ख़ुदा की, वल्लाह मैं सच कहता हूँ बड़े मियाँ, कि पूरे मुहल्ले भर के मुँह पर अपने हिसाब जैसे कालिख पुत जायगी और फिर भाई, सच तो यह है कि आज इसके ऊपर, तो कल ख़ुदा न करे हमारे ही ऊपर बीते। और यह तो सब के घर में लगा ही रहता है। मर्द आदमी, किसी बात पर ताव आ गया, घर छोड़कर चले जा रहे हैं, साहब।"

बहरहाल बड़े मियाँ, जुम्मन और बक़रीदी ने मिलकर यह तय किया कि क़ादिर को, चाहे कुछ भी हो, घर लौटाकर ले जाया जायगा। बस फिर क्या था, एक हाथ जुम्मन ने पकड़ा, एक हाथ बक़रीदी ने, कोई पीछे से घेर रहा है, कोई बग़ल से रोक-थाम कर रहा है, और क़ादिर मियाँ हैं कि तमाम उछल-कूद मचा रहे हैं। इस ले-दे के बीच में इनकी सुनता ही कौन है। किसी तरह उन्हें लोग घर की तरफ़ ले ही चले।

* * *

इधर यह हाल कि पास-पड़ोस की तो क्या कहिए, आस-पास के तीन चार मुहल्लों तक की औरतें मियाँ क़ादिर के घर पर जमा हो गई थीं।

सबसे पहले फ़ातिमा को ही इस बात की खबर मिली थी, जब कि मियाँ क़ादिर हार्दा से उलझ रहे थे। बीबी फ़ातिमा ने झप से अपना दुपट्टा सँभालते हुए ऊपर छत से अपनी पड़ोसिन खैरातिन को पुकार कर कहा—"ऐ बहन, तुम्हें एक बात बतावें।"

खैरातिन ने रकाबी धोते हुए तुनुककर जवाब दिया—"ऐ चलो हटो, तुम्हें न तो कुछ काम न धन्धा। बस ले के सुबू-सुबू बातें बनाने बैठ गईं। ऐसा भी क्या मुआ निठल्लापना!"

"ऐ नौज़ बीबी, तुम तो हवा से लड़ती हो। मुझे क्या ग़रज़ पड़ी थी जो तुम्हें कोई बात सुनाने आती। वाह रे दिमाग़! ज़मीन पर पैर ही नहीं पड़ते बीबी के। मर्दुआ ज़रा लाटसाहब की अर्दली में क्या हो गया कि अपने को लाटसाहब की बच्ची समझने लगी।"

"देख खबरदार, जो अब की मरद-पीर तक पहुँची तो तेरा मुँह ही झुलस दूंगी, हाँ! चुड़ैल की नानी कहीं की!"

वाक़या है कि अगर अख्तरी उस वक्त वहाँ न पहुँच जातीं तो मुहल्ले में एक अच्छा खासा हंगामा मच जाता। एक तरफ़ तो लोग मियाँ क़ादिर को मनाने जाते और दूसरी तरफ़ औरतें आपस में तू-तू मैं-मैं कर आसमान को सर पर उठा लेतीं। मगर खैर—मौके पर अख्तरी के पहुँच जाने की वजह से तमाशे की सूरत कुछ और होगई। किस्सा यों हुआ कि अख्तरी जब खैरातिन के यहाँ आग लेने आई तो उसने हाँफते हुए, मियाँ कादिर के फ़क़ीर हो जाने का हाल बतलाया। खैरातिन फ़ातिमा से लड़ना बन्द कर, एकाएक, अख्तरी से मियाँ क़ादिर की बाबत बातें करने लगीं।

बीबी फ़ातिमा ने झमककर कहा—"ऐ बहन, वही तो मैं भी इन्हें सुनाने आई थी। लेकिन यह है कि सुबू सुबू कोसा-काटी करने लगीं। ऐ हाँ, ज़रा इनके मिजाज़ तो देखो। ओफ़्फ़ोह, हवा से लड़ाई लड़ती हैं ये तो!"

खैरातिन ने झपाके के साथ दुपट्टा सिर से उतारते हुए, जोश में आ, फ़ातिमा की तरफ़ बढ़ा-बढ़ाकर कहना शुरू किया—"ऐ तुम तो बड़ी नन्हीं-बाली ! ज़री ईमान से बताओ तो कि मैं किस दिन किसके साथ लड़ी ? मैं तुम्हें बताए देती हूँ, बहन, किसी पर झूठी तोहमत लगाना अच्छा नहीं होता।"

अख्तरी ने बात बदलते हुए कहा—"ये क्या तुम लोग सुबू-सुबू क़सीदा काढ़ने बैठ गईं ? फ़ातिमा बहन, अब तुम कोई नन्हीं सी नहीं रहीं, जो ये सब अच्छा लगे। इस बुढ़ापे में तो ज़री अपनी नल्लो को क़ाबू में रक्खो।"

बीबी फ़ातिमा रो रोकर कुछ कहने ही जा रही थीं कि बाहर के हंगामे ने तीनों का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया। मियाँ क़ादिर उस वक्त मियाँ बुद्धन को सबक़ दे रहे थे। क़िस्सा-कोतः यह है कि इसी तरह धीरे-धीरे चन्द ही मिनट में मुहल्ले की तमाम औरतें इकट्ठा होकर मियाँ क़ादिर के मकान पर मिसकौट करने पहुँच गई थीं। क़ादिर की बीबी उस वक्त इत्मीनान से चारपाई पर बैठी हुई जमुहाइयाँ और अँग-ड़ाइयाँ ले रही थीं। एकदम से जो मुहल्ले की तमाम औरतों ने मिलकर धावा बोला तो ये घबरा उठीं। उधर औरतों ने जो देखा कि बीबी न रोती हैं, न बेहोश हुई और मज़े से चारपाई पर पड़ी हुई अंगड़ाइयाँ ले रही हैं, तो आपस में फस-फस करने लगीं।

एक ने कहा—"ऐ बहन, देखा ? जो ये ऐसी न होती तो मदुआ घर-बार छोड़ कर क्यों जाता ?" दूसरी ने मुँह बिचकाकर उत्तर दिया—"उँह, ऐसी मुई औरत भी किस काम की, जो अपने मरद को यों तक-लीफ़ दे। मुँह नोच ले ऐसी मुई का तो।"

बड़ी खुरशीद ने आगे बढ़कर काँपती हुई आवाज़ के साथ क़ादिर की बीबी से कहा—"ऐ बेटा, तुम्हें अपनी ज़ुबान ज़री क़ाबू में रखनी

चाहिये। ऐसी भी क्या मुई लल्लो कि जो जी में आया निकाल दिया। और हम तो कहते हैं कि भाई, बड़ा ग़मखोर है हमारा क़ादिर। जो और कोई होता तो जुबान खींच कर रख लेता। ऐ, अब तुम भी बच्ची नहीं हो, अल्ला के फ़ज़ल से बाल बच्चे वाली हो, समझदार हो; और क़ादिर भी हमारा कोई निठल्ला नहीं है। तुमको...।"

खुरशीद की बात काट, नाक पर उँगली रखते हुये शाहज़ादी बोल उठी—"ऐ नौज बीबी, ऐ वो निठल्ला क्यों? सैकड़ों लाखों से अच्छा कमाता है। और यह भी नहीं कि उसे कोई बुरी लत ही हो। मैं तुमसे सच कहती हूँ बहन, ऐसा समझदार लड़का हमारे मुहल्ले भर में क्या, शहर भर में कोई नहीं।"

फ़ातिमा ने आगे बढ़कर हाथ नचाते हुये कहा—"ऐ है, कोई लाख समझदार क्यों न हो, मगर यह रोज़-रोज़ की किच-किच हाय-हाय कोई कब तक सहे? मरद आदमी, ताव में आकर फ़क़ीरी ले ली।"

मियाँ क़ादिर की बीबी इन तमाम बातों को सुनकर एकदम हक्का सी हो गई। उसे ख़ाक भी समझ में न आया कि माजरा क्या है। वह बेचारी खड़ी-खड़ी इन औरतों के मुँह की तरफ़ देख रही थी, और वे थीं कि सवाल पर सवाल कर इसके छक्के छुड़ा रही थीं। इस लानत-मलामत से घबराकर आख़िरकार क़ादिर की बीबी सर पर हाथ रख रोने को बैठ गई।

फ़ातिमा ने आगे बढ़कर हाथ हिलाते हुये कहा "और जो पहले ही से इतनी समझ आ जाती तो काहे को ये सब भुगतना पड़ता? मगर नहीं, उस वक्त तो ज़ोम सवार था। उँह, आग लग जाय मुये ऐसे ज़ोम में। ऐसा भी क्या मुआ झगड़ा, जो आदमी को फ़क़ीर बना के ही छोड़ा।"

मियाँ क़ादिर की बीबी यह सब सुनते-सुनते तंग आ चुकी थी। रोकर बोली—"ऐ बहन, ज़रा मेरी भी तो सुन लो। मैं कहती हूँ, मैं अपने इतने बड़े लड़के की क़सम खाती हूँ..."

खुरशीद ने आगे बढ़कर काँपती हुई पर तेज़ आवाज में कहा—"ऐ हं, ज़री देखो तो, मालिक को उधर साईं बना के भेजा, अब लड़के को खाये जाती है। वाहरी औरत! इतनी उमिर तो मेरी भी होने को आई, कोई सत्तर और छै बरस तो मुझे भी ज़माना देखते हो गये, मगर वाह, तुझे क्या कहूँ? अहा-हा बलिहारी है तेरी!"

फ़ातिमा ने शाहज़ादी को टहोका मारते हुये कहा—"ऐ बहन, तुम मेरी क्या उमर समझती हो? कोई साठ और पाँच बरस की उमर होगी मेरी भी। मगर नहीं, ऐसी मुई बदज़ात औरत मैंने भी अपनी उमर भर में नहीं देखी। हम तो कहेंगे कि भई, हमें कोई सूली पर चढ़ाये, मगर अपने लड़के—अपने कलेजे के टुकड़े—की क़सम भई, हमसे तो कभी भी न खाई जाये।"

शाहज़ादी भी कुछ कहने ही वाली थी कि क़ादिर की बीबी एका-एक तड़पकर बोल उठी—"ऐ तुम लोग अपनी ही कहे जाओगी कि किसी की सुनोगी भी? मैं कहती हूँ कि चाहे मुझसे क़सम ले लो, जो मैंने किसी से कुछ भी कहा हो और जो मुझे कुछ भी मालूम हो तो मेरे तन-मन में कीड़े पड़ें।"

अख्तरी ने बड़े लहज़े के साथ कहा—"ओहरी मेरी बन्नो, ऐसी बड़ी भोली तो हो ही।"

अख्तरी और भी अभी न जाने क्या-क्या कहती, मगर उस वक्त तक लोग मियाँ क़ादिर को पकड़े हुये घर ले आये। शाहज़ादी ने जीभ को दाँतों के नीचे दबाते हुये दयनीय मुद्रा बनाकर कहा—"ऐ है ज़री हमारे क़ादिर की तरफ़ देखो तो। बिचारे का मुँह कैसा उतर गया।"

ख़ुरशीद बोली—"ऐ मैं कुरबान जाऊँ। इस मरी-पीटी चुड़ैल ने अल्लाह जाने कैसा-क्या कर दिया कि बेचारा एक रात में ही आधा रह गया।"

बहरहाल, यही हंगामा मचता रहा। इत्तफ़ाक़ से मियाँ शुबराती को एक काम से चौक की तरफ़ जाते वक्त अकबरी दरवाज़े के पास पीरू पहलवान दिखाई पड़े। शुबराती ने लपककर पहलवान के कन्धे पर हाथ रक्खा और बोले—"ये लीजिये तुम तो यहाँ मज़ा कर रहे हो, और वहाँ तुम्हारे दोस्त क़ादिर पर कैसी बीत रही है कि बस अल्लाह ही जानता है।"

पहलवान ने घबराकर पूछा—"क्यों-क्यों, खैरियत तो है न ?"

"सब खैरियत ही है ! वह बेचारा तो घरबार छोड़ फ़क़ीरी लेके चला जा रहा है, और आप खैरियत की दुम पकड़कर चले हैं।"

"अमाँ, हैं ? अमाँ तुम ये क्या कह रहे हो, शुबराती मियाँ ? आख़िर यह बात क्या हुई ?"

मियाँ शुबराती ने एक बार चारों तरफ़ सतर्कता के साथ देखा और फिर पीरू के नज़दीक आते हुये बोले—"क्या हुआ क्या, अमाँ भाई, सच-झूठ की तो अल्लाह ही जाने, मगर हमने सुना है कि उसकी जोरू के साथ लद्दन की निगाहें कुछ ख़राब-सी थीं। क़ादिर ने ये सब देख लिया, बस इसी से उसने फ़क़ीरी ले ली। और इतना तो भई, हम भी कहेंगे पहलवान, कि हज़ारों बार ख़ुद हम ने अपनी आँखों से देखा कि क़ादिर की बीबी और लद्दन हँस-हँस के बातें कर रहे हैं। मगर हम को क्या, हमने सोचा कि किसी के मामले में हम टाँग क्यों अड़ावें ! अरे हाँ भाई, जो जैसा करेगा वैसा ही पावेगा।"

पहलवान ने पूरी बात भी न सुनी, और लपककर क़ादिर के घर की तरफ़ चलो। जाकर देखा तो चारों तरफ़ बड़ी भीड़ जमा है, और

चबूतरे पर पीला कुर्ता और पीली लुंगी पहने मियाँ क़ादिर घुटनों में मुँह छिपाये बैठे हैं। घर के अन्दर अलग हंगामा मचा हुआ है। भीड़ चीरते-चीरते पहलवान क़ादिर के पास तक आये और उसकी पीठ पर हाथ फेरकर बोले—"अमां क़ादिर।"

क़ादिर मियाँ उछल पड़े, और पहलवान को गले से लगाते हुये रोकर बोले—"सबेरे से हमें सब ने तंग कर रक्खा है। इनके हाथों से हमें नजात दिलाओ, भाईजान।"

पीरू पहलवान ने कादिर को सीने से लगाकर भर्राये हुये गले के साथ पूछा—"आखिर तुम्हें ये फ़कीरी लेने की क्या सूझी थी।"

क़ादिर ने रोकर कहा—"अमाँ वही तो बताते हैं। भाईजान, बात यों हुई..." बीच ही में टोककर मियाँ बकरीदी ने आगे बढ़ते हुये कहा—"ये क्या बतावेंगे! मैं तुम्हें सब बताये देता हूँ।"

कादिर मियाँ चीखते हुये बोल उठे—"बस सबेरे से इसी तरह नाकों चना चबवा रहे हैं। पूरी बात सुनते नहीं और बीच में टाँग अड़ा देते हैं।"

पहलवान ने तेवर बदलते हुये कड़ककर कहा—"अबकी जो बोला उसकी जुबान पकड़कर खींच लूंगा। हमें कोई कादिर न समझ ले कि रो देंगे; मारे चाँटों के मुह रायता कर दिया जायगा। हां जी कादिर, तुम कहो।"

कादिर ने अपने आँसू पोंछकर सुबुकते हुये कहना शुरू किया—"अमाँ कल रात को हमने एक ख्वाब देखा कि जैसे बड़ा चाँदना-सा फैल गया है और सामने खुदावन्द-करीम खड़े हुये हमसे कह रहे हैं कि तुम लोगों को यह बतलाओ कि हम कल दुनिया के हाल-चाल देखने आवेंगे और सब का फ़ैसला करेंगे। सो भाई, वही सब कहने मैं आज सूबू पारवाले साहजी के तकिये पर जा रहा था कि इन लोगों ने मुझे

रोक लिया था। सुबू पाँच बजे से, अब ये बारह-एक बजे का टेम हो गया, और अब तक इसी तरह रोक रक्खा है। अब शाम की नमाज़ के बाद अल्लाह-ताला तशरीफ़ लावेंगे और यहाँ ये हाल है कि दुनिया भर में किसी को ख़बर ही नहीं। मगर हम क्या करें? वह रहीमाने रहीम सबके दिल का हाल जानता है। अगर इन लोगों ने रोक न रक्खा होता, तो क्या मैं अब तक ये ख़बर न सुना देता?"

यह हाल अब जो कोई सुनता है, उसीके छक्के-बक्के छूट रहे हैं। आनन-फानन यह ख़बर पटेनाले के कोने-कोने में पहुँच गई। सब लोग मियाँ कादिर की ज़ियारत के लिये आने लगे।

खुदा की मरज़ी, एक घंटे के बाद एकाएक आसमान पर बादल घिर आये, बिजली चमकने लगी, घनघोर काली घटाओं से मूसलाधार बारिश शुरू हो गई। तब तक मियाँ कादिर के इस इलहाम की चर्चा तू-मैं की ज़बान पर होती-होती सारे शहर में फैल गई थी। और उस वक्त भाई बकरीदी के बतला देने की वजह से पूरा-का-पूरा पाटानाला कम्बख्त हादी-काने को कोसता हुआ, तस्बीह के दानों को दनादन फेरता, हाथ और आँखें आसमान की ओर उठाकर रोते हुये कलमा पढ़ रहा था।

———

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

जन्मकाल | रचनाकाल
१९६१ वि० | १९९१ वि०

[हिन्दी की प्रसिद्ध कवियित्री श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने काव्य-रचना में जिस प्रकार हिन्दी संसार में अपना एक स्थान बना लिया है उसी प्रकार पिछले कुछ वर्षों में कहानियाँ लिख कर कथा साहित्य में भी विशेषता प्राप्त कर ली है। अब तक आपके दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—बिखरे मोती और उन्मादिनी। बिखरे मोती पुस्तक पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सेकसरिया पारितोषिक प्राप्त हो चुका है। श्रीमती जी की कहानियों में सामयिक आन्दोलनों की घटनाओं का विशेष प्रभाव है। समाज की भीतरी उथल-पुथल का सुन्दर किंतु प्रभावशाली चित्रण है। आप की कहानियों के पात्र जीवित, चलते फिरते तथा संसार के दैनिक जीवन के प्राणी होते हैं। उनके मानसिक द्वन्द्वों का चित्रण वास्तविकता पूर्ण तथा हृदय पर छाप छोड़ जाने वाला होता है। कृत्रिमता का कहीं भास नहीं होता। देवी जी कवि हैं, इसलिये उनके काव्य की वीर भावनाओं का ओजपूर्ण प्रवाह भी कहानियों में विशेष रूप से पाया जाता है। इस समय आप जबलपुर में रहती हैं और राष्ट्रीय कार्य करने तथा साहित्य सेवा में अपना समय लगाती हैं। आप बड़ी सहृदय और हिन्दी जगत की एक जागृत लेखिका हैं। स्वभाव सरल और मिलनसार है।]

कदम्ब के फूल

"भौजी ! लो मैं लाया।"

"सच ले आये ! कहाँ मिले ?"

"अरे ! बड़ी मुशिकल से ला पाया, भौजी !"

"तो मज़दूरी ले लेना।"

"क्या दोगी ?"

"तुम जो माँगो।"

"पर मेरी माँगी हुई चीज़ मुझे दे भी सकोगी ?"

"क्यों न दे सकूँगी ? तुम मेरी वस्तु मेरे लिये ला सकते हो तो क्या मैं तुम्हारी इच्छित वस्तु तुम्हें नहीं दे सकती ?"

"नहीं भौजी न दे सकोगी, फिर क्यों नाहक कहती हो ?"

"अब तुम्हीं न लेना चाहो तो बात दूसरी है, पर मैंने तो कह दिया कि तुम जो माँगोगे मैं वही दूँगी।"

"अच्छा अभी जाने दो, समय आने पर माँग लूंगा।" कहते हुये मोहन ने अपने घर की राह ली। दूर से आती हुई भामा की सास ने मोहन को कुछ दोने में लिये हुये घर के भीतर जाते हुये देखा था। किन्तु वह ज्योंही नज़दीक पहुँची मोहन दूसरे रास्ते से अपने घर की तरफ़ जा चुका था। वे मोहन से कुछ पूछ न सकीं; पर उन्होंने यह अपनी आँखों से देखा था कि मोहन कुछ दोने में लाया है, किन्तु क्या लाया है यह न जान सकीं।

(२)

घर आते ही उन्होंने बहू से पूछा---"मोहन दोने में क्या लाया था ?"

भामा मन ही मन मुस्करा कर बोली—"मिठाई !"

बुढ़िया क्रोध से तिलमिला कर बोली—"इतना खाती है, दिन भर बकरी की तरह मुँह चला ही करता है, फिर भी पेट नहीं भरता ! बाज़ार से भी मिठाई मंगा-मंगा के खाती है ! अभी मैं न देखती तो क्या तू कभी बतलाती ?"

भामा—(मुस्कराते हुये) "तो बतलाती क्यों ? कुछ बतलाने के लिये थोड़े ही मंगवाई थी ?"

"क्यों, क्या मैं घर में कोई चीज़ ही नहीं हूँ ? अपने लिये तो मिठाई के लिये पैसे हैं। मैं चार पैसे दान दक्षिणा के लिये मांगू तो सदा मुँह से नाहीं निकलती है। तेरा आदमी है तो मेरा भी तो बेटा है। क्या उसकी कमाई में मेरा कोई हक़ ही नहीं। मुझे तो दो बार सूखी रोटी छोड़ कर कुछ भी न नसीब हो और तू मिठाई मंगा-मंगा के खाये। कर ले जितना तेरा जी चाहे। भगवान तो ऊपर से देख रहा है वह तो सज़ा देगा ही।"

(मुस्कराते हुये) "क्यों कोस रही हो मां जी ! मिठाई एक दिन खा ही ली तो क्या हो गया, अभी रखी है तुम भी ले लेना।"

चल रहने दो। अब इन मीठे पुचकारों से किसी और को बहकाना। मैं तेरे सब हाल जानती हूँ। तू समझती होगी कि तू जो कुछ करती है वह कोई नहीं जानता। मैं तो तेरी नस-नस पहिचानती हूँ। दुनिया में बहुत सी औरतें देखी हैं; पर सब तेरे तले-तले।"

(मुस्कराते हुये) "सब मेरे तले-तले न रहेंगी तो करेंगी क्या ? मेरी बराबरी कर लेना मामूली बात नहीं है मैं ऐसी-वैसी थोड़े ही हूँ।"

चल, चल, बहुत बड़प्पन न बघार, नहीं तो सब बड़प्पन निकाल दूंगी।"

भामा अब कुछ चिढ़ गई थी बोली—"बड़प्पन कैसे निकालोगी मां जी, क्या मारोगी ?" माजी को और भी क्रोध आ गया वह बोलीं—"मारूँगी भी तो मुझे कौन रोक लेगा ? मैं गंगा को मार सकती हूँ तो क्या तुझे मारने में कोई मेरा हाथ पकड़ लेगा ?"

"मारो, देखूँ कैसे मारती हो ? मुझे वह बहू न समझ लेना जो सास की मार चुपचाप सह लेती हैं।"

"तो क्या तू भी मुझे मारेगी ? बाप रे बाप ? इसने तो घड़ी भर में मेरा पानी उतार दिया। मुझे मारने को कहती है। आने दे गंगा को मैं कहती हूँ कि भाई तेरी स्त्री की मार सह कर अब मैं घर में न रह सकूँगी। मुझे अलग झोपड़ा डाल दे मैं वहीं पड़ी रहूँगी। जिस घर में बहू सास को मारने के लिये खड़ी हो जाय वहाँ रहने का धरम नहीं। यह कहते-कहते मां जी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगीं।"

भामा ने देखा कि बात बहुत बढ़ गई अतः वह बोली—"मैंने तुम्हें मारने को तो नहीं कहा मां जी ! क्यों झूठमूठ कहती हो। हां, मैं मार तो चुपचाप किसी की न सहूँगी। अपने मां-बाप की नहीं सही तो किसी और की क्या सहूँगी ?

"चुपचाप न सहेगी तो मुझे भी मारेगी न ? वही बात तो हुई। यह मखमल में लपेट-लपेट कर कहती है तो क्या मेरी समझ में नहीं आता।"

मां जी के ज़ोर-ज़ोर से रोने के कारण आसपास की कई स्त्रियां इकट्ठी हो गई। कई भामा की तरफ़ सहानुभूति रखने वाली थीं, कई मां जी की तरफ़; पर इस समय मां जी को फूट-फूट कर रोते देखकर सब ने भामा को ही भला-बुरा कहा। सब मां जी को घेरकर बैठ गईं। भामा अपराधिनी की तरह घर के भीतर चली गई। भामा ने सुना मां जी आसपास बैठी हुई स्त्रियों से कह रही थीं—"आप तो दोना भर-भर

मिठाई मंगा-मंगा कर खाती है। और मैंने कभी अपने लिये पैसे-धेले की चीज़ के लिये भी कहा तो फ़ौरन ही टका सा जवाब दे देती है कहती है पैसा ही नहीं है। इसके नाम से पैसे आ जाते हैं और मेरे नाम से कंगाली छा जाती है। किसी भी चीज़ के लिये तरस-तरस के मांग-मांग के जीभ घिस जाती है, तब जी में आया तो ला दिया नहीं तो कुत्ते की तरह भूंका करो। यह मेरा इस घर में हाल है। आज भी दोना भर मिठाई मंगवाई है। मैंने ज़रा ही पूछा तो मारने के लिये खड़ी हो गई। कहती है, मेरे आदमी की कमाई है, खाती हूँ, किसी के बाप का खाती हूँ क्या ! उसका आदमी है तो मेरा भी तो बेटा है, उसका १२ आने हक़ है तो मेरा ४ आने तो होगा ही।"

पड़ोस की एक दूसरी बुढ़िया बोली—"राम राम, यही पढ़ी लिखी होशियार हैं पढ़ी-लिखी हैं तो क्या हुआ अक़ल तो कौड़ी के बराबर भी नहीं है तुमने नौ महीने पेट में रखा बहिन ! तुम्हारा तो सोलह आने हक़ है। बहू को, बेटा माँ के लिये लौंडी बनाकर लाता है, यह तुम्हारे पैर दाबने और तुम्हारी सेवा करने के लिये हैं। हमारा नन्दन तो जब तक बहू मेरे पैर नहीं दबा लेती, उसे अपनी कोठरी के अन्दर ही नहीं आने देता।"

"अपना ही माल खोटा हो तो परखने वाले का क्या दोष, बहिन ! बेटा ही सपूत होता तो बहू आज मुझे मारने दौड़ती।"

(३)

गंगाप्रसाद गाँव की प्रायमरी पाठशाला के दूसरे मास्टर की जगह के लिये उम्मीदवार थे। साढ़े सत्रह रुपये माहवार की जगह के लिये विचारे दिन भर दौड़-धूप करते, इससे मिल, उससे मिल, न जाने किसकी-किसकी खुशामद करनी पड़ती थी, फिर भी नौकरी पाने की उन्हें बहुत कम उम्मीद थी। इधर वे कई मास से बेकार बैठे थे।

भामा के पास कुछ ज़ेवर थे जो हर माह गिरवी रक्खे जाते थे और किसी प्रकार काट कसर करके घर का ख़र्च चलता था। भामा पैसों को दांत तले दाब कर ख़र्च करती। सास और पति को खिलाकर स्वयं आधे पेट ही खाकर पानी से ही पेट भर कर उठ जाती। कभी दाल का पानी ही पी लिया करती। कभी शाक उबाल कर ही पेट भर लिया करती। रुपये-पैसों की तंगी के कारण घर में प्रायः रोज़ ही इस प्रकार कलह मची रहती।

जब गंगाप्रसाद जी दिन भर की दौड़-धूप के बाद थके-हारे घर लौटे तब शाम हो रही थी, आंगन में उनकी मां उदास बैठी थीं, बेटे को देखा तो नीची आँख कर ली, कुछ बोली नहीं। गंगाप्रसाद अपनी माँ का बड़ा आदर करते थे। उनका बड़ा ख्याल रखते थे। जिस बात से उन्हें ज़रा भी कष्ट होता वह बात वे कभी न करते थे। मां को उदास देखकर वे मां के पास जाकर बैठ गये, प्यार से मां के गले में बाहें डाल दीं; पूछा—"क्यों मां! आज उदास क्यों है? क्या कुछ तबियत खराब है!"

"नहीं, अच्छी है।"

"कुछ तो हुआ है मां! आज तू उदास है।"

अब मां जी से न रहा गया, फूट-फूट के रोने लगीं—"कुछ नहीं मैं आदमी-औरत में लड़ाई नहीं लगवाना चाहती बस इतना ही कहती हूँ कि अब मैं इस घर में न रह सकूँगी, मेरे लिये अलग एक झोपड़ा बनवा दे वहीं पड़ी रहूँगी। जी में आवे तो खरच भी देना नहीं तो मांग के खा लूँगी।"

"क्यों मां! क्या कुछ झगड़ा हुआ है! सच सच कहना!"

"आज ही क्या! यह तो तीसों दिन की बात है! तेरी घरवाली ने मोहन मिठाई से मँगवाई। वह दोना भर मिठाई मेरे सामने लाया। मैं ज़रा पूछने गई तो कहती है—हाँ मंगवाती हूँ, खाती हूँ, अपने

आदमी की कमाई खाती हूँ, कुछ तुम्हारे बाप का तो नहीं खाती ! जब मैंने कहा कि तेरा आदमी है तो मेरा भी तो बेटा है, उसकी कमाई में मेरा भी हक है। तो कहती है कि तुम्हारा हक जब था तब था...अब तो सब मेरा है। ज्यादः बोलोगी तो मार के घर से निकाल दूँगी। तो बाबा तेरी औरत है, तू ही उसकी मार सह, मैं माँग के पेट भले ही भर लूँ पर बहू के हाथ की मार न खाऊँगी।"

गंगाप्रसाद अब न सह सके—"वह तुझे मारेगी माँ! मैं ही न उसके हाथ पैर तोड़ कर डाल दूँगा।"—कहते हुये वे हाथ की लकड़ी उठा कर बड़े गुस्से से भीतर गये। भामा को डाँट कर पूछा—"क्या मँगाया था तुमने मोहन से ?"

गंगाप्रसाद के इस प्रश्न के उत्तर में "कदम्ब के फूल थे, भैय्या !" कहते हुए मोहन ने घर में प्रवेश किया। तब तक भामा ने दोना उठा कर गंगाप्रसाद के सामने रख दिया था। दोने में आठ, दस पीले-पीले गोल-गोल बेसन के लड्डुओं की तरह कदम्ब के फूलों को देखकर गंगाप्रसाद को हँसी आ गई।

मोहन ने दोने में से एक फूल उठाकर कहा—"कितना सुन्दर है यह फूल, भौजी !"

———

श्रीमती उषादेवी मित्रा

जन्मकाल	रचनाकाल
१९५८	१९९० वि०

[आधुनिक हिन्दी कहानी लेखिकाओं में श्रीमती उषा देवी मित्रा का प्रमुख स्थान है। आपने हिन्दी में काफ़ी समय बीतने पर लिखना प्रारंभ किया और थोड़े ही दिनों में इतनी अधिक रचनायें लिख डाली जिनकी संख्या काफ़ी है। आप जबलपुर में रहती हैं। श्री मती उषा देवी के अब तक तीन-चार उपन्यास और लगभग एक दर्जन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आप वंग महिला होते हुये भी हिन्दी की ओर इतनी अधिक रुचि रखती हैं कि वास्तव में हिन्दी भाषियों के लिये एक गौरव का विषय है। आपकी कहानियों में कला की प्रधानता होते हुए भी वास्तविकता का चित्रण बड़ा सजीव और सुन्दर होता है। सामाजिक और घरेलू परिस्थितियों का वर्णन बड़ी सुचारुता और सहृदय दृष्टि से करती हैं। बंगाली होने के नाते आपकी कहानियों पर बंगला के कथा साहित्य का व्यापक प्रभाव है और भाषा शैली भी उसी से प्रभावित है। आप कहानी साहित्य की मर्मज्ञा तो हैं ही साथ ही संगीत तथा घरेलू कलात्मक वस्तुओं के निर्माण में भी पटु हैं। वयो वृद्धा होते हुये भी आपका हिन्दी के प्रति अनुराग सराहनीय और प्रशंसनीय है।]

प्यासी हूँ

कोई बारह बज चुके थे, दुनिया के पर्दे में स्वप्न की रानी झांक रही थी—विजेता की भांति। उसके नूपुर की मिलन गीत से पृथ्वी मूर्च्छित-सी होती जाती थी।

वकील केशव के उस बड़े मकान के सभी कमरों की बत्तियां बुझ चुकी थीं, केवल सहाना का कमरा तब भी बिजली की शिखा से उज्ज्वल हो रहा था। मखमल के कोच पर कुत्ते के बच्चे को लिये वह बैठी थी। पलंग पर के सुफेद रेशम के बिस्तर को किसी ने छुआ तक नहीं था। गुलदस्तों के फूलों की मीठी सुगन्ध से कमरे की हवा व्याकुल हो रही थी, गुलाब-जल से बसे पान के बीड़े अनादर से रकाबी पर ही सूख रहे थे, दीवाल पर के आयल पेण्टिङ्ग चित्रों के नीचे की दीप-शिखायें उस गहरी रात में कुछ म्लान-सी हो रही थीं—शायद नींद से उनकी आंखें भी अलसा रही थीं; किन्तु उसकी पलकों में नींद की एक हल्की-सी छाया भी न थी। वह उस बच्चे को सुला रही थी—परम आदर के साथ। कभी उसे आदर, स्नेह, प्यार से बेचैन कर देती, तो कभी उसे हृदय से लगा लेती—मुंह चूमने लगती। वह भूल बैठी थी पति के अस्तित्व को—जो कि कुछ ही दूर आरामकुर्सी पर अधलेटे हुए नारी-हृदय की माता की प्यास को, मातृत्व की बुभुक्षा को अपलक नेत्रों से देख रहा था, उसकी दृष्टि जीवन्त विस्मय से विमूढ़ हो रही थी, मुकदमे के कागज वैसे ही इधर-उधर पड़े थे, उस ओर ध्यान देने योग्य उसके मन की स्थिति उस समय नहीं थी।

आज अचानक नहीं, परन्तु कई दिनों से केशव शायद अपनी भूल कुछ-कुछ समझ रहा था, एक अनजान दर्द, एक अपरिचित अभाव से वह कभी बेचैन हो जाता, चेष्टा करने पर भी उसकी समझ में नहीं

आता कि वह व्यथा—वह अभाव किस लिए और क्यों है ? वह अन-जान-सा बना रहता।

पत्नी की दीर्घश्वास, कुत्ते के प्रति उसकी वह लालायित दृष्टि केशव के अन्तर के किसी गोपनीय अंश में आघात कर बैठी, जुही की झाड़ी आँखों के सामने से हट गयी, मोती-जैसे फूल बिखर गये, गत दिवस के वे रँगीले दृश्य चल-चित्र के समान सामने अड़ गये, जहां कि एक नारी रूप, रूप-गन्धपूर्ण अपने सुगठित यौवन की मदिरा भरे कलस को लेकर उसी के पैर-तले वर्षों विनिद्र रजनी बिता दिया करती थी। नारी-रूप-उपासक के पैरों में बैठी अपने श्रेष्ठ मातृत्व तक को न्योछावर करने में जिसने विचार तक नहीं किया था, पति की तुष्टि के लिये जिसके नयन, प्रत्येक रोम सदा खुशी की वर्षा किया करते थे, नूतनत्व विहीन, सम्पूर्ण लुटी हुई नारी वह यही है। बाहरी-जगत् के तीव्र आकर्षण, करोड़ों कामों में पिसकर जिसे कि आज बासी माला की तरह दूर फेंक देना पड़ा है, वह दूसरी नहीं—यही है—यही जिसे कि आज इस बिलासिता के अन्दर तपस्विनी गौरी की तरह जागते ही रात बितानी पड़ रही है, कुत्ते और बिल्ली के बच्चों को लेकर मां की प्यास—केशव जबरन ही हंस पड़ा, अपने आपको डांटने लगा—यह सब वह क्या सोच रहा था ? आश्चर्य में था कि ऐसे विचार उसके मन में उठे ही क्यों ?

उस हँसी से सहाना चौंकी—"अभी सोओगे ? बत्ती बुझा दूँ ?"

"नहीं, अभी कागज देखना है।"

"क्या रात-भर काम ही करते रहोगे ? दो बज रहे हैं।"

"पर अभी तक तो तुम्हारे खेल ही को देख रहा था, बुढ़ापे में कुत्ते के पिल्ले से खेलते तुम्हें शर्म नहीं आती ? लोग कहेंगे क्या ?"

सहाना ने सहमी हुई आंखें उठायीं—"उसकी मां मर गयी है,

बच्चा दिन-रात रोता रहता है।"—आंसू छिपाने के लिये उसने मुँह फेर लिया।

"एक दिन मरना सभी को है, फिर कुत्ते-बिल्ली के लिये यदि सभी आंसू बहा दोगी तो मेरे लिये बचेगा ही क्या?"

"तुम फिर वही बातें करते हो?"—उसने अभिमान के साथ मुँह फेर लिया। बहुत दिनों के बाद पति के मुंह से उसी भूले-से परिहास को सुनकर वह विस्मित हो रही थी। गत प्रेम के दिनों का जीवन ही कितना था? बूँद-भर ओस, जुगनू की दीवट, फूल की एक पखुड़ी की तरह छोटे, बहुत ही छोटे दिन, किन्तु उन छोटे दिनों की वह प्रेम-स्मृति सहाना के निकट अमर और अविनाशी थी।

"बहुत दिनों के बाद"—उसने धीरे से कहा।

"मैं उन बातों को भूला नहीं हूँ, सहाना, पर कभी आश्चर्य करता हूँ, सोचता रहता हूँ, कि जिस अन्तर में कभी दिन-रात प्रेम-प्यार की पुकार उठा करती थी, आज चेष्टा करने पर भी क्यों नहीं उठती, शायद मेरा यौवन मर चुका हो।"—केशव का स्वर दर्द से भरा हुआ था।

सहाना हंसी—उस हँसी की जाति ही निराली थी।

(२)

"मेरे पूजा के कमरे में आज से तुम मत जाना दुलहिन।"—सहाना की सास नर्मदा ने कहा।

फूल चुनते-चुनते वह रुकी—"क्यों अम्माजी?"

"सवेरे हलकू को दूध नहीं पिला रही थीं?"

"वह रो रहा था।"

"साईस का लड़का रोये या मरे—अपने को क्या? बड़े घर में आयी हो—जात-पांत का भी तो कुछ विचार किया करो। कहां वह

जैसवारा और कहां हम ब्राह्मण, कुत्ते-बिल्ली दिन-भर लिये रहती हो—मेरे हजार सिर पीटने पर भी मानती नहीं दिन-पर-दिन तुम हठी होती जाती हो, ऐसा अनाचार मैं सह नहीं सकती।"

उत्तर देने के लिये सुहाना के कण्ठ में शब्दों की भीड़-सी लग गई, किन्तु फिर भी उसका उत्तर संक्षिप्त ही हुआ—"वह छः महीने का अबोध शिशु है मां, मरते समय दुखिया उस बच्चे को मुझे ही सौंप गयी थी।"

"आज जैसवारा, तो कल मेहतर के लड़के को उठा लाना, मेरे रहते इस घर में तेरा अधिकार ही कौन-सा है? मेरे मत के विरुद्ध यहाँ कोई काम नहीं हो सकता, उसे अभी दूर कर दे।"—गृहिणी झुंझला पड़ीं।

"नहीं।"

"क्या कहा?"

"नहीं।"

नर्मदा के चिल्लाने से केशव भीतर आ गया—"क्या है?"

"भैया, मुझे तू काशी पहुँचा दे।"

"क्यों मां?"

"क्योंकि मैं नौकरानी होकर नहीं रह सकती, तुम्हीं से पूछती हूँ कि घर की मालकिन बहू है या मैं?"

केशव को चुप रहते देखकर माता जल उठीं—"कहो, मैं तुम से सुनना चाहती हूँ।"—उसने अपना प्रश्न दोहराया।

"तुम्हारे रहते हुये तो दूसरी कोई मालकिन बन नहीं सकती, पर उसे भी तुम्हीं लायी हो और अधिकार भी दिया है।"

केशव की पूरी बातें सनने का धीरज उस समय उनमें था ही नहीं,

नर्मदा ने कहा—"तुम्हारे राज में आज क्या चमार-भङ्गी के साथ बैठ कर खाना पड़ेगा ?"

"ऐसा करने को तुम से किसने कहा ?"

"तुम्हारी स्त्री ने। सबेरे से दुखिया के लड़के को उठा लायी है, कहती है—उसे रखूंगी।"

"क्या यह सच है ?"

"हां ! उसकी मां मुझे सौंप गयी है।"

"पर वह जैसवारा का लड़का है, इस घर में उसकी जगह कैसे हो सकती है, सहाना ?"

"जैसवारे के घर में जन्म लेना ही क्या उसका अपराध है ?"

उत्तर दिया नर्मदा ने—"ऊपर से लगी सवाल-जवाब करने, तेरी हिम्मत, देख-देखकर मैं अवाक् होती हूँ, दूसरी सास होती तो तुझ-जैसी बांझ का मुंह भी न देखती।"

व्यथा से उसका चेहरा पीला पड़ गया, अपने को संभाल कर उसने कहा—"मैं आप से नहीं, उनसे पूछती हूँ कि यदि आत्मा अमर है, ईश्वर का अंश है और सभी में उसी एक पावन आत्मा का प्रकाश है, तो यह छुआछूत का प्रश्न उठा ही क्यों और कैसे ?"

"लोकाचार है' समाज का नियम है। जब कि उसी समाज में हमें रहना है, तब उसके नियमों को मानना भी जरूरी बात है।"

"मैं कब कहती हूँ कि तुम निराले समाज में चले जाओ, पर पुराने की महिमा में मुग्ध होकर उसके कीचड़ को सन्दूक में भर कर रखने में कोई पौरुष—कोई श्लाघा नहीं है, प्रकृति के नियम से नित नई वस्तुयें बनती और मिटती हैं, पुराने में जो भली वस्तुयें हैं, उनका सम्मान और रक्षा हम अवश्य ही करेंगे, परन्तु बुरे को सदा त्यागने के साहस की कमी हम में कभी न हो, यह प्रार्थना मैं सदा ईश्वर से करती हूँ।"

"तो तुम इस नियम को खराब कहती हो?"

"हजार बार। आदमी-आदमी को घृणा करेगा, यह निरी पहेली ही नहीं, अपराध भी है।"

"मैं घृणा की बात नहीं कहता, केवल माँ के सम्मान के लिये तुम बच्चे को हटा दो सहाना।"—वह डर रहा था, क्योंकि स्वाधीन स्वभाव की पत्नी को वह भली भाँति पहचानता था।

"नहीं।"—कुछ देर सोचने के बाद उसने कहा—"नहीं, यह असंभव है, तुम्हारे और मां के सन्तोष-सम्मान के लिये अपने प्राण न्योछावर कर सकती हूँ, पर दूसरे के नहीं, और न उस बचन को तोड़ सकती हूँ, जो कि उसकी मरण-सेज पर दे चुकी हूँ।"

"सहाना, आज इस जीवन के अन्त में तुम मुझसे क्या कहना—क्या सुनना चाहती हो?"

"कुछ भी नहीं।"—उसने बालक को छाती से लगा लिया, जाते समय कहती गई—"यह भूखा है, दूध पिलाकर फिर तुम्हारी बातें सुनूँगी।"

माता-पुत्र स्तम्भित-से खड़े रह गये।

"सहाना, आलमारी की चाभी देना, कागज़ निकालना है।"—मन्दिर के द्वार पर केशव ने पुकारा।

कटोरे में चन्दन पोंछ कर शीला लौटी, दोनों एक-दूसरे की ओर देखने लगे, उन दृष्टियों में प्रश्न था—तुम कौन हो,—कहाँ से आये?

उसी दिन से सहाना का मन्दिर में जाना तथा रसोई आदि में जाना—नर्मदा देवी ने बन्द कर दिया था, ये बातें केशव जानता नहीं था—ऐसा नहीं; फिर भी अभ्यास वश वह मन्दिर-द्वार पर खड़ा हो गया। उसे स्मरण आया कि रात में इसी शीला की बात सहाना कह

रही थी, वह नर्मदा की ज्ञाती कन्या थी, अविवाहिता थी। नर्मदा ने उसे बुला लिया था।

"चाभी तो मेरे पास नहीं है, मैं शीला हूँ, कल यहाँ आई हूँ।"

इस तरुणी की सङ्कोच-हीन बातों से केशव कम विस्मित न हुआ, वह उन आयत नयनों के सामने संकुचित हो रहा था।

"अच्छा तो मैं जाता हूँ।"—किसी तरह इन शब्दों को कहकर वह वहाँ से भागा।

भोजन के आसन पर बैठकर केशव विरक्ति से इधर-उधर निहारने लगा, शीला थाली और कटोरों को उसके आगे रखकर पंखे से मक्खी भगाने लगी।

रसोई ब्राह्मण बनाता था, परन्तु भोजन के समय सहाना सामने बैठती थी, दो-चार तरकारी भी पति के लिये वह अपने हाथ से बनाया करती थी, पर हलकू के आने के बाद से गृहिणी उसे दूर रखकर स्वयं उन कामों को कर लिया करती थीं, और आज उन्होंने अपना स्थान शीला को सौंप दिया था।

"भैया, करेले कैसे बने हैं?"—माता सामने आकर खड़ी हो गई।

"अच्छे।"

"शीला ने बनाये हैं, बड़े काम की लड़की है और वैसी ही नम्र-शान्त भी, मैं जिस काम को कह देती उसे जी-जान से करती है, आलू के बरे भी उसी ने बनाये हैं, अच्छे बने हैं न?"

"हाँ।"

"क्यों झूठ बोलते हैं, आपने तो छुआ तक नहीं।"—शीला हँस पड़ी।

अप्रस्तुत होने के साथ-ही-साथशीला के सरल व्यवहार से केशव सन्तुष्ट भी हुआ।

"शीला सच कह रही है, भैया तुमने तो आज कुछ भी नहीं खाया।"

"खराब बना होगा।"

"नहीं-नहीं, सभी चीज़ें अच्छी बनी हैं, मुझे भूख नहीं है।"

"फिर भी आप झूठ कहते हैं, मैं कहती हूँ कि मौसी, भौजी को बुला दीजिये, अभी ये पेट-भर भोजन कर लेंगे।"

इस तरुणी की मुँह पर सच कहने की शक्ति को देख कर केशव मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करने लगा।

"ऐसा नहीं हो सकता शीला, कि मेरे जीते-जी इस घर में भङ्गी-बसोरों का निवास हो जाय, बहू घर की लक्ष्मी कहलाती है, वही यदि अनाचार करने लगे, तो उस घर की भलाई कब तक हो सकती है! एक तो इस वंश का ही नाश होने बैठा है एक बच्चा तक नहीं हुआ, वंश रक्षा करना एक जरूरी बात है, पर कोई सुनता नहीं, मुझे ऐसा लगता है कि अपने हाथों अपना सिर पीट लूँ।"

एक अनजान के सामने इन बातों के अवतारणा से केशव चिढ़ रहा था, फिर भी उसने हँसकर कहा—"तो अपना सिर पीटकर ही देख लो।"

"क्या दाँत निकालते हो भैया, मेरा तो जी जला जाता है, उसी की बात सब-कुछ हो गई और मेरी बात को कोई पूछता तक नहीं।"

"ऐसा तो नहीं है माँ।"

"फिर तू ब्याह क्यों नहीं करता?"

"मैं विवाहित हूँ।"

"इससे क्या हुआ, वंश रक्षा के लिये लोग न जाने कितने ब्याह करते हैं, पर इधर तो उसने सौगन्ध रख दी है, माँकी सौगन्ध को कौन मानता है।"

"उसने मुझसे कभी कुछ नहीं कहा, यह तुम्हारा गलत विचार है, उसका मन छोटा नहीं है माँ, वह तुम्हारे विरुद्ध कभी कुछ कहती ही नहीं।"

"अरे, मैं सब-कुछ जानती हूँ, आज वही तेरी सब कुछ है, एक दिन वह था, जब कि इसी बुढ़िया के बिना तेरा दिन कटना मुश्किल था। तेरी आँखों के सामने वह तेरी माँ का अपमान करे, जैसवारे के लड़के को घर में रखे, दिन,भर गोद में लिये रहे और तू औरतों-जैसा देखता रहे, धिक्कार है ऐसी जिन्दगी पर।"

केशव आसन पर से उठ पड़ा।

"तुमने ऐसा क्यों कहा मौसी? उन्होंने खाया तक नहीं।"

"क्या मैं चुपचाप यह सब सह लूँ?"

"किन्तु तुमने मेरे सामने क्यों कहा? यही बात उन्हें खराब लगी।"

"तुमसे सच कहती हूँ शीला, केशव ऐसा नहीं था, बहू ने उस पर जादू किया है।"

इस बार शीला अपनी हँसी को रोक न सकी, वह हँसते-हँसते लोटने लगी।

"तू हँसती क्यों है? इसमें हँसने की कौन-सी बात है?"

"तुम अन्धेर करती हो मौसी, भला जादू भी कोई चीज है? फिर भौजी के लिये तो ऐसे विचार उठ ही नहीं सकते, उनकी बातचीत की रीति, उनकी शिक्षा ही निराले ढङ्ग की है, वे हज़ारों में एक स्त्री हैं।"

"तू भी ऐसा कहती है शीला! मैं तुझे अपना समझती थी, पर मेरा भाग्य ही ऐसा है।"

वह नर्मदा के गले से लिपट गई— 'नाराज़ हो गई मौसी?"

"नहीं बेटी, मैं अपने भाग्य पर रोती हूँ।"

(४)

मल्लार रागिनी का आलाप लिये वर्षा तब पृथ्वी के सिरहाने उतर आई थी, घर-द्वार और तरु-पल्लवों में उसके पैर की हरियाली की छाप पड़ने लग गई थी, उस हरियाली ने बूढ़े बट के नीरस हृदय तक को सजीवता के साथ ही साथ रसपूर्ण भी कर दिया था। वर्षा की उस अलसायी हुई सन्ध्या ने केशव के निद्रालु चित्त में नवीनता का मोहिनी मन्त्र फूँक दिया, वह धीरे-धीरे सहाना के कमरे की ओर बढ़ा—बहुत दिनों के बाद।

द्वार की ओर पीठ किये आईने के सामने खड़ी वह बालों को संभाल रही थी, बालों के गुच्छे कमर पर लहरा रहे थे, ओठों पर हल्की-सी मुसकान थिरक रही थी वही—रूप यौवन की गर्वीली मुसकान।

"सहाना!"—उसकी पीठ पर हाथ रखकर प्यार के साथ केशव ने पुकारा।

"आप!"—चञ्चल हरिणी की तरह वह सामने खड़ी हो गई।

"तुम तो शीला हो, सहाना—मेरी सहाना को तुम लोगों ने कहाँ भगा दिया?"

"मैंने?"—पर दूसरे ही क्षण शीला सहम कर बोली—"वे घर ही में हैं, नीचे कुछ कर रही हैं।"

"फिर तुम उसके कमरे में उसी की तरह, इस आईने के सामने क्यों खड़ी थी?"

शीला के लिये यह एक अद्भुत प्रश्न तो था ही और जो कुछ था वह था—अपमान का रूखा तिरस्कार। फिर भी उसकी शिक्षा ने उसे आपे से बाहर होने से रोका। कौन-सी भयानक स्थिति ने केशव-जैसे गम्भीर प्रकृति के आदमी को इस तरह विचलित कर दिया है, इस बात को सोच कर शीला सिहर उठी। शीला हट गई।

केशव पत्नी के आगे जाकर खड़ा हो गया—एक दीर्घश्वास की तरह "कहाँ थीं तुम ?"

हलकू के उन प्यारे—छोटे हाथों को छोड़कर सहाना जरा हट आई। वह ज़ानती थी कि उसी दुःखी असहाय शिशु को लेकर उसकी गृहस्थी में कैसा तूफान उठा हुआ है।

"तुम मेरे साथ-साथ रहा करो, सहाना।"—पति के उस व्याकुल बाहुओं में अपने को सौंप कर वह उसका मुंह निहारने लगी। समुद्र-सा अथाह विस्मय उसके सामने था।

बच्चा रोने लगा। इतनी देर के बाद केशव की दृष्टि हलकू पर पड़ी---"इसी के लिये तुम आज मुझे भूल रही हो, मेरी यह दशा हो रही है, सब अनिष्ट की जड़ यही है, अच्छा ठहरो।"

उसने बालक को उठा लिया, शायद उसे फेंकना चाहता हो। उन्मादिनी की भाँति सहाना ने बालक को छीन लिया। अपनी छाती से उसे लगा कर वह हाँफने लगी।

"उसे दे दो सहाना, वरना आज मुझे कठोर बर्ताव करना पड़ेगा।"

"नहीं-नहीं, मेरे बच्चे का खून मत करो; पहले मुझे मार डालो।"—वह उसे गोद में लेकर जमीन में बैठ गई।

केशव को जिद्द-सी हो गई—"मैं उसे लेकर ही छोड़ूगा।"—वह उसे छीनना चाहता था; परन्तु सहाना की उस दृष्टि को सह न सका—यह कैसी रिक्त सर्वशान्त दृष्टि है! वह सिहर उठा, उसके हाथ अपने-आप रुक गये, हृदय में प्रश्नों की झड़ी-सी लग गई—वह जो गत-यौवना रूपवती नारी, मर्द के रूप की प्यास को बुझाने के लिए आज सब-कुछ खो बैठी है—उसके जीवन के वे लम्बे अनमोल दिन क्या यों ही दीर्घश्वास की नाईं छोटे से पल में उड़ जायेंगे? जिसके अणु पर-माणु माता होने के लिये सृजे गये थे—उसे व्यर्थ करने का अधिकार

क्या दुनिया में किसी को भी था ? शायद जीवन के आरम्भ में ही वह पावनदीप जलाये सन्तान की प्रतीक्षा में बैठी थी, उसकी उस प्रतीक्षा को निष्फल किसने किया ? पति के अभिमान से अन्धे बन कर उसके शुद्ध-सुन्दर मातृत्व ।को छीन लेनेवाला राक्षस वह कौन था ? कठोर तपस्या शेष कर जीवन की सन्ध्या में जो रमणी भिखारिन की तरह सन्तान की भीख मांग रही है, उसकी भिक्षा की झोली आज वह किस चीज से भरेगा ? माता की उस मरुभूमि की-सी तृष्णा को वह किस तरह तृप्त करेगा ? उसके उस जरा-सी शान्ति-सन्तोष, उस अभागे बच्चे को छीन कर पति-पूजा का पुरस्कार क्या वह इसी तरह देगा ?

केशव की चिन्ता में बाधा पड़ी, सहाना ने बच्चे को उसके पैर-तले लिटा दिया—"लो, लेते जाओ, आज इसे तुम्हीं को सौंपती हूँ"---दोनों हाथों से सहाना ने अपना मुंह ढाँक लिया।

केशव ने एक बार पत्नी की ओर और दूसरी बार बच्चे को देखा, फिर हलकू को धीरे से उठा कर सहाना की गोद में डाल दिया।

(५)

जिस दिन उस बालक का अन्त हो गया, उस दिन सहाना की आँखों में पानी का एक छोटा-सा बूँद तक नहीं था। दिन एक-सा कटने लगा, सहाना के अन्तर का परिवर्तन बाहरी जगत् से छिपा ही रह गया, शायद जीवन-भर के लिये। वह सब कामों में योग देती और पति से हंस कर बात भी करती, केवल दिन में एक बार उस नन्हें बच्चे के चित्र को आँखों से लगा लेती।

जिस दिन उसकी वह चोरी पकड़ी गई उस दिन केशव ने विरक्त होकर कहा--"बुढ़ापे में क्या तुम पागल हो जाओगी ? धूमकेत यदि मरा भी, तो निशानी छोड़ गया।"

"छिः ! मरे हुये का जरा सा सम्मान करना सीखो, उसकी भी आत्मा थी।"--उसके कण्ठ में तिरस्कार था।

"ऐसा ! तो उस कमीने के लिये आँसू भी बहाना पड़ेगा और सम्मान दिखाना पड़ेगा ?"

"फिर इससे तुम छोटे न हो जाओगे।"

"और कुत्ते-बिल्लियों के लिये किस दिन आँसू बहाना होगा, सो भी कह देना।"

सहाना ने उत्तर नहीं दिया, इन बातों का वह जवाब ही क्या देती ?

"अब जवाब क्यों नहीं देतीं ?"

"क्या इन बातों का उत्तर भी देना है, और मुझी को ?"

उन शब्दों में कौन-सी सम्मोहनी भरी थी, सो तो केशव ही जाने; परन्तु इसके बाद मारे लज्जा के उसकी आँखें झुक गईं, पिछली बातों के स्मरण से उसके मन में शायद कुछ अनुताप की छाया-सी पड़ी, किन्तु दूसरे ही क्षण वह जबरन अस्वीकार करने लगा, मन-ही-मन कहने लगा—होनहार था।

झूठ से समझौता करते-करते लोग अपने जीवन की न जाने कितनी अनमोल वस्तुओं को खो बैठते हैं, शायद इसीलिये वह फिर उसी मिथ्या से समझौता करने में लग गया।

"तुम बैठी फोटो देखती रहो और मैं भूला प्यासा तुम्हारा मुँह निहारता रहूं, यही कहना चाहती हो न ?"

"मैं तुमसे कुछ भी कहना नहीं चाहती, तुम भोजन कर लो।"

"धन्यवाद, इतनी देर के बाद तुम्हें याद आया ?"

वह कह सकती थी कि आजकल भोजन छूने का अधिकार उसे नहीं है। कह सकती थी, अब उसके बदले शीला उन कामों को किया करती है, पर नहीं, वह चुपचाप बाहर निकल गई।

"आइये।"—शीला ने पुकारा।

केशव के कानों में अमृत की वर्षा हो गई। कैसी दर्दीली पुकार है!—उसने अपने-आप कहा।

आसन के आगे मिठाई की रकाबी रखे शीला बैठी थी, उसी की प्रतीक्षा में।

केशव का अन्तर-बाहर आनन्द, सन्तोष से भर उठा। सारे दिन परिश्रम के बाद घर में शान्ति नहीं मिलती थी, किन्तु उस तरुणी की सेवा, सहानुभूति से केशव बिछुड़े हुये दिनों की उसी खुशी के समुद्र में लहराने लगता था—थोड़ी देर के लिये।

गरम-गरम कचौरियाँ रकेबी में डाल कर शीला ने कहा—"इनमें से एक भी न बचे, वरना दण्ड भुगतना पड़ेगा।"

उसने शीला की ओर देखा, उस तरुणी के सारे अङ्गों से खुशी का झरना झर रहा था।

"कौन-सी सजा मिलेगी शीला?"—कौतुक के साथ केशव ने पूछा।

"फिर इतनी ही कचौरियाँ और भी खाना पड़ेंगी।"

"यदि न खा सकूँ?"

"तो रात-भर इसी तरह बैठे रहना पड़ेगा।"

"तुम मेरे सामने रहोगी न?"

"जाइये।"—ये मीठे शब्द बहुत ही मीठे स्वर में कहे गये। केशव चौंक पड़ा, वह भागा—चोरों की तरह। आकुल विस्मय से शीला उसे निहारती ही रह गई।

सहाना ने धीरे से पति के सिर पर हाथ फेरकर पूछा—"इस समय तुम सोये क्यों, कहीं तबीयत तो खराब नहीं है?"

"सहाना, तुम्हीं मेरी स्त्री हो और तुम्हीं होगी।"—दोनों हाथों से सहाना का हाथ पकड़कर वह बार-बार कहने लगा।

सहाना धीरे-धीरे उसके सिर पर हाथ फेरने लगी।

"क्या वे पुराने दिन नहीं लौट सकते, सहाना ?"

सहाना का हृदय व्यथा से विकल हो उठा।

"कहो सहाना, जवाब दो।"

"तुम्हारे दर्द को मैं और भी बढ़ाना नहीं चाहती।"

"समझा नहीं।"

"जरा चुपचाप सो रहो, तबीयत ठीक हो जायगी।"

"नहीं-नहीं, मुझे कहने दो, सहाना---सहाना"

"मैं जानती हूँ।"

"तुम,तुम जानती हो ! क्या जानती हो ?"---विराट विस्मय से आँखें विस्फारित हो रही थीं।

"सभी बातें। किन्तु तुम्हारे मुँह से सुनना नहीं चाहती।"---वह हँसी।

"केशव का सिर अपने-आप झुक गया।"

"कब से जानती हो ?"---बहुत देर के बाद उसने पूछा।

"बहुत दिनों से।"

"तुमने मुझे सावधान क्यों न किया ? मुझे अपने बाहुओं में खींच क्यों न लिया ?"

"जबरन ही ? किन्तु नहीं---मैं ऐसा नहीं कर सकती थी, वैसी भीख की झोली से घृणा करती हूँ, आन्तरिक घृणा। प्रेम, प्यार, आदर की वस्तु जरूर है, पर मांगने-जांचने की नहीं, उसके लिये दूसरे से झगड़ना---छिः, छिः,"---वह घृणा से सिहर उठी।

"तुम पत्थर की बनी हो, सहाना।"

"होगा भी।"---उदास स्वर से उसने कहा।

"पर मैं अपना अधिकार इस अवहेलना के साथ नहीं छोड़ सकता था।"

"अवहेलना ? नहीं, घृणा कह सकते हो। किन्तु मैं कहती हूँ, ये सब बातें तभी उठ सकती थीं, जब कि अधिकार को कोई छोड़ देता।"

"तो यह क्या है ?"

"जो प्रेम एक बार किसी के द्वार पर लुट चुका था, वही प्रेम आज यदि प्रतारक की तरह दूसरे के द्वार पर झांकने लगे तो उसके लिये सिर पीटने की जरूरत नहीं है। अधिकार मन की चीज है, वह अमर है, प्रेम के उस अधिकार को छीन लेने की शक्ति विधाता को भी नहीं है, फिर हम तो आदमी ही हैं।"---सहाना उठी---"अब मैं जाती हूँ, काम पड़ा है।"

(६)

काम करते-करते शिशु-कण्ठ के मधुर गीत से अनमनी-सी सहाना द्वार पर आकर खड़ी हो गई।

गीत गा-गा कर नन्हें-नन्हें बच्चे देश के लिये भीख मांग रहे थे। वह अपलक नेत्रों से उन्हें देखने लगी।

"माताजी !"---एक ने पुकारा।

"इन झोलियों में कुछ डाल दो माताजी !"---दूसरे ने कहा।

उसने एक सुन्दर शिशु को गले से लगा लिया—"क्या कहा भैया, फिर कहना।"

"इन झोलियों में कुछ डाल दीजिये।"

"उसी तरह फिर पुकारो।"

"माताजी !"

"और छोटे शब्द में।"

"माँ!"

"फिर पुकारो।"

"माँ—माँ—!"

वह कान लगाकर सुनने लगी, उस पुकार को। एक स्वप्न सा आँखों में छा गया। जैसे कि उसने अपने हृदय का खून—वह उस स्वप्न में देखने लगी—हाँ, हृदय का खून—प्यारे बच्चे को देश के काम में सौंप दिया हो, उसकी उस देश-सेवा के श्रेष्ठ दान से, उस दृष्टान्त से—प्रत्येक माता ने अपनी गोदी खाली कर दी। वह विस्मय के साथ देखने लगी—जल, वायु, आकाश शिशुओं से छा रहा है, तिल बराबर भी कहीं स्थान नहीं है। 'यह कैसा विराट् रूप है!'—उसने अपने आप कहा।

"सहाना!"—पति की पुकार से वह स्वप्नलोक से लौट आयी।—"हाँ।" उसने उत्तर दिया। दृष्टि को केशव सह न सका—यहाँ वह किस उद्देश्य से किस के पास आया है! उसकी चिन्ता विकल हो पड़ी—माँ से आज वह प्रेयसी को माँग रहा था। गृहिणी के नयनों में वह तरुणी की प्यास को देखना चाहता था, सेविका से प्रेम-प्यार-सोहाग मांगता था,—हाँ—इतने दिनों के बाद। वह समझ ही न सका कि उसी के अनादर, अवहेलना से उसकी प्रेयसी-नारी मर चुकी थी—बहुत दिन पहले। और उसी नारी के भीतर अब जो कुछ था, वह था केवल मा का गम्भीर स्नेह और समुद्र सी प्यास।

कुछ विचारता हुआ केशव शीला के निकट जाकर खड़ा हो गया।

"आइये भूख लगी है क्या?"—नदी की भाँति तरल कण्ठ से उसने पूछा।

केशव की उस मुग्ध दृष्टि के आगे वह खिलखिला पड़ी।

"मैं तुम्हीं को ढूँढ़ रहा था।"—केशव का स्वर मृदु था।

नर्मदा ने पुकारा---"भैया, जरा सुन जाना।"

रात में सहाना ने केशव के कागजों को हटा कर, किसी प्रकार की भूमिका के बिना ही कहा---"शादी के लिये और तैयारियाँ तो मैंने कर ली हैं, केवल गहने तुम बनवा देना।"

"किस की शादी?"

"शीला की।"

"वर कहाँ मिला?"—उसका कण्ठ काँप रहा था।

कुछ देर तक पति के मुँह की ओर देख कर सहाना ने उत्तर दिया—"वर घर ही में है।"

"और मैंने उसे नहीं देखा?"

"मैंने जब देखा है, तब तुम भी देख चुके हो।"

"याने?"

"तुम हो।"

"मैं, मैं!"—वह पीछे हटा।

"हाँ, तुम।"

"यह दिल्लगी अच्छी नहीं लगती, सहाना।"

"दिल्लगी नहीं, सच ही कहती हूँ, इसी पन्द्रह तारीख को शादी होगी।"

"असम्भव है।"

"ऐसा मत कहो सभी तैयारियाँ हो चुकी हैं।"

"ऐसा तुमने क्यों किया, सहाना?"

"क्योंकि इसकी जरूरत थी।"

"फिर भी यह नहीं हो सकता, इसमें न तो मेरी भलाई है और न तुम्हारी, किसी के लिये कभी भी मैं तुम्हें दुःख नहीं दे सकता।"

"तुम भूल कर रहे हो,—तुम्हारे सुख के लिये मैं सब कुछ सह सकती हूँ, विशेषतः मेरे उस गत आनन्द की स्मृति को दुःख की शिखा जला नहीं सकती है, तुम विश्वास करो।"

"तुम कठोर हो—बहुत कठोर हो, सहाना, मैं ऐसा नहीं कर सकता था, जिसे मैं चाहता हूँ उसे अपने ही हाथों से किसी और को लुटा नहीं दे सकता था।"

"मैं लुटा रही हूँ या—

"कहो-कहो, क्या कहना चाहती हो ?"

"निर्लज्जता की भी सीमा रहती है,—हाँ—मैं कहती थी—तुम उस बात को सह न सकोगे।"

"क्यों ?"

"क्योंकि सत्य कभी सुखद नहीं होता।"

"फिर भी मैं सुनना चाहता हूँ।"

"जिनको मैं चाहती हूँ, अपने उस देवता को मैं नहीं लुटा रही हूँ, वे मेरे हैं—मेरे ही रहेंगे, उन्हें छीनने की शक्ति दुनिया की किसी स्त्री में नहीं है, आज अपने-आप जो लुट रहे हैं वह है लालसा की जीवन्त मूर्ति, नूतनता की अनन्त प्यास, प्रतारण का अनोखा रूप और जीवन-सन्ध्या की स्वार्थी वह असीम स्पर्धा।"

"सहाना—सहाना, चुप रहो, मैं और सुनना नहीं चाहता, क्या तुम वही सहाना हो ?"

वह हँसी—"परिवर्तन—प्रकृति का नियम, आदमी का स्वभाव है।"

"आज क्या तुम अपने उस देवता की पहले की तरह पूजा नहीं कर सकती हो, सहाना ?"

"मैं तो आजीवन उनकी पूजा करती हूँ, और करती ही रहूँगी।"—उसके नेत्रों में विस्मय था।

"नहीं, मैं कहता था—" वह सङ्कोच के साथ बोला– "कहता था—अब क्या तुम मुझसे घृणा करती हो ?"

"मैं तो कह चुकी—परिवर्तन आदमी का स्वभाव है, और नूतनत्व का आकर्षण है उसका मजागत रोग, फिर इसके लिये हाहाकार करना या मानाभिमान करना व्यर्थ है, आओ, यहाँ बैठ जाओ, उदास क्यों हो ?"

"मैं और कुछ न तो सुनना चाहता हूँ और न कुछ पूछना, पर यह विवाह हो नहीं सकता। वर के लिये सोचने की आवश्यकता नहीं है, उसी दिन वर तुम्हें मिल जायगा।"

शीला ने द्वार पर से पुकारा—'भौजी, मौसी तुम्हें बुला रही हैं।"

केशव ने सिर नीचा कर लिया, आज वह शीला की ओर देख-तक नहीं सकता था।

(७)

उस धनी परिवार के नौकरों से लेकर मालिक तक उस दिन व्यस्त थे। बाहर से सहनाई मधुर स्वर से मिलन-सङ्गीत अलाप रही थी, गलीचे पर चादरें बिछ रही थीं, पानी के मटकों में गुलाब-जल मिलाया जा रहा था, बड़ी-बड़ी कड़ाहियों पर शाक-भाजी बन रही थी, हलवाई मिठाई बना-बना कर बूढ़े पुरानों को चखा रहे थे। सहाना और केशव घूम-घूम कर सब व्यवस्था कर रहे थे।

शीला की शादी थी धनी वर के साथ। बच्चे आँगन में शोर मचा रहे थे। चहुँओर के उस आनन्द के भीतर लहाराती हुई नदी की भाँति शीला हँस-हँस कर अपनी सखी-सहेलियों से मिल रही थी। स्त्रियों के बीच में उसकी समालोचना चल रही थी – "कैसी बेहया है।"- "बहन, आजकल की लड़कियाँ ऐसी ही होती हैं।" "ठीक है, बूढ़ी हो

जाती हैं तब कहीं वर मिलता है, इसलिये वे अपने आनन्द को छिपा भी नहीं सकतीं ।"

शीला ने एक स्त्री को चिकोटी काटी ।

"जाकर दूल्हे को चिकोटी काट, मुझे नहीं ।"—उस स्त्री ने कहा ।

"उन्हें तो रात में काटूँगी ।।'

"कैसी बेहया है तू शीला, तुझे लज्जा—हया कुछ भी नहीं !"—स्त्री कीं भौहें चढ़ गईं, जिन्हें देखकर शीला खिलखिला कर हँसने लगी ।

चलते-चलते केशव लौटा, पल-भर के लिये उस खुशी की दिवाली की ओर उसने देखा, फिर काम के अन्दर डूब गया । केवल सहाना उस हँसी को देखकर सिहर उठी ।

सन्ध्या समय बनाव-शृङ्गार शेष कर शीला दबे पाँवों उस द्वार के बाहर जाकर खड़ी हो गई जहाँ कि केशव द्वार की ओर पीठ किये चुपचाप खड़ा कुछ विचार रहा था । वह कुछ देर तक खड़ी उसे देखती रही, इसके बाद उसने वहीं से केशव को प्रणाम किया । केशव लौटा, उसने देखा एक छाया सामने से हट रही है ।

व्यथा के साथ केशव ने पुकारा—"शीला !" परन्तु उत्तर न मिला ।

"भ्रम था !" दीर्घ श्वास के साथ ये शब्द उसके कंठ से निकले ।

बड़ी धूम से बारात आई । कन्यादान के समय शीला को लोग ढूँढ़ने लगे । किन्तु उसका पता कहीं भी न था । घर, द्वार, हर एक सन्दूक देखी गई, शीला न मिली ।

दो बूँद आसू पोंछ कर सहाना ने अखबारों में विज्ञापन दिया—शीला बहन, तुम लौट आओ । इस घर में तुम्हारा निरादर न होगा ।

श्रीमती महादेवी वर्मा

जन्मकाल | रचनाकाल

१९६४ वि० | १९८४वि०

[श्रीमती महादेवी वर्मा हिन्दी की प्रसिद्ध कवियित्री हैं। आपकी काव्य पुस्तकें हिन्दी साहित्य की निधि हैं। आपका साहित्यिक-विकास ऐसा क्रमिक हुआ है कि आज वह उच्चस्तर पर पहुँच चुका है। 'नीरजा' 'नीहार' 'यामा' 'दीपशिखा' काव्यों का हिन्दी संसार ने पूर्ण आदर किया है। उच्च शिक्षा प्राप्त आप एक देश भक्त महिला रत्न हैं। काव्यों के सिवा आपने गद्यात्मक रचनायें भी की हैं। उच्चकोटि के गद्य में आपके काव्यों की सुंदर अनुभूतियों का प्रभाव है। आपका गद्य बड़ा ही सौष्ठवपूर्ण, मधुर और प्रवाह पूर्ण होता है। आपने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। उन कहानियों में मानव जीवन की अनुभूतियों तथा वास्तविक जीवन का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण है। इस दृष्टि से 'अतीत के चल चित्र' व 'स्मृति की रेखायें' अत्यन्त सामयिक और श्रेष्ट रचना है। श्रीमती जी आज आधुनिक काल के रचनाकारों में अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। मानवता के प्रति आप की जबरदस्त सहानुभूति है। आप एक सहृदय, भावुक और हिन्दी में एक नवीन साहित्यिक युग की अधिष्ठात्री हैं।]

———

घीसा

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गाँव के उस मलिन सहमे नन्हें से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छू कर अनन्त जल-राशि में विलीन हो गया है।

गंगा पार झूँसी के खंडहर और उसके आस-पास के गाँवों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है उसे देख कर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध का व्यंग्य करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिये सुरक्षित रखते हैं उसी को मैं इस खंडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर पास बसे हुये, गुड़ियों के बड़े-बड़े घरौंदों के समान लगने वाले कुछ लिपे-पुते कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का जो झुण्ड पीतल-ताँबे के चमचमाते, मिट्टी के नये लाल और पुराने भदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है। उसे भी मैं पहचान गयी हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करने वाली, कोई कुछ नयी और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती हैं। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूररेखा अस्त होते हुये सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी की कड़ुवे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को घेर कर उसकी उदासी

को और अधिक केन्द्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह-रह कर हीरे से चमक जाते हैं और किसी को दुर्बल काली पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झनकार के ताल के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती से कभी-कभी झाँक भर लेती है और किसी की ढारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करतो रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफ़ेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही रांग और कांसे के कड़ों को लोहे की साफ़ की हुई।बेड़ियाँ बना देती हैं

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं फिर पानी में कुछ घुस कर घड़ा भर लेती हैं।—तब घड़ा किनारे रख सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देख कर कभी मलिन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने मेरे बीच का अन्तर उन्हें ज्ञात है तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देख कर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते हैं, गड़रियों के बच्चे अपने झुंड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देख कर कान पकड़ कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डंडा खेलने वाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचा कर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुये ग्वाले किले में काम करने जाते या घर आते हुये मजदूर, नाँव बाँधते या खोलते हुये

मल्लाह कभी-कभी 'चुनरीत रंगाउब लाल मजीठी हो' गीत गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अकचका कर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करने वालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्य्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चन्दे की अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथ में कड़े पहने धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पाँव तक लम्बा कुरता पहने हुये खेत में डराने के लिये खड़े किये हुये नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार भर की अपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभा वाले उड़ते हुये दुकूल पर रात्रि ने मानों छिप कर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाववाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सँभाल कर नाव पर रख कर बढ़ते अन्धकार पर खिझला कर बुदबुदा रही थी या मुझे कुछ सनकी बनाने वाले विधाता पर यह समझना कठिन

था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लम्बे वर्ष काट आयी है, नौकरानी से अपने आप को एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है! सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परन्तु नाव की ओर बढ़ते हुये मेरे पैर, फैलते हुये अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्त्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। साँवले कुछ लम्बे-से मुखड़े में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आँखें छोटी, पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूका रहित अंगों को भलीभाँति ढँक लिया था, परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रख कर वह जिस दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाये हुये थी उसे मैंने सन्ध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुक कर कुछ शब्दों और कुछ संकेतों में जो कहा उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं हैं, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके। दूसरे इतवार को मैंने उसे सब से पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुए देखा। पक्का रंग पर गठन में और अधिक सुडौल मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आँखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कस कर बन्द किये हुये पतले होंठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुये छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की सकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हुई हड्डियों वाली गर्दन को सँभाले हुये झुके कन्धों से, रक्त-हीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुये नाखूनों-युक्त हाथों वाली पतली बाहें ऐसी झूलती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बनने वाले की दो नकली भुजाएँ। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट

जान पड़ते थे।—बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुञ्जाइश न शरीर में।

पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानों मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे-से रहते थे। इसीलिये नहीं कि वह कोरी था वरन् इसलिये कि किसी की माँ, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़ कर समझा दी थी।—यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सब से अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने-भालने वाला न होने के कारण माँ उसे बँदरिया के बच्चे के समान चिपकाये फिरती थी। उसे एक ओर लिटा कर जब वह मजदूरी के काम में लग जाती थी तब पेट के बल घसिट-घसिट कर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियाँ भी मुझे आते-जाते रोक कर अनेक प्रकार की भावभंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी न जाना!

उसका बाप था तो कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक। डलिया आदि बुनने का काम छोड़ कर वह थोड़ी बढ़ईगीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गाँव से युवती वधू लाकर उसने अपने गाँव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसीसे जब गाँव के चौखट

किवाड़ बना कर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाट-बाट से रहना आरम्भ किया तब अचानक हैजे के बहाने वह वहाँ बुला लिया गया जहाँ न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गाँव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारतावश ही उसकी जीवननैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया प्रत्युत उसे नमक मिर्च लगा कर तीता भी कर दिया। कहा 'हम सिंघ कै मेहरारू होइके का सियारन के जाव।' और बिना स्वर-ताल के आँसू गिरा कर, बाल खोल कर, चूड़ियाँ फोड़ कर और बिना किनारे की धोती पहन कर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वाँग भरना आरम्भ किया तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबनेउतारने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छह महीने बाद, परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से वह छह माह का समय रबर की तरह खिंच कर एक साल की अवधि तक पहुँच गया तो इसमें गाँववालों का क्या दोष।

यह कथा अनेक क्षेपकोंमय विस्तार के साथ सुनायी तो गई थी मेरा मन फेरने के लिये और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित पूरा नहीं समझ पाया था, परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस पर न था क्योंकि वह सब को अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानों उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे से छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गम्भीरता से

निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊँ और अपने पास रख कर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ—परन्तु उस उपेक्षिता पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्बल हो सकता है यह भी मुझसे छिपा न था फिर नौ साल के कर्तव्यपरायण घीसा की गुरु-भक्ति देख कर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही न रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा जहाँ क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनो विनोद के लिये ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को माँ के मजदूरी पर जाते ही एक मैले फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबा कर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने बुहाड़ने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आँखों पर क्षीण साँवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखायी पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टाँगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिये हुये ही साथियों को सुनाने के लिये गुरु साहब गुरु साहब कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता जहाँ न जाने कितनी बार दुहराये-तिहराये मुये कार्य-क्रम की एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बारम्बार झाड़-पोंछ कर बिछायी जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली कच्चे काँच की दावात अपने टूटे निब और उखड़े हुये रंगवाले भूरे कलम के साथ

पेड़ के कोटर से निकाल कर यथास्थान रख दी जाती और तब इस चित्र पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़ कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिये प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार ही दिन मैं वहाँ पहुँच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक-आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला वह चित्रों के एल्बम के समान निरन्तर नवीन सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुये ही उन बेचारों को सफाई का महत्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगा जी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ में अलग जोड़े हुये से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी, की कहावत चरितार्थ करने के लिये कीट से मैले फटे कुरते घर ही छोड़ कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुये थे जिसमें उनके प्राण,'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे। पर घीसा गायब था। पूछने पर लड़के काना-फूँसी करने या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-जोड़ कर समझाना पड़ा कि घीसा माँ से कपड़ा धोने के साबुन के लिये तभी से कह रहा था—माँ को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को माँ को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड़ कर पहले साबुन लेने गई। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा धोकर साफ कपड़े पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे! किसी

दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अंगौछा जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहा कर गीला अंगौछा ही लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ तब आँखें ही नहीं मेरा रोम रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोच कर मैं उन विद्यार्थियों के लिये ५-६ सेर जलेबियाँ ले गयी पर कुछ तौलनेवाले की सफाई से, कुछ तुलवाने वाले की समझदारी से और कुछ वहाँ की छीना झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुये छोटे भाई के लिये चाहिये, चौथे को किसी की और याद आ गयी। पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर घीसा कहाँ खिसक गया यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था 'सार एक ठो पिलवा पाले है ओही को देय गवा होई' पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा ही उसका सब हिसाब ठीक था—जलखई वाले छन्ने में तीन जलेबियाँ लपेट कर वह माई के लिये छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुये, बिन माँ के, कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खालीं। और चाहिये पूछने पर उसकी संकोच भरी आँखें झुक गयीं—ओठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली हैं। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों से अंकित है जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके सीमा तक पहुँच जाने की पूर्ण संभावना थी। घीसा दो सप्ताह से

पड़ा था—दवा मैं भेजवा देती थी परन्तु देख-भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो चार दिन उनकी माँ स्वयं बैठी रही फिर एक अंधी बुढ़िया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की साँझ को मैं यथाक्रम बच्चों को विदा दे घीसा को देखने चली परन्तु पीपल से पचास पग पहुँचते न पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों पर गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत-सी दौड़ रही थी, आँखें और भी सतेज और मुख ऐसा था जैसे हल्की आँच में धीरे-धीरे लाल होने वाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वात ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ताजनक उसकी समझ-दारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था पर पानी पास मिला नहीं और अंधी मनियाँ की आजी से माँगना ठीक न समझ कर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौट कर दरवाजे से ही अंधी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता वह इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धर कर यहीं पड़ा रहेगा पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गई। पार तो मुझे पहुँचना था ही पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझा कर जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर सदा के संकोची नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में और

गहरा रंग भर कर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया जिसका स्वर मेरे लिये भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठ कर दूर-दूर से आये हुये बहुत से विद्यार्थी हैं जो अपनी माँ के पास साल भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जायँगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया जैसे वह कभी था ही नहीं।—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी! जो साँझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिये। घीसा रोकेगा तो उसके भगवानजी गुस्सा हो जायँगे क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देख कर गुरु साहब को भेज देते हैं आदि-आदि। उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिये अपने बुखार मे जलते हुये अशक्त शरीर को घसीट लाने वाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर मैं लौटी तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाँध कर उन्मत्त के समान घूमने वाली गर्मी की हवा से उसका रोज संग्राम छिड़ने लगा—झाड़ते-झाड़ते वही पाठशाला धूल-धूसरित होकर, भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिप कर, तथा कंकाल शेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते, वायु की संतत सरसर से मुखरित होकर उस भ्रान्त बालक को चिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सन्ध्या समय तक वहाँ रहने का निश्चय किया परन्तु पता चला घीसा किसकिसाती आँखों को मलता और पुस्तक से बराबर धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागरिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भंग करने के लिये ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिये दौड़ते हुये बालक के समान झपट कर उस दिन पर उँगली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न। कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिपकियाँ रख कर गिने जायं या कोयले की लकीरें खींच कर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुये घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहाँ से चली तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा-सा घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था—आपरेशन की सम्भावना थी। कब लौटूँगी या नहीं लौटूँगी यही सोचते-सोचते मैंने फिर कर चारों ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुये धुंधलेपन में वे कच्चे घर आकण्ठ मग्न हो गये थे—केवल फूस के मटमैले और खपरैल के कत्थई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे! कछार की बालू में दूर तक फैले तरबूज के खेत अपने सिरकी और फूल के मुठियों, टट्टियों और रखवाली के लिये बना पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदि द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे विदा देना है यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदन-शक्ति से जान रहा था इसमें सन्देह नहीं था।

परन्तु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिये कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है यह जानना मेरे लिये शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगनेवाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था जिसमें बीच में कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत-लक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बन्द गुलाबी फूल जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिये उस मलिन शरीर को बनाने वाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रख कर निश्चिन्त हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गयी तब उसे अकेले खेत पर जाना पड़ा। वहाँ खेतवाले का लड़का था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्रायः सुना-सुना कर कहता रहता था कि जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती है उनके लिये परोसा लगाने वाले पागल होते हैं। उसने कहा पैसा नहीं है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया—पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिये पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिये कटवाना पड़ा—मीठा है या नहीं यह देखने के लिये उँगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोयेगा—छुट्टी भर रोयेगा, ले आवें तो वह रोज नहा-धोकर पेड़ के नीचे पढ़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिख कर दिखा सकेगा !

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रख कर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी ऐसा मुझे विश्वास नहीं परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके हो गये।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबंध कर मैं बाहर चली गयी और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवान जी ने सदा के लिये पढ़ने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है पर सम्भव है आज कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर भाव से उस छोटे जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूँगी। अभी मेरे लिये इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूँढ़ती रहूँ।

——

श्रीमती कमला देवी चौधरी

जन्मकाल — रचनाकाल

१९६४ वि० — १९८४ वि०

[श्रीमती कमला देवी चौधरी मेरठ की रहने वाली हैं। आप पिछले १२ वर्ष से हिन्दी की सेवा कर रही हैं। 'विशाल भारत' पत्र तथा पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी के प्रोत्साहन से आप हिन्दी क्षेत्र में आईं। आपकी कहानियाँ अत्यन्त प्रभावशाली और सहृदयता पूर्ण होती हैं। आपने मानव जीवन के अन्तर्जगत का तथा घर गृहस्थी के वातावरण का चित्रण वास्तविकता पूर्ण किया है। यद्यपि अभी आपने उतनी कहानियाँ नहीं लिखी हैं, फिर भी जो कुछ लिखी हैं, उनमें कई उच्चकोटि की हिन्दी के कहानी साहित्य में अपना एक विशेष महत्व रखती हैं। आप बराबर कहानियाँ लिखती जा रही हैं। आप एक कुलीन तथा सुपठित महिला हैं। स्वभाव की सरल, सहृदय और सज्जन हैं।]

भ्रम

हम दोनों में धीरे-धीरे मित्रता हो गई, किन्तु मित्र होते हुये भी हम एक दूसरे के स्वभाव से भली-भाँति परिचित न थे। दूसरों के लिये तो हमारी मित्रता का अनुमान करना बहुत मुश्किल था। एक घर में रहते हुये भी एक दूसरे से बहुत कम मिलते-जुलते, फिर भी मित्र थे। एक दूसरे के प्रति स्नेह था, अनुराग था और थी श्रद्धा। यह किस प्रकार की मित्रता थी, इस पर विचार करने की शायद आवश्यकता न थी। सतीश के लिये मेरे हृदय के किसी कोने में यह अनुभूति छिपी बैठी थी कि वह सत्पुरुष है, उसके विचार पवित्र और उच्च हैं। उसके रहन-सहन में अत्यन्त सादगी थी, मुँह पर पवित्रता की आभा झलका करती थी। मुझे उसकी सादगी ही ऐश्वर्य-समान प्रतीत होती थी।

मेरी तीव्र अभिलाषा थी की सतीश के संसर्ग से लाभ उठाऊँ, परन्तु वह अवसर ही न देते। वे ऐसे पढ़ने के धुनी थे कि दिन-रात पुस्तकों ही में तल्लीन रहते। मुझे कभी अपने साथ वे सिनेमा, थियेटर या सैर को ले जात तो, मैं विशेष आनन्द का अनुभव करती; पर ऐसा अवसर बिरले ही दिन मिलता। उन्हें पुस्तकों से अवकाश कहाँ?

मेरी बुद्धि विलक्षण थी। जो कुछ पढ़ती, शीघ्र याद कर लेती। इस कारण पुस्तकों के पन्ने अधिक न उलटती। पढ़ने से जो कुछ बाक़ी समय बचता, सतीश ही के लिये खर्च करना चाहती। स्कूल से आकर उनके लिये अपने हाथ से गरम-गरम नाश्ता तैयार करती। कभी वह मुस्करा कर कह देते—"माधवी, तुम तो अन्नपूर्णा हो!" प्रशंसा के इस छोटे से वाक्य से परीक्षा में उत्तीर्ण होने से कम आनन्द न होता था। इस प्रकार मन की श्रद्धा-भक्ति से दिन बीत रहे थे।

मेरे पिता जी सम्पत्तिशाली थे। हम दोनों बहनों के सिवा उनकी सम्पत्ति का कोई अधिकारी और न था। असमय में ही माता पिता

मेरा भार बहन-बहनोई पर छोड़ कर इस दुनिया को छोड़ चुके थे। परन्तु माता-पिता ही की भाँति मेरे भाई साहब (बहनोई) और बहन जी दोनों मुझसे स्नेह करते थे। उनके हृदय में सदा मेरे प्रति करुणा के भाव जाग्रत रहते, वे सदा ऐसी कोशिश करते, जिससे मुझे माता-पिता का अभाव अनुभव न हो।

भाई साहब के अपने परिवार में भी एक विधवा चाची तथा उनके पुत्र सतीश के सिवा कोई न था। सतीश पढ़ाई के कारण हम लोगों के साथ लखनऊ रहते, पर उनकी माताजी किसी प्रकार पूर्वजों का स्थान छोड़ने को तैयार न थीं। इसलिये वह बाराबंकी ही में रहती थीं। वे आदर्श महिला थीं, उनके जीवन का ध्येय कंगाल और पीड़ितों की सेवा करना था; अपने सेवा-भाव से वे बाराबंकी के आस-पास के गाँवों में भी प्रसिद्ध थीं। कदाचित् माता-पिता के गुण पुत्र में भी विद्यमान थे।

[२]

शरद ऋतु का आगमन था। शहर में बीमारी फैल रही थी। एक दिन मुझे भी ठंड लग कर बुखार आ गया। घर में मैं और सतीश दो ही जने थे। भाई साहब बहन जी को लेकर सैर की इच्छा से बम्बई गये थे। सतीश अपना पढ़ना-लिखना छोड़ कर मेरी सेवा-सुश्रूषा में लग गये। क्षण भर के लिये भी वे मेरे शय्या के पास से हटते न थे। मुझे आश्चर्य होता, कैसे ये मेरे लिये अपना अमूल्य समय नष्ट कर रहे हैं, इन्हें तो पढ़ाई के आगे खाने नहाने की भी सुध न रहती थी।

पाँच दिन इसी हालत में बीत गये, बुखार कम न हुआ। रात में मेरे सिर में बड़ा दर्द होने लगा, मैं पीड़ा से बेचैन थी। सतीश ने पूछा—‘माधवी, क्या बहुत ज्यादा दर्द है ? सिर दाब दूँ ?”

—"तुम सो रहो, कई रातों से जाग रहे हो।"

—"तुम दर्द से बेचैन रहो और मैं सो जाऊँ?"

वे सिर दाबने लगे, मैं मना न कर सकी। उनके कर-स्पर्श से मेरे सारे शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। जो अंकुर जड़ पकड़ चुका था, स्नेह का सिंचन पाकर उभर आया। मैं अपने हृदय के स्पन्दन को छिपा न सकी। वाणी मौन धारण किये थी, परन्तु आँखों ने हृदय निकाल कर सामने रख दिया। कई रातों बाद, मालूम नहीं कब, मैं सतीश के घुटने पर सिर रख कर सो गई। पूरी रात भी न बीती थी, प्रातः चार बजे के लगभग आँख खुली तो देखा सतीश उसी तरह बैठे हैं मुझे जगा देख कर बोले—"अब तबीयत कैसी है?"

—"अच्छी है, तुम रात-भर क्या ऐसे ही बैठे रहे? ज़रा लेटे भी नहीं?"

—"मेरी चिन्ता न करो, दिन में सो लूँगा, मुझे तो रात तुम्हारी दशा से बड़ी चिन्ता हो गई थी।"

—"हाँ, रात तकलीफ ज्यादा थी, अब तो तुम्हारी दया से तकलीफ बहुत कम है।"

—"नहीं माधवी, दया तो तुम्हारी ही है।"

—"उलटी बात!"

वह कुछ बोले नहीं, मेरी ओर देख कर ज़रा मुस्करा दिये। न-मालूम उस दृष्टि में कैसा आकर्षण था, मेरा मन जाने कैसा होने लगा। लज्जा से मेरे सारे शरीर में रोमांच हो आया। पहले तो कभी ऐसी लज्जा न हुई थी! मैंने अपनी आँखें तकिये में छुपा लीं।

❀ ❀ ❀

उस दिन से हम दोनों में कुछ नवीनता आ गई थी। अपने से अधिक मैं सतीश में परिवर्तन देखती। अब उन्हें मेरे साथ बैठ कर गप-शप करना शायद पुस्तकों से अधिक रुचने लगा था। मैं स्वस्थ हो गई, फिर भी मेरी बीमारी का बहाना ले, वे कालेज न जाते। मुझे भी उनके पास बने रहने में बड़ी प्रसन्नता होती। पर दो ही चार दिन के अनुभव से मैं यह अच्छी तरह समझ गई कि अगर हम लोगों का यही ढंग बना रहा, तो पढ़ाई-लिखाई सब खतम हो जायगी। मैं मन में सोचने लगी--बहन जी देखेंगी तो क्या कहेंगी ? प्रेम का अर्थ तो यह नहीं है कि मनुष्य अपने आदर्श से गिर जाय। जीवन के प्रत्येक कार्य में संयम और साधना की आवश्यकता होती है। जिसमें शान्ति और धैर्य का अभाव है, वह अपनी मर्यादा का पालन कदापि नहीं कर सकता। प्रेम मर्यादा का परिपालक है, संहारक नहीं। मैंने निश्चय कर लिया कि जब तक विवाह न हो, हम लोग उसी तरह रहेंगे, जैसे अब तक थे।

[३]

एक दिन सन्ध्या के समय सतीश के कमरे की सफ़ाई हो रही थी। रद्दी छाँटने में मुझे किसी परम सुन्दरी तरुणी का चित्र मिला, जिसे देख कर मैं एकाएक चौंक-सी पड़ी। सतीश के पास यह चित्र किसका हो सकता है ! उन्हें तो चित्र एकत्रित करने का व्यसन भी नहीं दीखता। कमरे में महात्मा गांधी, तिलक आदि के दो-एक चित्रों के सिवा कोई न था। जितना ही सोचने लगी, उतना ही अधिक मन चंचल होने लगा। एक बारगी विचार उठा, हो सकता है कि किसी ने अपनी कन्या का विवाह-सम्बन्ध स्थिर करने की इच्छा से यह चित्र भेजा हो। सतीश ने इस अनुपम सौन्दर्य की रूपराशि को क्यों ठुकरा दिया ? ऐसा रूप विरले ही को प्राप्त होता है। मेरा मन कहने लगा—"शुद्ध प्रेम के आगे रूप कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखता।" मेरे मन में आनन्द की लहरें

बहने लगीं, ओठों पर मुस्कराहट आ गई। इस तरुणी का परिचय जानने को मन उत्सुक हो उठा। मैं उस पत्र को खोल कर पढ़ने लगी। बनारस से किसी ने लिखा था—

"प्रियतम,

बड़ी लम्बी प्रतीक्षा के बाद तुम्हारा प्रिय पत्र मिला। पत्र देर से लिखने का कारण तुमने लिखा है—'तुमने अपना चित्र क्यों नहीं भेजा?' लो, अब भेज रही हूँ, अबतो ऐसी घोर प्रतीक्षा कराकर दुखी न करोगे?

उफ़! तुम बड़े निर्दयी हो, मेरे हृदय की व्यथा क्या समझोगे? एक तो बहुत दिनों से दर्शनों से वंचित रख रहे हो और उसपर जल्दी चिट्ठी न लिखकर दूना दुख बढ़ा देते हो। जाओ, आज मैं भी और कुछ न लिखूँगी।

तुम्हारी—सरोज।"

पत्र पढ़ कर मेरा सर चकरा गया, मैं वहीं ज़मीनपर बैठ गई। यह क्या, सतीश के पास ऐसा पत्र क्यों? कोई इनके पते से मँगाता, तो कम-से-कम लिफाफेपर उसका नाम तो होता। फिर अपना ऐसा गोपनीय पत्र क्यों किसी के पास छोड़ देता? कुछ बुद्धि काम नहीं देती, हो न हो, इसमें कुछ रहस्य है। मैं अपने भाग्य और भगवान को कोसने लगी। सतीश के प्रति अनेक प्रकार के कुविचार मेरे मस्तिष्क में उठने लगे।

परन्तु फिर सोचने लगी, उनके चरित्र पर सन्देह करके मैं अनुचित कर रही हूँ। उनके आचरण में कदापि कोई त्रुटि नहीं हो सकती। ऐसे देवता-तुल्य पुरुष के लिये सन्देह का अंकुरित होना उचित नहीं है। मैं व्यर्थ ही चिन्ता में पड़ी हूँ, क्यों न अभी चलकर उनसे पूछ लूँ! उनसे दुराव कैसा? परन्तु दूसरे ही क्षण फिर वही भाव उत्पन्न होने लगे। इस दुविधा में पड़कर मन बहुत ही खिन्न हो गया, कोई भयंकर

ज्वाला मेरे हृदय को जलाने लगी। बुद्धि कहती, सन्देह के प्रत्यक्ष प्रमाण सामने हैं; पर हृदय अपने दृढ़ विश्वास पर अटल था। सतीश, मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रही हूँ। कैसे मान लूँ कि तुम्हारा प्रेम शुद्ध प्रेम नहीं। विश्वासघात है? कदापि नहीं। मेरे साथ तुमने तो कभी कोई कठोर व्यवहार नहीं किया।

मैं जानती हूँ, कितने दिनों से तुम मुझे चाहते हो; फिर भी जब तक मैंने अवसर नहीं दिया, कुछ भी प्रकट होने न दिया। इन्हीं विचारों में डूबते-उतराते रात बीत गई, मैं निश्चय न कर सकी कि सतीश से कुछ पूछूँ या नहीं।

कई पत्र और मेरे हाथ लगे। अब सन्देह के यथेष्ट प्रमाण एकत्रित थे, फिर भी सतीश से पूछने का साहस न हुआ। मेरी सारी प्रसन्नता लोप हो गई। उदासी छिपाने की बहुत कोशिश करती, पर छिपा न सकती। सतीश अवसर मिलते ही पूछते—"माधवी, तुम्हें हो क्या गया है? किस चिन्ता में डूबी रहती हो? मुझसे तो कुछ अपराध नहीं हो गया? बात ही नहीं करती हो, जैसे मेरी सूरत से डरने लगी हो। मुझसे तुम्हारा यह उदास चेहरा देखा नहीं जाता।"

मैं उलटा सीधा उत्तर देकर भाग खड़ी होती। वह बात करने की ताक में रहते, मैं मौका मिलने ही न देती।

[४]

रात में, दो बजे के लगभग, आँख खुल गई। देखा, सतीश दोनों हाथ मेरी चारपाई पर रखे ज़मीन पर बैठे हैं। वे आँखों में आँसू भरे एक-टक मेरी ओर देख रहे हैं इधर कई दिनों से मेरा उनसे साक्षात न हुआ था, इतने ही दिनों में कितना अन्तर हो गया! निशीथ रात्रि में, बत्ती के उस कृत्रिम धुँधले प्रकाश में, मैंने उनका फीका-ज़र्द चेहरा देखा;

देखकर मेरे हृदय में बड़ा-भारी आघात लगा। मैं मन्त्र-मुग्ध-सी उनकी ओर निहारती रही, दोनों में से कोई कुछ बोल न सका। मैं चारपाई से नीचे उतरकर खामोश खड़ी हो गई।

सतीश ने मेरा हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचने की विफल चेष्टा की। उनके इस व्यवहार से मुझे क्रोध आ गया। जो भाव क्षण-भर पहले जाग्रत हुये थे' न-जाने वे कहाँ लोप हो गये। हाथ छुड़ाते हुये मैंने कहा—"आधी रात में, चोरों की तरह मेरे कमरे में आते तुम्हें लज्जा नहीं आई। अपने हृदय से तो पूछो—तुम कहाँ हो!"

—"माधवी, मैं कहाँ हूँ और कहाँ था, मुझे कुछ नहीं मालूम। मैं तो तुम्हीं से पूछने आया हूँ। बताओ, मैं कहाँ हूँ? बताओ, मेरे किस अपराध का तुम दंड दे रही हो—क्या तुम सचमुच मुझसे घृणा करने लगी हो।"

—"हाँ।"

"हाँ!—किसलिये? अपने मुँह से कारण बता दो। फिर मैं कभी अपना मुँह न दिखाऊँगा।"

—"अभी उसका समय नहीं आया, अभी मैं कुछ नहीं कह सकती, कृपाकर आप अभी लौट जाइये।"

सतीश गहरी सांस लेकर धीरे-धीरे कमरे से निकल गये। क्रोध और इस [illegible] कि पास ही बहन जी का कमरा है, कहीं आ न जायें, सतीश [illegible] मैंने कह दिये; पर क्षण-भर बाद ही मेरा हृदय व्यथित [illegible] अपना व्यवहार कठोर और रूखा जान पड़ा। सब जान [illegible] अविश्वास करने को मन नहीं चाहता। उनकी यह दशा [illegible] कैसे जानूँ कि उनके मन में क्या है। उनकी आँखों में [illegible] व्यथा के। कुछ हो, मुझे ऐसा दुतकारना न

चाहिये था। मेरा मन भी पाषाण से कम कठोर नहीं है। मैं सीधे बोली तक नहीं!

किसी प्रकार रोते-कलपते सो गई। सुबह कुछ मधुर स्वप्न देखते आँख खुली। चित्त कुछ प्रसन्न जान पड़ा, पैर आप-ही-आप सतीश के कमरे की ओर चलने लगे। बरॉडे ही में रुक गई, देखा सतीश मोटर पर बैठे जाने को तैयार हैं। मेरा दिल जोर-जोर से धड़कने लगा—कहाँ जा रहे हैं?'—मैं सोचती ही रही, मोटर सर-से चली गई। मैं अपना हृदय थामकर वहीं बैठ गई।

[५]

कदाचित् सतीश मुझसे निराश और असन्तुष्ट होकर बिना कुछ कहे बाराबंकी चले गये। मैं अभागी इस सोच-विचार ही में रही क्या करूँ, पहले पत्र में सब बातें लिखूँ या बाराबंकी जाऊँ? पर उन्हें भी तो पत्र लिखना चाहिये था। सम्भव है, वह समझ गये हों कि उनकी भीतरी बातें मैं सब समझ गई हूँ। ओह! इसीलिये मुँह छिपा कर चल दिये। इसी उधेड़बुन में छुट्टियाँ बीत गईं, मैं मैट्रिक में उत्तीर्ण हो गई! उसके बाद भाई साहब की सलाह से मैं बनारस बसन्त-आश्रम का प्रबन्ध करने लगी।

भाई साहब ने सतीश को लिखा कि मैं बनारस जा रही हूँ, फिर भी वह नहीं आये; लिख दिया—"यहाँ गांवों में बीमारी फैल रही है। नाववालों की दशा अत्यन्त दयनीय है, मैं यथाशक्ति उनकी सेवा में लगा हुआ हूँ।...इस वर्ष कालेज जॉइन करने का विचार नहीं है।"

मैं अपने सम्पूर्ण व्यथा का भार सँभाले, एक बार उन्हें आँख-भर देखने को तरसती-सी बनारस चल पड़ी।

बनारस में सरोज से भेंट हुई। घर शहर से बहुत दूर होने के कारण वह होस्टल ही में रहती थी। मालूम नहीं, दुर्भाग्य से या सौभाग्य से

उसके कमरे के पास ही मुझे भी स्थान मिला। फिर भी मैं उससे दूर रहने की कोशिश करने लगी। मैं उसके सरल स्वभाव पर तो मुग्ध थी; पर ऐसी उदारता मुझमें कहाँ थी कि मैं उससे मित्रता का व्यवहार करती। पर शायद, मनुष्य जिस ओर से उदासीन रहने की चेष्टा करता है, उसी ओर उसका मन ज्यादा आकर्षित होता है। मेरे लाख उदासीन रहने पर भी सरोज ने मुझे बिना अपना मित्र बनाये नहीं छोड़ा। मैं चाहती तो सरोज के हृदय की सारी बातें जान लेती, पर मैंने कभी कोशिश नहीं की। इसलिये कि कहीं उसे सन्देह हो गया तो बेचारी को बहुत क्लेश होगा।

* * *

किसी प्रकार बनारस में भी तीन-चार महीने बीत गये। इधर कुछ दिनों से सरोज भी उदास रहती थी। जिस चेहरे पर हँसी हर समय नृत्य करता रहती, वह अब मुरझाया दीखता था। कुछ दिनों में ऐसा अन्तर हो गया कि जो देखता यही प्रश्न करता, 'सरोज, तुम्हें कोई रोग तो नहीं हो गया?'

सरोज--'कुछ तो नहीं'—कह कर चुप हो जाती। अब मैं अपने को रोक न सकी। मैंने सरोज से पूछा—"सरोज, तुम इतनी उदास क्यों रहती हो? अपने मन की बात मुझसे कहोगी?"

—"क्यों नहीं कहूँगी बहन, मैं तो स्वयं ही तुमसे सलाह लेने का विचार कर रही थी। शायद मेरी चिन्ता मिटाने का तुम कुछ उपाय बता सको।"

—"बोलो, क्या बात है?"

"पर तुम मेरी निर्लज्जता पर हँसना मत।"—उसने धीरे से कहा—"मैं अपना हृदय किसी को भेंट कर चुकी हूँ।"

आगे जो कुछ सुनना है, वह मानों मेरे कानों में गूँजने लगा। रोकने की कोशिश करने पर भी शरीर में कँपकँपी आ गई। मुँह दूसरी ओर फेर कर मैंने कहा—"अच्छा, यह बात है। वह भाग्यशाली कौन हैं, मैं भी तो सुनूँ!"

—"पहले मेरी चिन्ता का कारण सुनो।"

—"कहो।"

—"एक माह के लगभग हुआ, कितने पत्र लिख चुकी, उत्तर ही नहीं आता।"

—"किसी कार्यवश न लिख सके होंगे।"

—"ऐसा क्या काम हो सकता है! मुझे पत्र-व्यवहार करते एक वर्ष से ज्यादा हो गया, अब तक कभी ऐसा नहीं हुआ। एक बार मेरे चार-पाँच पत्र बीच ही में खो गये, उन तक पहुँचे ही नहीं; तब वे बनारस मेरे पास आये थे।"

मैं सोचने लगी, सतीश बाराबंकी से यहाँ आये होंगे; पर मैं अपना भाव छिपा कर बोली—"अच्छा! यहां तक नौबत पहुँच चुकी है! तब तो सरोज तुम दोनों के घर वालों को भी मालूम हो गया होगा। किसी और के मारफत पत्र लिख कर समाचार मँगा लो।"

—"नहीं बहन, आज तुमसे यह बात कही है, और किसी को कुछ नहीं मालूम।"

—"तुम चोरी से पत्र-व्यवहार कैसे करती हो, किसी को मालूम हो जाय तो?"

"मेरे घर वाले कुछ न कहेंगे, वे मेरे बचपन के मित्र भी तो हैं। हाँ, वे अवश्य अपने घर वालों से छिपा कर पत्र भेजते हैं। पहले अपने एक मित्र के पते से पत्र मँगवाते थे, जब से मेरे पत्र खो गये, तब से

घर ही के पते से मँगवाते हैं; पर कुछ ऐसा प्रबन्ध कर रखा है जो किसी को मालूम न हो।"

—"तो ऐसा षडयन्त्र रचने की ज़रूरत ही क्या है? अब विवाह ही क्यों नहीं कर लेती?"

—"उसमें एक कारण है, उनके माता-पिता दूसरी जाति में विवाह करने को सहमत न होंगे, इसलिये उन्होंने मुझसे प्रतीक्षा करते रहने को कहा है। पढ़ाई समाप्त कर, जब वे घरवालों के अधीन न रहकर कुछ पैदा करने लगजायँ तो घरवालों की अनिच्छा होने पर भी विवाह कर सकते हैं। और दूसरा उपाय ही क्या है? देखना बहन, किसी से इस विषय में कुछ कहना नहीं।"

—"तुम्हारी उनसे मित्रता किस तरह हुई?"

—"मेरे मकान के पास ही उनके नाना का मकान है। वहीं वह आते हैं। बचपन ही से एक दूसरे के प्रति स्नेह था, प्रेम था। धीरे-धीरे उस प्रेम ने यह रूप धारण किया है।"

अब मुझे सन्देह हुआ। क्या रहस्य है? अब की तो सतीश ने बी०ए० होने पर कालेज में पढ़ना ही छोड़ दिया। उनका यहाँ कोई सम्बन्धी भी नहीं। जब से बनारस कालेज छोड़ा, फिर शायद कभी बनारस आये भी नहीं। मेरे मुँह से निकल गया—"हाँ! तुम तो सारी रामायण बांच गईं; पर यह न बतलाया कि राम कौन हैं? ज़रा नाम तो बताओ। जब वह लखनऊ में ही रहते हैं तो उनका समाचार मँगा लेना मेरे लिये कठिन नहीं है।"

"उनका नाम?···" कह कर सरोज कुछ देर तक अन्य-मनस्क-सी रही, बोली नहीं। फिर उसने काँपते हुये हाथ से अपने हृदय के पास से एक छोटी-सी तसवीर निकाली—उसके नीचे अंगरेज़ी में लिखा था—'रामकिशोर गुप्त'।

सारा रहस्य मेरी समझ में आ गया। उन्हें मैं जानती थी, वह सतीश के घनिष्ट मित्र थे।

अब तक शायद मुझे उस ढीठ सन्देह ने ही स्वस्थ बना रक्खा था। उसके हटते ही मेरी देह आश्रयहीन लता की तरह सरोज से लिपट गई। जब चेतना आई तो मैंने देखा, सरोज को मेरी इस दशा से बड़ा आश्चर्य हुआ है! वह ज़ोर से मुझे हिलाते हुये बोली—"माधवी, तुम्हें हो क्या गया? क्या तुम उनको जानती हो, जल्दी बताओ, तुमने उनके बारे में कुछ सुना है?"

सरोज के चेहरे पर किसी अशुभ आशंका की रेखा-सी दौड़ गई। मैंने कहा "चिन्ता की कोई बात नहीं। मैं सच कहती हूँ,—एक गिलास पानी दो, मुझे प्यास लगी है। तुम्हारे खोये हुये पत्र, तुम्हारा खोया हुआ प्रेम, सब तुम्हें मिल जायगा।"

सरोज आश्चर्य-चकित होकर मेरा मुँह निहारने लगी। मैं सोचने लगी---अपने प्रेमी के लिये क्या सब के मन में सन्देह ही उत्पन्न होता है!

धीरे-धीरे मैंने अपने प्रेम और उसके पत्रों की आद्योपान्त सारी कहानी कह डाली।

दूसरे दिन मैं बनारस छोड़ कर बाराबंकी को चल पड़ी।

[६]

जिस समय मैं सतीश के घर पहुँची, गोधूलि का समय था। सतीश अपनी फुलवारी में एक लता-मंडप के पास बैठे गाय के बच्चे से खेल रहे थे। धीरे-धीरे मैं सतीश के पास जा खड़ी हुई। अचानक उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी।

—"कौन, माधवी !"

उत्तर देने का तब मुझ में साहस कहाँ था ! मेरी तो राह भर वह दशा रही, जो किसी परीक्षार्थी की परीक्षा के लिये जाते समय होती है। उनके पास तक पहुँच गई, यही कौन कम साहस का काम था !

मैं उनके पैरों से लिपट गई। हम दोनों के हृदय बड़ी देर तक रोते रहे। हृदयावेग कुछ घटने पर, बहुत देर बाद, रूमाल से मेरे आँसू पोछते हुये उन्होंने काँपते हुये स्वर में कहा—"माधवी, इन आँसुओं से मुझे अधीर मत करो। किसलिये इतने दिनों तक तुम मुझसे रूठी रहीं, मैं अब तक न समझ सका। फिर भी, मै निश्चित जानता था कि एक-न-एक दिन मेरी आराध्य देवी प्रसन्न होगी ही, वह दिन दूर नहीं है। उस दिन, रात की घटना के बाद तुम्हें छेड़ने का साहस न हुआ, इसी से पत्र भी न लिख सका। दूर ही से मैं अपनी आराध्य देवी को प्रेमार्घ्य देकर अपने व्यथित हृदय को सन्तोष देता था।

माधवी, उस दिन की घटना ने स्वयं मुझे अपनी दृष्टि में गिरा दिया। अब मैं समझ पाया हूँ कि मैं कहाँ था और कहाँ हूँ।"

मैंने अपनी आत्म-कथा सुनाकर उनसे क्षमा माँगी। दोनों उलझे हुये हृदय सुलझकर एक हो गये।

लखनऊ पहुँचकर जो-कुछ सुना, उससे मुझे दुःख और चिन्ता हुई। रामकिशोर के माता-पिता को किसी तरह इस गुप्त प्रेम का रहस्य मालूम हो गया। पुत्र के यह इच्छा प्रकट करने पर कि मैं सरोज से विवाह करूँगा, माता-पिता के क्रोध का पारवार न रहा।

रामकिशोर को माता-पिता ने बहुत समझाया, डांटा-फटकारा और अन्त में पिता ने सम्पत्ति से वंचित करने की भी धमकी दी; पर उसका कोई असर नहीं हुआ। अन्त में पिता को एक दिन कहना ही पड़ा—"मेरे घर से निकल जाओ मैं तेरे लिये समाज में सर नीचा नहीं कर

सकता।" पर माता ने रो-रोकर जमीन-आसमान एक कर दिया। पिता के क्रोध और माता के रुदन के सामने रामकिशोर की 'समाज-क्रान्ति' काफूर की तरह उड़ गई।

सतीश ने रामकिशोर से कहा—"एक निर्दोष बालिका का जीवन नष्ट करते तुम्हें लज्ज नहीं आती? पिता घर से निकालते हैं, तो घर छोड़ दो—चाहे भीख ही माँगनी पड़े। कर्तव्य से विचलित न हो। तुम्हारा हृदय ऐसा ही भीरु था, तो क्या समझकर, प्रेम की दुहाई देकर, सरोज को धोखे में डाला?— अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। साहस से काम लो।—मैं यथाशक्ति तुम्हारी सहायता करने को तैयार हूँ।"

रामकिशोर के पिता को सहमत करने के लिये भाई साहब तथा अन्य सुधारकगण भी इस कार्य में शामिल हो गये। सरोज के पिता को भी यहाँ की स्थिति का समाचार भेज दिया गया।

रामकिशोर दूसरों का सहारा पाकर वीरता से कर्तव्य-युद्ध में अग्र-सर हुये, किन्तु पिता के सामने जाने का साहस न हुआ। जब तक कुछ परिणाम न निकले, उन्होंने हमारे ही घर रहने का निश्चय किया।

मैं यह सोचती ही रही कि सरोज को क्या लिखूँ, इस बीच में उसका पत्र मिला। उसमें लिखा था—

"प्यारी बहन माधवी,

मैं जानती हूँ कि तुम मुझे पत्र क्यों न लिख सकी। मुझसे कुछ छिपा नहीं है। उनके पिता ने मेरे पिता जी को पत्र लिखा उसमें मेरे लिये 'कलंकिनी' और 'वेश्या' जैसे अपवित्र शब्दों तक का प्रयोग कर डाला है। लिखा है, मैंने उनके पुत्र को बिगाड़ दिया। मैं 'अपराधिनी हूँ। लिखते हैं, 'मेरे लड़के का क्या बिगड़ा, वह तो पुरुष है। उसके हज़ार ब्याह हो जायँगे, तुम्हारी लड़की अपने किये का फल भोगेगी

बहुत, लज्जा से मरी जा रही हूँ। आज स्वयं मुझे अपने से घृणा हो रही है। मैं अपनी दशा से तुम्हारा मिलान कर रही हूँ। तुम दोनों घर में रहते हुये भी—और यह जानते हुये कि घर वाले इस विवाह से सहमत हैं—मर्यादा का पालन करते रहे और एक मैं अभागिनी!

मेरे पिता समाज-सुधारकों की श्रेणी में हैं। वह सदा यही बात कहा करते थे कि 'मैं सरोज को विवाह के विषय में पूरी स्वतन्त्रता दूँगा पर आज वे ही मेरे इस गुप्त पत्र-व्यवहार का रहस्य जानकर अत्यन्त अप्रसन्न हैं। और माता जी का तो कहना ही क्या, बहुत ही क्रुद्ध और दुःखित हैं। मुझसे कहती हैं—मैं तुझे ऐसी मूर्ख न समझी थी। हमारे कुल में कलंक लगाने में तूने कुछ न उठा रखा। अगर यह ब्याह न हुआ, तो बड़ी बदनामी होगी। वे कहती हैं—मैं मानती हूँ कि लड़के-लड़कियों को अपने विवाह में पूर्ण अधिकार है, पर यह विलायत नहीं, हिन्दुस्तान है। उन्हें दुःख है कि आजकल पश्चिमीय सभ्यता में रंगकर हमारे देश के युवक-युवतियाँ समझने लगे हैं कि माता-पिता को उनके बीच में बोलने का कुछ अधिकार ही नहीं। उन्होंने यहाँ तक कहा कि आजकल के लड़के-लड़कियाँ यौवन की चंचलता को प्रेम समझकर अपना सारा जीवन नष्ट कर डालती हैं। भगवान ही इनकी रक्षा करें।

बहन, मैंने सिर नीचा करके सब कुछ सुना। ठीक है। मैं पहले ही से उनको अपना विचार बता देती, तो मेरा यह प्रेम आज 'कलंक' तो न कहा जाता। पिता जी अवश्य ही कोई युक्ति निकालकर कार्य को सुगमता से सिद्ध कर लेते; पर अब मारे ग्लानि के मेरा हृदय फटा जा रहा है। मन यह चाहता है कि जब वे मेरे प्रेम को ठुकरा कर समाज और सम्पत्ति के आगे कायर बन गये, तो मैं कायरता को अपनाकर आत्म-हत्या कर लूँ। सुना है, तुम दोनों कोशिश कर रहे हो। जो चाहो, करो। अब विवाह मर्यादा के लिये करना है। अब वे खोये

.र सुखद स्वप्न, भूली हुई मधुर अभिलाषाएँ कहाँ मिलेंगी, बहन ! मेरी जिस हँसी पर तुम मुग्ध थीं, मेरी वह हँसी शायद हमेशा के लिये खो गई ' क्या जीवन-भर ढूँढ़े न मिलेगी।

पत्र तो दोगी ही।

तुम्हारी अभागिनी—

सरोज।"

[८]

मेरा और सरोज का विवाह एक ही दिन—समाज के व्यर्थ रीति-रवाजों को दूर कर—हो गया। सरोज की सरलता पर ईश्वर को भी करुणा आ गई, जो बिगड़ कर भी यह कार्य बन गया। रामकिशोर के पिता को जब मालूम हुआ कि रामकिशोर उनकी आज्ञा का उल्लंघन सिविल-मैरिज करने को तैयार है, तब उन्होंने, न-जाने क्या समझ सम्मति दे दी।

माता जी बहू का मुँह देखकर सारा दुःख-सन्ताप भूल गईं। समाज लीला ही विचित्र है। बड़े आदमी को कौन समाज से बहिष्कार ने का साहस करे!

विवाह हुये सप्ताह भी न बीत पाया था कि बनारस के लिये बिस्तर बाँधने पड़े। परीक्षा के दिन निकट आ रहे थे, छुट्टी में और ज्यादा गुँजाइश न थी।

रामकिशोर तो स्टेशन से ही लौट गये; पर सतीश को तो इस वर्ष ों से छुट्टी मिल गई थी, वे मेरे साथ बनारस तक पहुँचाने गये। ज खिड़की से बाहर मुँह किये, चुपके-चुपके वियोग के आँसू बहा थी। मैंने उसे छेड़ा—"बता, अब तो रामकिशोर से रूठी ही है?"

उसने गर्दन हिलाकर संकेत किया—"नहीं।"

"तू तो कहती थी कि जीवन-भर अब मुँहपर हँसी ही न आयेगी अब तो खोई चीज़ मिल गई?"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ी, मुझे भी हँसी आ गई।

समाप्त